विचार दृष्टि

1857

1857
जंगे आजादी विशेषांक

वर्ष : 9 | अंक : 33 | अक्टूबर-दिसंबर 2007 | 25 रुपये

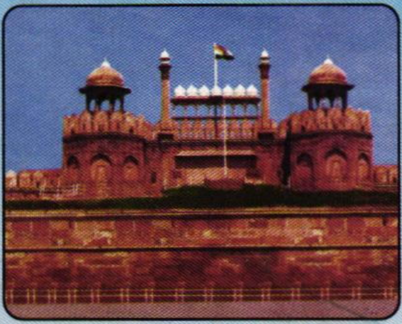

लौह पुरुष सरदार पटेल की 132वीं जयंती पर
हमारी शुभकामनाएँ

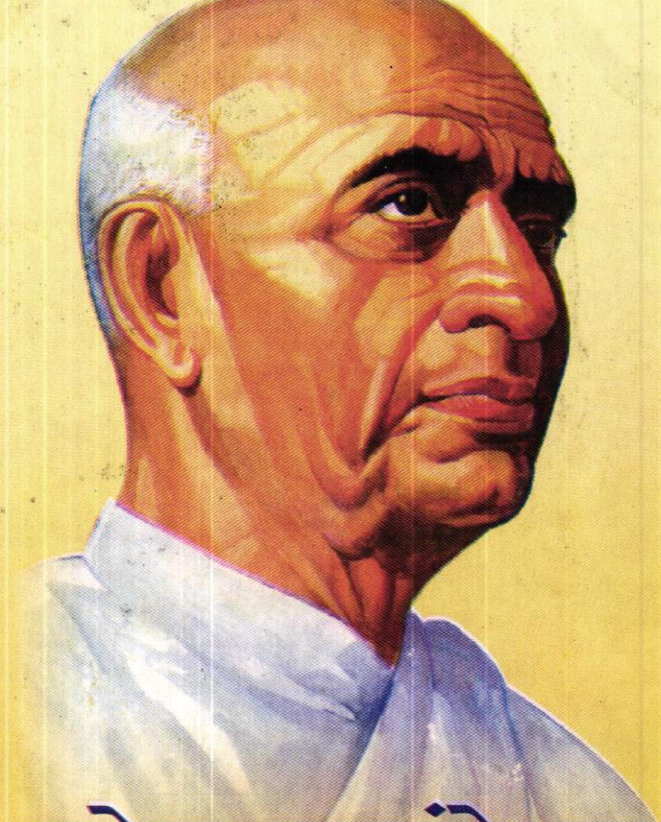

पटेल फाउंडेशन
(सरदार पटेल के विचारों के प्रति समर्पित)

संस्था का ध्येय है -

- सरदार पटेल के विचारों को जन-जन तक पहुँचाना
- राष्ट्रीय एकता व अखंडता को अक्षुण्ण बनाए रखना
- सामाजिक समरसता कायम करना
- सांप्रदायिक सद्भाव का वातावरण बनाना
- पाखंड, अंधविश्वास और रूढ़िवादी प्रवृत्तियों से परहेज करना

तो आइए, आप भी इस अभियान का एक हिस्सा बन इसे अपेक्षित सहयोग प्रदान करें।

147, अंसल चैंबर-II, भीकाजी कामा प्लेस, नई दिल्ली

फोन : 30926763 • मो. : 9891491661

विचार दृष्टि

(राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक त्रैमासिकी)

वर्ष- 9 अक्टूबर-दिसंबर, 2007 अंक- 33

संपादक-प्रकाशक **: सिद्धेश्वर**

सं. सलाहकार **: गिरीश चंद्र श्रीवास्तव**

प्रबंध संपादक **: सुधीर रंजन**

उप संपादक **: डॉ॰ शाहिद जमील**

सहायक संपादक **: उदय कुमार 'राज'**

विपणन प्रबंधक **: सतेन्द्र सिंह**

वित्तीय प्रबंधक **: अरविंद कुमार**

आवरण साज-सज्जा **: संजय कुमार**

आवरण **: 1857 जंगे आजादी**

शब्द संयोजन **: गंगा-यमुना प्रकाशन,**
आवास सं॰ सी॰/6, पथ सं॰ 5, आर॰ ब्लॉक, पटना-800001

संपादकीय-प्रकाशकीय कार्यालय

'दृष्टि', 6 विचार विहार, यू॰-207, शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली-92
: (011) 22530652 / 22059410
मोबाईल : 9811281443 / 9811310733
फैक्स : (011) 52487975
E-mail: vichardrishti@hotmail.com
'बसेरा', पुरन्दरपुर, पटना-800001
: : 0612-2228519

पटना कार्यालय

आवास सं॰ सी॰/6, पथ सं॰ 5, आर॰ ब्लॉक, पटना-800001 : : 0612-2226905

ब्यूरो प्रमुख

नागपुर : मनोज कुमार : 2553701
कोलकाता : जितेन्द्र धीर : 24692624
चेन्नई : डॉ॰ मधु धवन : 26262778
तिरूवनंतपुरम : डॉ॰ एन॰ चंद्रशेखरण नायर
बैंगलूर : पी॰एस॰चन्द्रशेखर : 26568867
हैदराबाद : डॉ॰ ऋषभदेव शर्मा : 23391190
जयपुर : डॉ॰ सत्येंद्र चतुर्वेदी : 2225676
अहमदाबाद : रमेश चंद्र शर्मा 'चंद्र'

प्रतिनिधि

लखनऊ : प्रो. पारसनाथ श्रीवास्तव,
सतना : डॉ. राम सिया सिंह पटेल
देहरादून : डॉ. राज नारायण राय
हैदराबाद : श्री चंद्रमौलेश्वर प्रसाद
एरणाकुलम : डॉ॰ पी॰ राधिका

मुद्रक : प्रोलिफिक इनकारपोरेटेड एक्स-47, ओखला इंडस्ट्रीयल एरिया, फेज-2, नई दिल्ली-20

मूल्य एक प्रति	:	25 रुपये
वार्षिक	:	100 रुपये
द्विवार्षिक	:	200 रुपये
आजीवन सदस्य	:	1000 रुपये
विदेश में एक प्रति	:	US $ 05
वार्षिक	:	US $ 20
आजीवन	:	US $ 250

एक में रचना और रचनाकार

पाठकीय पन्ना 02
संपादकीय 04
विचार प्रवाह :
राष्ट्र और राष्ट्रभक्त – देवेन्द्र कुमार 'देव' 08
साहित्य :
नये फिरंगी – विमल कुमार 13
आतंकवादी की माँ – शुक्ला चौधरी 20
समीक्षा :
सागर संध्या का शिल्प और संदेश
– बंसीधर सिंह 21
जब शब्द बने समिधा
– डॉ. रमाशंकर श्रीवास्तव 23
अनुत्तरित प्रश्न – पुष्पा जमुआर 24
'और कुछ' के लिए दो शब्द
– डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह 25
स्वतंत्रता संग्राम :
स्वतंत्रता संग्राम और हिंदी साहित्य
– प्रो. लखन लाल सिंह 'आरोही' 26
स्वतंत्रता संग्राम में आलिमों का योगदान
– सलीम सुहर वर्दी 27
1857 जंगे आजादी :
सिपाही विद्रोह या स्वाधीनता संग्राम
– डॉ. वरुण कुमार तिवारी 28
लोकगीतों में 1857 – सिद्धेश्वर 30
भारतीय पुरूषार्थ का प्रतीक 1857 33
1857 और पीर अली – अफजल इंजी. 34
1857 राजस्थानी लोकगीतों में
– राज चतुर्वेदी 36
1857 का वीर कुंवर सिंह
– प्रो. साधुशरण 38
भगत सिंह : पेन से पिस्तौल तक
– ओमप्रकाश मंजुल 42
1857 की स्मृति का अर्थ
– सीताराम येचुरी 44
नाटक और रंगमंच में 1857
– देवेन्द्र राज अंकुर 46
1857 की विरासत – शिवकुमार मिश्र 48
1857 और बुद्धिजीवी समुदाय
– डॉ. शाहिद जमील 52
1857 में पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका
– डॉ. धर्मेंद्र नाथ 'अमन' 55
लोक चेतना में 1857
– खगेन्द्र ठाकुर 58
1857 की चिंगारी – सिद्धेश्वर 60
1857 : साझी शहादत की मिसाल
– सिद्धेश्वर 63
आधी आबादी :
जंगे आजादी की वीरांगनाएँ
– डॉ. आरती श्रीवास्तव 66
खूब लड़ी मर्दानी ... – सिद्धेश्वर 71
आजादी के 60 साल :
स्वाधीनता के साठ साल
– उदय कुमार 'राज' 73
हम आज भी गुलाम हैं
– डॉ. हितेश कुमार शर्मा 76
तुष्टिकरण का परिणाम
– डॉ. हितेश कुमार शर्मा 78
शख्सियत :
लौहपुरुष सरदार पटेल
– डॉ. मधु धवन 80
8वाँ विश्व हिंदी सम्मेलन :
राष्ट्रभाषा हिंदी और हमारी अमेरीकी यात्रा
– सिद्धेश्वर 83
हिंदी में बालसाहित्य
– डॉ. हरिकृष्ण देवसरे 89
विदेश में हिंदी की लोकप्रियता
– डॉ. निर्मला एस मौर्य 92
विदेशों में हिंदी की भाषिक स्थिति
– कृष्ण किशोर 94
वैश्वीकरण, मीडिया और हिंदी
– सिद्धेश्वर 99
यात्रा वृतांत :
मेवाड़ की शौर्य भूमि ....
– सिद्धेश्वर 103
गतिविधियाँ :
साधारण से असाधरण तक का सफर
– प्रो. पी.के. झा 'प्रेम' 106
हिंदी की सं.रा. की भाषा बनने की संभावना
– डॉ. शाहिद जमील 107
'एक स्वप्नद्रष्टा की अंतर्कथा' का लोकापर्ण
– श्री शिव कुमार 108
पटना में शिक्षक दिवस समारोह 109
दादा दिवस समारोह 109
श्रद्धांजलि :
देवेन्द्र कुमार कर्णावट 110
सुरेन्द्र मोहन कंसल 110
साभार स्वीकार 111

1857 जंगे आजादी | आधी अबादी | आजादी के साठ साल | शख्सियत | विश्व हिंदी सम्मेलन | श्रद्धांजलि | श्रद्धांजलि

पत्रिका-परामर्शी

❑ श्री यू.सी. अग्रवाल ❑ पद्मश्री डॉ.श्यामसिंह 'शशि' ❑ प्रो॰ राम बुझावन सिंह ❑ प्रो. धर्मेंद्र नाथ 'अमन' ❑ श्री जियालाल आर्य ❑ डॉ॰ बाल शौरि रेड्डी ❑ डॉ॰ महेन्द्र भटनागर ❑ डॉ॰ एल॰एन॰ शर्मा

पत्रिका-परिवार के सभी सदस्य अवैतनिक हैं रचनाकारों के विचारों से पत्रिका-परिवार का सहमत होना आवश्यक नहीं।

प्रिय पाठको! प्रकाशित रचनाओं तथा अंक के प्रस्तुति पक्ष पर आपकी प्रतिक्रिया, पत्रिका परिवार के लिए एक संबल है। हमें आपकी प्रतिक्रिया का बेसब्री से इंतज़ार रहता है। प्राप्त प्रतिक्रियाओं से हम केवल उन्हीं प्रतिक्रयाओं को शामिल कर पाते हैं, जिनमें वस्तुनिष्ठ, कृतियों से संदर्भित संक्षिप्त समीक्षा / टिप्पणी या मार्ग-दर्शक बिंदु आदि होते हैं। भ्रामक प्रशंसा और ईर्ष्या-दर्शी विचारों के प्रेषण से डाक-खर्च ज़ाया होता है।

बात तीखी और साफ

'विचार दृष्टि' का जुलाई-सितंबर 07 अंक मिला है।श्री शरण की 'न्यायांजलि' सें बात तीखी और साफ है। असर करेगी यह मोटी चमड़ीवाले गेंडों पर।

संस्मरणों में-विमल राजस्थानी और सत्यनारायण। विपरीत ध्रुवीय प्रभाव रखने वाले ये संस्मरण। एक आदमकद मूर्ति पर हथौड़ा मारता है (यद्यपि उसके सच से इनकार नहीं है) तो दूसरा एक गीत कवि की सुंदर मूर्ति स्थापित करती है।

–चन्द्रसेन 'विराट', इन्दौर

छद्म धार्मिकता पर प्रहार

'विचार दृष्टि' के जुलाई-सितंबर 07 अंक छद्म धार्मिकता पर प्रहार करते हुए आपने जो तीखे विचार संपादकीय टिप्पणी में प्रकट किए हैं उनसे मैं पूरी तरह सहमत हूँ। दुर्भाग्य से हमारी राजनीतिक व्यवस्था भी एकदम धार्मिकता से गठजोड़ किए हुए है। इस प्रवृत्ति के विरूद्ध जनमत तैयार करना है।

गीता भवन
पेरूर कटा-पो०
तिरूअनन्तपुरम-695005

दर्शन के दर्शन दुर्लभ

'विचार दृष्टि' के जुलाई-सितम्बर अंक में देश में बढ़ती धार्मिकता के साथ अवसाद और आत्महत्या की भी बात की गई है। दरअसल धर्म को आज-पुनस्कार तक सीमित करके देखा जा रहा है जबकि इसका व्यापक क्षेत्र है। रोजमर्रा के जीवन में नैतिक आचार-विचार मुख्य है। कभी भारत अपनी ईमानदारी, आस्तिकता तथा नैतिकता के लिए प्रसिद्ध था। स्वामी विवेकानंद ने बड़े गर्व से कहा था कि भारत के गाँव का आम आदमी भी । दार्शनिक प्रवृत्ति रखता है आज हमें दर्शन के दर्शन दुर्लभ हो गये हैं, नैतिकता तक अभिशाप कम नहीं है और धर्म केवल पाखण्ड तक सीमित रह गया है। आज सबसे बड़ी जरूरत है धर्म की सही परिभाषा करने की, धर्म को नैतिकता से जोड़ने की और सच्चे धार्मिक व्यक्ति का सम्मान करने की।

–चंद्रमौलेश्वर प्रसाद,
1-8-28, यशवंत भवन, अलवाल,
सिकंदराबाद-10

धार्मिकता का पर्दाफाश

'विचार दृष्टि' के 'जुलाई-सितंबर, 2007 अंक' को मैं देख-पढ़ गया। संपादकीय प्रबोधात्मक है जो हमें चिंतन-मनन की दिशा में ले जा रहा है। इसके अंदर भारतीय जीवन एवं परिवेश में व्याप्त यांत्रिक धार्मिकता का पर्दाफाश करते हुए देशवासियों को आत्मगौरव एवं राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा करने का सर्वथा सराहनीय मार्ग सुझाया गया है। राजू रंजन का लेख आज के साहित्यकार को दयित्व-बोधा कराने में सफल रहा है। डॉ. हीरालाल नंदा 'प्रभाकर' तथा दिलावर फ़ुगार की कविताएं प्रभाव छोड़ रही हैं। श्री सिद्धेश्वर कृत 'खतरे की कगार पर खड़ी क्षेत्रिय भाषाएं' नाम्नी रचना प्रभावशाली लगी। लेखक की यह मान्यता (पृष्ठ-35) मुझे प्रिय लगी कि 'भाषा संस्कृति की वाहिका ही नहीं होती, बल्कि वह संस्कृति भी होती है।'

दक्षिण भारतीय विदुषी प्राधयापिका श्रीमती सुवर्णाबाई रंजनगी (विवरण-पत्रिका, पृष्ठ-2, जनवरी-1997 अंक) की यह मान्यता निरापद है कि 'भाषा हमारी माँ है। वह संस्कृति शरीर को रचती है और उसका पोषण करती है।' यश्स्वी विचारक, शिक्षावेत्ता तथा भारत के पूर्व महामहिम राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा साहब (मंजूषा, पृष्ठ-48) की मान्यता से भाषा को वे रेशे झड़ जाते हैं, जोहमें अंदर से छू सकें। इसलिए किसी भी देश के लिए मातृभाषा और राष्ट्रभाषा का महत्व बढ़ जाता है।' 'गतिविधियाँ' शीर्षक स्तंभ के आधार पर हमें अच्छी-अच्छी जानकारियाँ मिल रही हैं।

–डॉ. महेश चंद्र शर्मा
'अभिवादन' 128-ए, श्याम पार्क (मेन),
साहिबाबाद, गाज़ियाबाद (उ.प्र.)

रचनाकारों से

1. रचना भेजने के लिए कोई शर्त नहीं है, सभी रचनाकारों का हम हार्दिक स्वागत करते हैं। उदीयमान रचनाकारों को विशेष रूप से प्रोत्साहित किए जाने का प्रयास रहेगा।
2. राष्ट्रीय भावनाओं पर आधारित तथा वैचारिक रचनाओं को प्राथमिकता दी जाएगी।
3. रचना एक तरफ / कम्प्यूटर पर कम्पोज्ड अथवा सुवाच्य स्पष्ट लिखी होनी चाहिए। प्रयास यह हो कि रचना कम्प्यूटर पर कम्पोज़ कराने के बाद उसका सी॰डी॰ कोरियर से भेजें अथवा उसे ईमेल द्वारा भेजें।
4. रचना के अंत में उसके मौलिक अप्रकाशित व अप्रसारित होने के प्रमाण पत्र के साथ रचनाकार का नाम व पूरा पता अवश्य लिखा होना चाहिए।
5. रचना के साथ पासपोर्ट / स्टाम्प आकार की श्वेत एवं श्याम तस्वीर की दो प्रतियाँ अवश्य संलग्न करें।
6. प्रकाशित रचनाएँ वापस नहीं की जातीं, कृपया उसकी प्रति अवश्य रख लें।
7. प्रकाशित रचनाओं पर फिलहाल पारिश्रमिक देने की कोई व्यवस्था नहीं है, हाँ, रचना प्रकाशित होने पर अंक की प्रति अवश्य भेजी जाएगी।
8. किसी भी विधा की गद्य रचनाएँ 1500 शब्दों अथवा दो पृष्ठों की मर्यादा में ही स्वीकार्य होंगी।
9. समीक्षार्थ पुस्तक की दो प्रतियाँ भेजना आवश्यक है।

संपादक

'दृष्टि' 6, विचार बिहार, यू-207, शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली-92
दूरभाष: (011) 22530652, 22059410
email- sidheshwar66@yahoo.com

शिक्षा के क्षेत्र में वात्स्यायन का उल्लेखनीय योगदान

विश्व बुद्ध परिषद के महासचिव राम अवतार वात्स्यायन का शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान है। बुद्धिज्म के माध्यम से शांति, संस्कृति तथा शिक्षा के उन्नयन में आस्था रखने वाले श्री वात्स्यायन ने विश्व बुद्ध परिषद की स्थापना के साथ-साथ संत एम.जी. हाई स्कूल बोरिंग रोड, मीठापुर, कमला नेहरू गर्ल्स हाई स्कूल, खगौल रोड, जे.बी.गर्ल्स हॉई स्कूल बोरिंग रोड तथा बेली रोड और सिद्धार्थ महिला महाविद्यालय एवं शिक्षण प्रशिक्षण महाविद्यालय बोरिंग रोड, पटना की स्थापना कर शिक्षा के प्रचार प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

19 जनवरी, 1939 में जन्में श्री वात्स्यायन को इनके योगदान के लिए इन्हें वर्ल्ड फैलोशिप ऑफ बुद्धिस्ट, थाईलेंड का सचिव मनोनीत किया गया है तथा आप मगध विश्वविद्यालय के सिनेट के मनोनीत सदस्य भी हैं।

–शिक्षा जगत से जुड़े पटना के नागरिक

हम आपसे ही मुख़ातिब हैं

पत्रिकाएँ और पुस्तकें ख़रीदकर पढ़ने में जितना मज़ा आता है उतना मुफ़्त में पाकर नहीं। इसलिए जब आप 'विचार दृष्टि' पत्रिका के, नमूना प्रति की माँग करें तो यह लिखना न भूलें कि आप इसकी सदस्यता ग्रहण करना चाहते हैं। पता नहीं क्यों पत्रिकाओं का सदस्य बनना अपना कर्त्तव्य नहीं, लोग उसे मुफ़्त में हासिल करना अपनी अक़लमंदी समझते हैं।

दो वर्षों तक 'राष्ट्रीय विचार पत्रिका' और बाद में भारत के समाचार पत्रों के पंजीयक द्वारा 'विचार दृष्टि' शीर्षक अनुमोदित एवं निबंधित होने पर पिछले 08 वर्षों से निरंतर इसकी प्रति आप प्रबुद्ध पाठकों एवं साहित्य-सेवियों के हाथों जा रही है और जिसके तेवर व कलेवर को भी आपने तहेदिल से स्वीकारा है। हमने भी पत्रिका की स्तीयता बढ़ाने की कोशिशें जारी रखी हैं। आप भी इसकी सदस्यता ग्रहण कर इसके नियमित प्रकाशन में अपेक्षित सहयोग करें। यह आपकी गरिमा के अनुरूप होगा और हम भी आपकी आकांक्षाओं एवं विश्वासों के अनुरूप एक स्तरीय पत्रिका आप तक पहुँचाने में समर्थ हो सकेंगे। विगत एवं इस वर्ष भी आपने पत्रिका की सदस्यता ग्रहण में अपनी अभिरुचि दिखाकर हमें प्रोत्साहित किया है। यह आपकी सदाशयता, उदारता एवं सेवाभाव का द्योतक है। हम तहेदिल से आभारी हैं आपने सभी सदस्यों का। अगर आपकी सदस्यता समाप्त हो चुकी है तो एक सौ रुपए भेजकर उसका नवीनीकरण करा लें। हमें आपके क़ीमती मश्विरे का शद्दत से इंताज़ार रहता है।

– उप संपादक

संपादकीय-प्रकाशकीय कार्यालय

'दृष्टि', यू. 207, शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली-92 • फोन: 011-22059410 / 22530652
'बसेरा', पुरन्दरपुर पटना-800001 • फोन: 0612-2228519

ज़रा इनकी भी सुनें

आज के दौर में देश को महात्मा गाँधी जैसे लीडरों की जरूरत है।

–किरण बेदी

जब तक आतंकी खुद ऐसी पहल नहीं करते सुरक्षा बल एकतरफा संघर्ष विराम नहीं करेंगे। –ए.के. एंटनी

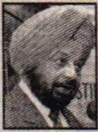

पत्रकारिता के पीछे व्यापक सामाजिक सरोकार हो तो तथा सिद्धांतों पर आधारित पत्रकारिता हो। – सी.बी. आई. के पूर्व निदेशक योगिन्दर सिंह।

राम के अस्तित्व और उनके द्वारा रामसेतु बनाए जाने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। –तमिलनाडु के मुख्यमंत्री एम. करुणानिधि

किसी को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि आजादी के साठ साल बाद भी त्रिपुरा राज्य में रेल सेवा नहीं है।

–सुभाषिनी अली सहगल, पूर्व सांसद

भ्रष्टाचार मामूली अपराध नहीं है। देश जिस तेजी से भ्रष्टाचार की चपेट में आ रहा है, वह गंभीर चिंता का विषय है। भष्टाचार कैंसर की तरह जाल फैला रहा है। –उच्च न्यायालय, दिल्ली

देश के नेताओं ने कुछ दूरदर्शिता दिखाई होती तो देश विभाजन की त्रासदी कुछ कम हो सकती थी।

–साहित्यकार महीप सिंह

स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों का सपना और आज का भारत

अँग्रेजों की धूप कड़ी थी धरती पर थी आफत,
सत्तावन की गर्मी पाकर खिल उठी थी बगावत,
सुनो भाइयो सुनो बहनो कथा सन् सत्तावन की,
कान खोलकर सुनो कथा है क्रांति के पहले सावन की।'

कुछ इसी अंदाज में 1857 की पहली जंग-ए-आजादी की 150वीं वर्षगांठ पूरे भारत में मनाई जा रही है और इस मौके पर हर भारतीय राष्ट्रप्रेम के ज़ज़्बे से भर उठा है। सन् 1857 का महत्त्व भारतवासियों के लिए बहुत ज्यादा है। सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम को दुनिया की पहली राष्ट्रवादी क्रांति कहा जाता है। सुप्रसिद्ध समालोचक व चिंतक डॉ. रामविलास शर्मा ने तो 'सन् सत्तावन की राज्यक्रांति' नामक पुस्तक में इसे संसार की पहली साम्राज्य विरोधी व सामंत विरोधी क्रांति बताया और कहा कि यह 20वीं सदी की जनवादी क्रांतियों की लंबी अपूर्ण शृंखला की पहली महत्त्वपूर्ण कड़ी भी है। 1857 भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रभावना का अग्निधर्मा विद्रोह था। इतिहास बताता है कि अँग्रेज जब इस देश में व्यापार करने आए, तो सत्ताधीश हो गए, लेकिन उसकी शासन अवधि में सांस्कृतिक राष्ट्रभाव की अंतर्धारा शक्ति संचित होती रही। सन् 1857 का विद्रोह इसी का प्रतिफल था। भारत 2007 में उसी विद्रोह की 150वीं वर्षगांठ मना रहा है। 1857 के संग्राम के बाद से ही हिंदुस्तान को अँग्रेजों की पराधीनता से स्वतंत्र कराने के जोरदार प्रयास प्रारंभ हुए। अँग्रेजों की दासता के जुए को उतार फेंकने के लिए राजनीतिशास्त्र के जितने भी सिद्धांत व विचार हैं, उनका प्रयोग संग्राम के स्वतंत्रता सेनानियों ने किया, क्योंकि अँग्रेजों ने 1857 में जंग-ए-आजादी को 'गदर' नाम दिया था। किंतु दु:खद स्थिति यह है कि 1857 की इस महान जन क्रांति का वास्तविक इतिहास न तो किसी भी स्वदेशी ने लिखने का यत्न किया और ना ही विदेशी इतिहासकार ने। जिसका नतीजा यह है कि उसे क्रांति के संबंध में विश्व समुदाय ही नहीं, अपने देशवासियों के मन में भी विलक्षण भ्रम है, क्योंकि अधिकांश अँग्रेज इतिहासकारों ने स्वतंत्रता के पूर्व क्रांति का इतिहास पक्षपात, दुर्घटना और दुष्ट दृष्टि से प्रवृत्त होकर लिखा और उन्होंने केवल घटनाओं का विवरण मात्र देकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली। परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी भारतीय इतिहासकारों ने उसका वस्तुपरक विश्लेषण न करते हुए पूर्व इतिहासकारों के तथ्यों को ही अंतिम माना। परिणामस्वरूप इस देश की नई पीढ़ी न तो अपने महापुरुषों को जानती-पहचानती है और न ही स्वतंत्रता संग्राम के वास्तविक इतिहास से पूर्णत: अवगत है। यही कारण है कि देशवासियों में स्वाभिमान, नैतिकता, राष्ट्राभिमान और देशप्रेम की भावना निरंतर कम होती जा रही है।

कहना नहीं होगा कि देश की आजादी के लिए किए गए प्रयासों का स्मरण सदैव ही स्फूर्तिदायक होता है और देश की एकता व अखण्डता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए उनका स्मरण अनिवार्य भी होता है। यही नहीं, सन् सत्तावन का स्वतंत्रता संग्राम भारतीय शौर्य का वह अनंत ज्योतिपुँज है जिसके आलोक से परवर्ती इतिहास सदा आलोकित रहेगा।

उल्लेख्य है कि सन् 1857 के विद्रोह के वक्त सिपाहियों ने उस समय के सारे सवालों को समेटा था। उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता की चुनौती का सामना भी किया। अँग्रेजों से पेंशन पाने वाले बूढ़े शायर बहादुरशाह ज़फर को बादशाह बनाया। 'फ्रीडम स्ट्रगल' (Freedom Struggle खण्ड-1, पृष्ठ 419) के अनुसार धर्म, मज़हब को दरकिनार करके काबिलियत को ही तरजीह देने का निर्णय लिया। मौजूदा तुष्टीकरण राजनीति के लिए 1857 के महासंग्राम में काफी सबक हैं। अँग्रेज हिंदू-मुस्लिम टकराव चाहते थे, मज़हबी अलगाववादी भी यही चाहते थे, किंतु यहाँ राष्ट्र सर्वोपरि था, यही कारण था की सीमित संसाधनों के बावजूद ब्रिटिश साम्राज्यवाद से कामयाब युद्ध हुआ। इस प्रकार वर्ष 1857 अग्नि पुष्प खिलने का वंसत पर्व था और इस पर्व पर यह गीत कितना सटीक है -

''सुनहरी किरण, मिट्टी सोंधी खुशबू,
घर की चौखट पर बनी अल्पना,
हर आँगन में खिलते फूल,
उभरती खुशहाली कौन जानता था,
इन्हीं गलियारों में
विदेशी दानव कैसे-कैसे सितम डालेंगे।''

सन् 1857 के संग्राम के दौर में अँग्रेजों के जुल्म-ओ-सितम के बाद हमनें आजादी पाई और आज उस विद्रोह का 150वाँ वर्ष मनाया जा रहा है वर्ष 2007 में। आजादी की पहली जंग की याद के बूते आवाम के दिल में मातृभूमि के प्रति ज़ज़्बा भरने को आज पूरे देश में जब कार्यक्रम आयोजित हो रहे हैं, तब हमें यह सोचने के लिए मजबूर होना पड़ा रहा है कि सिर्फ 150 बरस में ही क्या हो गया इस देश को? सन् 1857 से सबक लिए बगैर भारत अपनी स्थिति ठीक नहीं कर सकता। आजादी हासिल करने के लिए जंग-ए-आज़ादी के दौरान जिन हस्तियों ने अपने

त्याग, तपस्या और बलिदान किए थे, उन्होंने अपने मन में भारत के सुनहले व रंगीन सपने संजोए थे। आज जब भारत 1857 के अपने प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की 150वीं वर्षगांठ मना रहा है, उन स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों के सपनों को याद करने की जरूरत इसलिए है कि उन सपनों के आलोक में आज के भारत को हम परख सकें।

सन् 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' में इस देश के हजारों नौजवान अँग्रेजी शासन की गोलियों के निशाना बने और हँसते-हँसते भारत माँ की बलिवेदी पर अपने प्राणों को न्योछावर किया। गाँधी जी के आह्वान पर इस आंदोलन के दौरान पूरे देश के हर क्षेत्र के साथ-साथ बिहार के सात नौजवान छात्रों ने पटना सचिवालय पर तिरंगा फहराते हुए अपने प्राणों की बाजी लगाई जिसका साक्षी है पटना सचिवालय के ठीक सामने स्थित शहीद स्मारक। आजादी के साठ साल के बाद जब हम अपने स्वराज पर नजर डालते हैं, तो पाते हैं कि उन असंख्य अनाम शहीदों के मुखमंडल पर जो तेज दमक रहा था, उस तेज पर भारत के कर्णधारों ने कालिख पोत दी, हुतात्माओं के सपने खाक में मिल गए, रामराज्य का सपना दिलाने वाला युग पुरुष भी स्वर्ग में बैठा आँसू बहा रहा होगा? स्वतंत्र भारत में निर्धनता के अभिशाप से संतृप्त जनता की आज की यह दुर्दशा देखकर, नेताओं के चरित्र देखकर, भ्रष्टाचार की कीचड़ में सिर से पैर तक सना हिंदुस्तान देखकर, देश के होनहार, प्रतिभाशाली नौजवानों और खेत-खलिहान के किसानों को रेल की पटरियों पर लेटकर आत्महत्या करते हुए देखकर स्वर्ग में गाँधी, नेहरु, पटेल, मौलाना आजाद, सुभाषचंद्र बोस, तिलक, गोखले के साथ भगत सिंह भी रूह की तड़प उठी होगी।

देशभक्ति राष्ट्रीय भावना की आधारशिला है। देश की आजादी के पूर्व राष्ट्रीयता एक उमंग भर थी, केवल विदेशी शासन और अँग्रेजी साम्राज्यवाद के विरूद्ध ही वह उमंग सीमित थी। उन दिनों राष्ट्रीयता के सामाजिक तथा आर्थिक मूलों की ओर लोगों का ध्यान सामान्यत: ना जा सका, पर जिस देश की 40 प्रतिशत जनता गरीबी रेखा से नीचे जीवन बसर करने को अभिशप्त हो, मँहगाई की मार से जिसकी कमर तोड़ डाली गई हो, युवकों के लिए रोजगार की समस्या जटिल हो, कहीं ऐसा तो नहीं कि इन विफलताओं पर पर्दा डालने तथा लोगों का ध्यान इन समस्याओं से हटाने के लिए राजनीतिक दलों तथा सत्ताधारियों द्वारा कई तरह के करिश्माई खेल खेला जा रहा हो।

बापू, आदमियत को, आदमी को बम से ज्यादा महत्त्व देते थे। वे बम बनाने की जगह आदमी के भीतर की अच्छाइयों को जगाना चाहते थे। उन्होंने अहिंसा पर आधारित एक ऐसे स्वस्थ्य समाज एवं सबल राष्ट्र का सपना देखा था, जिसमें सारी सुखकारी स्थितियाँ निर्मित हों। क्या आज मनुष्यता इस सपने को साकार करने की दिशा में विचलित नहीं हो रही है?

पिछले दिनों मुंबई में 'नाथुराम गोड्से बोलताय' जो मराठी नाटक खेला गया, क्या वह गाँधी के दर्शन व चिंतन को गलत साबित करने का एक कुत्सित प्रयास नहीं था? जाहिर है किसी नाटक के ऐसे ध्वंसात्मक मकसद को महज अभिव्यक्ति की आजादी के नाम पर माफ नहीं किया जा सकता। बापू की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता की कीमत पर उनके हत्यारे गोड्से के विचारों की छूट नहीं दी जा सकती। नई दिल्ली के 'राजघाट पर युवक राजवल्लभ द्वारा अहिंसा के इस पुजारी की समाधि को तोड़ने की घटनाएँ क्या दर्शा हैं? हम देशवासियों को आखिर हो क्या गया है? क्या सरकार भी इतनी सक्षम नहीं कि राष्ट्र के इस श्रेष्ठतम प्रतीक की रक्षा कर सके?

इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के न्यास मंदिर में एक अनुसूचित जाति के अतिरिक्त जिला न्यायाधीश के द्वारा उनके चैंबर कक्ष को गंगाजल से धुलवाने तथा उसकी पवित्रता को बहाल करने की घटना भी कम चौकाने वाली नहीं है? 21 वीं सदी के प्रथम दशक से गुजर रहे भारत में अभी भी ऐसी संकीर्ण विचारधारियों के समुद्र में आकंठ डूबा रहना विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश के लिए क्या यह गंभीर चुनौती नहीं? स्वतंत्रता संग्राम की 150वीं वर्षगांठ तथा सरदार पटेल की 132वीं जयंती मनाते वक्त इन सवालों का जबाव अवश्य ढूँढ़ना होगा।

इसी प्रकार राष्ट्रीय एकता के प्रतीक लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपनी राजनीतिक सूझबूझ, प्रशासनिक क्षमता, अदम्य साहस, दूरदर्शिता तथा अपनी लौह-इच्छाशक्ति का परिचय देकर जिस शांतिपूर्ण ढंग से 562 देशी रियासतों को राष्ट्र में विलयन एवं एकीकरण की प्रक्रिया संपन्न की और इन रियासतों को सही परिप्रेक्ष्य में पुनर्गठित कर वहाँ सक्षम और लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित की, क्या वही देश आज हिंसा, अलगाववादी तथा देशद्रोही ताकतों की वजह से पुन: खण्डित होने की स्थिति में नहीं आ गई है? क्या कभी हमने यह सोचा है कि सरदार पटेल की राष्ट्रीय चेतना का क्या होगा? क्या राष्ट्रीयता का आज क्षरण नहीं हो रहा है? आतंकवादी की बर्बरता विकराल रूप लेकर हमें निगल नहीं जाएगी? आज जब सरदार पटेल की 132वीं जयंती मना रहे हैं तो राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए हमें इन प्रश्नों पर गंभीरता से विचार करना होगा।

यह हर कोई जानता है कि जिन स्वतंत्रता सेनानियों की आँखों में आजन्म सामाजिक विषमता को दूर करने का सपना रहा उस लोकनायक जयप्रकाश नारायण में यह हिमाकत थी कि वे

भारत के ऊँचे पद पर आसीन हो सकते थे, किंतु जीवन भर जिसे दूर से ही नमस्कार करते रहे, उसी कुर्सी के लिए आज के नेता तथा उनके चेले हर तरह का कुकर्म करने को तत्पर हैं। सिद्धांतहीन गठबंधनों द्वारा सत्ता प्राप्त करने की राजनीतिक दलों की नीतियाँ क्या लोकतंत्र का माखौल नहीं उड़ा रही हैं? जिस सामाजिक विषमता को जे.पी. ने दूर करने की बात की थी वह असमानता की खाई आज और चौड़ी होती जा रही है। ऐसा लगता है कि उनके सपने को साकार करने के लिए आने वाले वर्षों में सच्चे देशवासियों को और अधिक संघर्ष करना होगा।

जिस देश में आज गरीबों को दो वक्त की रोटी भी नहीं मिल पा रही हो, दिल्ली से लेकर राज्यों तक में अपराध, बलात्कार, अपहरण तथा भ्रष्टाचार की घटनाओं में निरंतर वृद्धि होती जा रही हो, बेरोजगार नौजवानों को काम नहीं मिल पा रहा हो, धर्म और जाति के नाम दंगा-फसाद लगातार होते रहे हों और पड़ोसी देश से संबंध सुधारने की कोई गुँजाइश नहीं दिख रही हो, ऐसी स्थिति में इन्हीं सौगातों के साथ स्वतंत्रता सेनानियों के सपनों को क्या हम पूरा कर सकेंगे? कदापि नहीं। अतएव देश के समक्ष चुनौतियाँ ही चुनौतियाँ हैं। एक ओर जहाँ सभ्यता व संस्कृति को बचाने का सकल्प लेना होगा, वहीं दूसरी ओर राजनीति के आवरण में लिपटे अपराधियों से देश को बचाने, अशिक्षा के अँधकार को भगाने, बढ़ती जनसंख्या को रोकने तथा आर्थिक संकट से उबारने जैसी चुनौतियाँ भी स्वीकार करनी होगी। और इसके लिए खेत-खलिहान से लेकर महानगर के तमाम हम भारतवासियों को निष्ठा एवं ईमानदारी से अपने-अपने दायित्वों का निर्वाह कंधा से कंधे मिलाकर करना होगा, तभी स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों के सपने पूरे हो सकेंगे।

अनेक विसंगतियों और विभिन्न रुचियों के बावजूद अंततः जनता के सामूहिक विवेक पर ही कोई देश खड़ा रहता है और उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय जनता का सामूहिक विवेक बहुत जाग्रत है जो शेष-प्रसंगों और रुझानों को गौण कर देता है। आखिर तभी तो वह भ्रष्ट राजनीतिक माहौल के बावजूद प्रजातंत्र को जीवित रखे हुए हैं। बलिदानियों ने भी धर्म, भाषा, जाति तथा प्रांत के नाम पर इस देश की जनता को बाँटने वाले नेताओं, देशद्रोहियों तथा समाज विरोधियों को यह संदेश दिया है कि राष्ट्र से बढ़कर कुछ भी नहीं है।

आजादी के साठ साल बाद भी हम अभी राष्ट्र नहीं बना पाए हैं। हम अभी राष्ट्र बनाने की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। भारत राष्ट्र अभी अपने जन्म की प्रसव पीड़ा भुगत रहा है। यह संताप बहुत ही गहरा और गंभीर है, क्योंकि हमें स्वयं की पहचान नहीं है। हम अपनी अस्मिता और अस्तित्व को बोझ समझते हैं। हमारी राष्ट्र प्रीति सहज नहीं, परिस्थितिजन्य और घटना सापेक्ष है। शत्रु सामने हो तो देशभक्त, शत्रु सामने न हो तो हम निहायत घटिया दर्जे के स्वार्थी और पेटू। दरअसल, हमारी सामाजिक ममता मर-सी गयी है। हम आज ममताविहीन समता की बात करते हैं। सामाजिकता और सामाजिक समरसता को लात मार कर हम जाति, वर्ग, संप्रदाय और यंत्र-सापेक्ष सामाजिक न्याय प्रदान करना चाहते हैं। गरीबी की कसौटी भूख और बेरोजगारी नहीं, जाति है। आधुनिकता ने भूख, बीमारी, बरोजगारी और अभाव को समाजवादी नहीं, जातिवादी बना दिया है।

इसी प्रकार आजाद भारत में आज की जातिवादी राजनीति का विषधर सामाजिक न्याय को डस रहा है। नित्य बढ़ती सत्ता लिप्सा ने राजनीति को नीति विहीन बना दिया है। सांप्रदायिकता और मज़हबी उन्माद ने धर्म को धकिया दिया है। दल देश से बड़ा और व्यक्ति दल से बड़ा बनने की होड़ में है। लेखक, पत्रकार, साहित्यकार, राजनीतिज्ञ, नौकरशाह तथा प्रबुद्धजन अपने-अपने क्षेत्र में पतित होने की दौड़ में एक दूसरे को मात देने के लिए दिन-रात सक्रिय हैं। राष्ट्रपति अब केवल कर्मकाण्ड और राष्ट्रीयता केवल बकवास। सार्वजनिक जीवन बेहद प्रदूषित हो गया है। विकास वितरण बहुत असमान है। शहरों में सारी सुविधाएँ केंद्रीत होती जा रही हैं और गाँवों में सार्वजनिक सुविधाओं का घोर अभाव है।

बापू, जेपी, शास्त्री जी और सरदार पटेल के सारे सपने आज बिखरते नजर आ रहे हैं, क्योंकि वे जीवन के आदर्शों पर आधारित थे और उनके सारे आंदोलन, आदर्श और सिद्धांत उस समय टिकाऊ नजर आते थे जब लोकनायक के सिद्धांत तानाशाही और भ्रष्टाचार आदि को उखाड़ने में सफल हुए। हमारे देश के कर्णधार सरदार भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, महात्मा गाँधी, सरदार पटेल, मौलाना अबुलकलाम आजाद, लोकनायक जयप्रकाश नारायण, देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, वीर कुँवर सिंह आदि स्वतंत्रता सेनानियों की रट तो लगाते हैं, किंतु उनके किसी भी सिद्धांत को नहीं अपनाते हैं। सच तो यह है कि वे पहले की अपेक्षा आज कहीं ज्यादा प्रासंगिक हैं, जरूरत केवल उनकी इस प्रासंगिकता को समझने की है, उनके विचारों को अपनाने की है, क्योंकि उनके बिना हमारा राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता है। पृथकतावादी ताकतों द्वारा हमारे राष्ट्र के पंथ निरपेक्ष ताने-बाने को जिस प्रकार चुनौती दी जा रही है, यहाँ के मासूमों और निर्दोषों को जिस तेजी से निशाना बनाया जा रहा है तथा देश की कानून-व्यवस्था को जिस प्रकार

छिन्न-भिन्न करने की साजिश की जा रही है, उसमें हमारी प्रभुसत्ता एवं अखंडता को भी खतरा है।

आजादी के छह दशक बीत जाने के बाद भी देश की आरेखित कमियों, खामियों, भ्रमों तथा उलझनों एवं समस्याओं का निदान- समाधान दिए बिना भारत की स्पष्ट तस्वीर नहीं दिखती। जब बचपन भूखा, निराशा, अस्वस्थ हो, कुपोषण का शिकार हो, यौवन अँधकारमय हो तो उसके उज्ज्वल भविष्य की कामना हास्यापद नहीं तो और क्या है?

स्वाधीन भारत के लाखों भूखे भतीजों के चेहरे चाचा नेहरु के मुस्कराते चेहरे और उनके अचकन के सामने टँगे गुलाब की तलाश कर रहे हैं, जिन्हें दो जून की रोटी भी नसीब नहीं हो पाती। बाल-दिवस मनाते-मनाते जिस भारत के बच्चे भी अब जवानी देखे बिना बूढ़े हो चले हैं वे आज भी टूटे सपनों की सौगाते संजोते हैं। हम बालश्रम पर लेख लिखकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, मगर स्कूल जाने की उम्र में ही बच्चे रिक्शा खींचते दिखाई देते हैं, होटलों में प्लेटें धोते-धोते उनके हाथ-पांव भी पानी से उजले नजर आते हैं, स्टेशनों पर बाबूओं के बूट चमकाते देखे जाते हैं और सपनों की दिनभर में जमा हुई थोड़ी-सी रेजगारी गिनते-गिनते शाम को शराबी बाप के सामने जाकर बिखर जाते हैं। इस देश के हजारों-हजार बच्चे आज भी चाउमिन खाने वाले बच्चों को ललचाई आँखों से निहारते एक निवाला चावल के लिए तरस रहे हैं, धूल फाँक रहे हैं। इन बच्चों के बारे में भी हमें आज सोचना आवश्यक है, क्योंकि इन बच्चों के सपनों को ही मूर्त रूप देकर 'इंडिया वीजन-2020' का स्वप्न पूरा किया जा सकता है। स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों का भी सपना तो यही था। तो आइए, आज जब हम स्वतंत्रता-संग्राम की 150वीं वर्षगांठ मनाने के साथ-साथ लौह पुरुष सरदार पटेल की 132वीं जयंती मना रहे हैं, हम यह संकल्प लें कि आजादी के लिए अपना सब कुछ न्योछावर करने वाले स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों के सपनों के अनुरूप सुनहले भारत का निर्माण करेंगे और राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को अक्षुण्ण बनाए रखने का प्रयास करेंगे।

वर्ष 2007 में जब संपूर्ण भारत में 1957 की जंगे आजादी की 150वीं तथा आजादी की 60वीं वर्षगांठ का जश्न मनाया जा रहा है तो राष्ट्रीय विचार मंच तथा इसके मुख-पत्र 'विचार दृष्टि' ने भी पटेल फाउंडेशन की सहभागिता से 31 अक्टूबर 2007 को लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई की 132वीं जयंती के अवसर पर न केवल 'विचार दृष्टि' का 1857 जंगे आजादी विशेषांक प्रकाशित करना, बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय राजधानी नई दिल्ली के दीनदयाल उपाध्याय मार्ग स्थित राजेन्द्र भवन में एक भव्य समारोह सहित सांस्कृतिक संध्या का आयोजन कर विभिन्न भारतीय भाषाओं एवं बोलियों में गीत-संगीत तथा लोकगीत एवं लोकनृत्य के माधयम से 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम, जिसने भारत में अंग्रेजी हुकूमत को हिला दिया और जिसके 90 वर्ष बाद भारत को आजादी मिली, के विद्रोह का चरित्र विश्लेषण पाठकों व देशवासियों के समक्ष प्रस्तुत किया जाए। यही नहीं राष्ट्रीय विचार मंच ने 31 अक्टूबर, 2007 को आयोजित समारोह एवं सांस्कृतिक संध्या को स्मरणीय बनाने के ख्याल से इस अवसर पर एक आकर्षक एवं सुरुचिपूर्ण **'राष्ट्रचेता'** नाम्नी स्मारिका भी प्रकाशित की गई।

हमारा पूरा प्रयास हुआ है विशेषांक एवं स्मारिका को ऐतिहासिक दस्तावेज तथा साक्ष्यों की संचयिका के रूप में इसे प्रस्तुत करने का । 1857 के सारे प्रकरण की एक अलग ही तस्वीर पेश करने में हम कहाँ तक सफल हो पाए हैं यह तो पाठक ही बता सकेंगे, पर इतना जरूर है कि इसे पढ़कर लोग एक सुखद आश्चर्य की अनुभूति से रोमांचित अवश्य होंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि 1857 की जंगे आजादी से पूर्व भी पूरे देश के विभिन्न भागों में समय-समय पर कई विद्रोह तथा 1757 में पलासी की लड़ाई तथा 1778, 1831-32 के मध्य कई विद्रोह हुए और इन विद्रोहों की ज्वालाओं का संयुक्त प्रभाव भी रहा जो 1857 में प्रचंड हो उठा। हमने इस विशेषांक में अपने पास सहेजकर 1857 का गदर के आदि और अंत के समग्र पहलुओं को समेटकर रखा है जिसके लिए तन, मन, धन और लगन से जुटे सभी रचनाकार साधुवाद के पात्र तो हैं ही, आयोजन समिति तथा संपादक-मंडल के सभी सदस्यों के प्रति भी उनके सराहनीय सहयोग के लिए हम आभार व्यक्त करते हैं। संदेह नहीं कि उनके प्रयास से इस अंक में स्वतंत्रता संग्राम के उदय से अंत तक की घटनाएँ जन-मानस पटल पर पुन: जीवित हो उठीं और भारतीय स्वतंत्रता के उत्थान-पतन और स्वतंत्रता प्राप्ति तक की घटनाओं का क्रांतिकारी दर्शन विद्यमान है।

विगत 13-15 जुलाई, 2007 को अमेरिका के न्यूयार्क में आयोजित आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन का हमनें अपने अमेरिकी यात्रा-वृतांत में न केवल आँखों देखा हाल, बल्कि विभिन्न शैक्षिक सत्रों में देश-विदेश के विद्वान साहित्यकारों द्वारा प्रस्तुत आलेखों में से कुछ को इस विशेषांक में शामिल किया है ताकि हमारे पाठक उनसे अवगत हो सकें। प्रत्येक लेख गहन विश्लेषण और राष्ट्रभाषा हिंदी की प्रशंसनीय भावनाओं से ओत-प्रोत हो और सभी विद्वानों के निष्कर्षों का जायजा लेते हुए यह लेख हिंदी को अपनाने पर जोर डालते हैं, क्योंकि आज अपने ही देश में प्रत्येक जगह हिंदी की उपेक्षा की जा रही है। विश्वास है 'विचार दृष्टि' का यह विशेषांक समग्र दृष्टि से पाठकों एवं शोधार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

राष्ट्र और राष्ट्रभक्त

–देवेन्द्र कुमार 'देव'

देश के पुरातन युग में मानवता और राष्ट्रीयता के जिन उच्च मूल्यों की स्थापना हुई और दानवता के जिस हिंसक प्रवृत्ति का हमारे ऐतिहासिक पराक्रमी पुरुषों व देशभक्तों ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी पराभूल बनाने का प्रयास किया, उनसे निश्चित ही भारत के अतीत का एक उच्च आदर्श झलकता है। क्योंकि वे युग मानस को झंकृत कर, उसमें नवजागरण और राष्ट्रीय चेतना का मंत्र फूँका। देश के अगणित देशभक्तों ने स्वतंत्रता की मशाल प्रज्ज्वलित कर देशवसियों के मन में देशभक्ति एवं अपने अधिकारों के प्रति लड़ने की भावना जाग्रत की थी।

आज आजादी के साठ साल और 1857 की जंगे आजादी के 150 साल बाद भारत की दुर्दशा देखकर चिंता होती है। आखिर क्या हुआ भारत के आदर्शों और देश के लिए मर-मिटने वाले देशभक्तों के सपनों का? देशभक्तों का जितना ऊँचा आदर्श, आज नेताओं का उतना ही नीचा आचरण। जितनी एकात्मभरी अनुभूति उतनी ही आज भेदभरी दृष्टि। जितना महान हमारा अतीत और महान पूर्वजों के वारिस उतना ही आज तुक्ष्य चरित्र। दुनिया में एक समय सर्वश्रेष्ठ गुरु भारत की यह बेमेल गति क्यों? आज के लोग भारत के आभामय अतीत से घबराते क्यों हैं? अपने यथार्थ को स्वीकार क्यों नहीं करते।

देश कौन-सा है? हमारे यहाँ राष्ट्रभक्ति सहज नहीं, असामान्य बात है। जिस देश के निवासियों को राष्ट्रभक्ति की प्राथमिक शिक्षा देनी पड़े, जहाँ देश भक्ति सामान्य नहीं। विशिष्ट बात हो, जहाँ एकता और अखंडता को अक्षुण्ण बनाए रखने का अनुरोध करना पड़ता हो, वहाँ के निवासी उदार और देश के लिए जिएँ-मरें क्या यह सहज संभव है? कतई नहीं।

विज्ञान और तकनीकी ज्ञान रेलगाड़ी एवं विमान की गति बढ़ा सकते हैं, सर्जक तथा मारक यंत्र बना सकते हैं, लेकिन किसी समाज व राष्ट्र की चेतना को जागृत करके आदर्श के बीज नहीं बो सकते। इसके लिए तो सामाजिक तथा सामूहिक भाव का उदय करना होगा। माननीय गुणों की स्थापना और संस्कारों को तो ग्रहण करना ही होगा।

राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत इस कॉलम के लेखक भाई देवेन्द्र कुमार 'देव' ने 'राष्ट्र और राष्ट्रभक्ति शीर्षक लेख के माध्यम से इसी की ओर अनूठी शैली में संकेत किया है। लेखक को साधुवाद।

–संपादक

पृथ्वी के मानव जब से राष्ट्रों के रूप में संगठित हुए तभी से पृथ्वी पर साधनों का तेजी से विकास हुआ। जब मानव अकेला था, बिखर कर जी रहा था तब वह जानवरों की तरह की जंगलों में, पेड़ों पर, पहाड़ों में, गुफाओं में जीवन बिता रहा था। कुछ मेहनती और ताकतवर लोगों ने थोड़ा प्रयास किया तो कबिलों और गाँवों में मानव रहने लगा। यहीं से नियोजन में तेजी आई। थोड़ा संगठित होने से हथियार, खाने-पीने की वस्तुएँ और रहन-सहन का तरीका बदलने लगा। भाषा, आबादी, ज्ञान और जरूरतों का और विकास हुआ तो राज्य और साम्राजय का स्वरूप सामने आने लगा। साम्राजय स्थापित होने से सुरक्षा पद्धति, मनोरंजन के साधन और कलाओं का अच्छी तरह विकास होने लगा। दैनिक जीवन में प्रयोग होने वाली वस्तुओं की माँग बढ़ गई। यहीं से ज्यादा पाने की इच्छा और दबदबा बनाये रखने की मानवीय प्रवृत्ति को और अधिक आधार मिल गया। राज्यों के राजा निरंकुश व अहंकारी हो गये। अब मानव को आवश्यकता महसूस हुई एक ऐसी जीवन प्रणाली की जो सबके द्वारा बनाई गयी हो और सबके लिए बनायी गई हो, आवश्यकतानुसार जिसमें बदलाव भी किये जा सकें और जो गुणों के आधार पर चलें न कि जन्म के आधार पर। ऐसे ही हालातों में सामने आई राष्ट्र और लोकतंत्र की अवधारणा। इन दोनों का प्रवेश मानव जीवन में एक साथ हुआ।

पहले व्यक्ति के कर्म और भाव किसी दूसरे व्यक्ति को समर्पित होते थे, लेकिन राष्ट्र और लोकतंत्र की प्रणाली में इसकी आवश्यकता ही नहीं थी। इस शैली में व्यक्ति राष्ट्र को समर्पित होगा और राष्ट्र उस व्यक्ति को सुरक्षा, आवास, भोजन, सुखी जीवन देगा। जीवन जीने का यह प्रारूप पृथ्वी के मानवों को ज्यादा भाया और पूरी पृथ्वी राष्ट्रों के रूप में दिखने लगी। मानव सभ्यता अपने इस सफर में अनेक संघर्षों, उतार-चढ़ावों, युद्ध-शांति, सफलताओं और असफलताओं अच्छाईयों बुराईयों, आपदाओं और विपदाओं एवं उत्थान और पतन को पार करती हुई अमरीका, रूस, इग्लैंड, भारत, चीन, जापान, फ्रांस-जर्मनी जैसे राष्ट्रीय स्वरूपों तक पहुँच गई। अब व्यक्ति का विकास और राष्ट्र का विकास दोनों एक दूसरे पर निर्भर हो गये। अब मानव जीवन को सुखी और सुरक्षित बनाने के लिये बड़े पैमाने पर योजना बनाने की आवश्यकता पड़ने लगी। जिस राष्ट्र के मानवों ने संगठित होकर अच्छा नियोजन किया, वे विज्ञान और

उससे प्राप्त वस्तुओं के भंडार हो गये। अपने विकास के बल पर कुछ राष्ट्र सारी पृथ्वी पर छा गये। कुछ राष्ट्रों को अपनी उपयोग की वस्तु बना लिया। अब भूमिका बनी कुछ ऐसे मानवों की, जो इस अत्याचार को उखाड़ फेंकें और कुछ नया विधान बनायें। इसी आवश्यकता ने जन्म दिया कुछ ऐसे मानवों को, जिनको अपनी विराट सोच और विकट कर्म शक्ति के कारण देशभक्त नाम से पहचाना गया।

देशभक्त अपनी दूरदर्शी बुद्धि व मजबूत इरादों और आवश्यकता बहादुरी के कारण समस्याओं के हल बन गये। जिस राष्ट्र के लोग अपने देशभक्तों से जुड़ गये, उनके विचारों को समर्पित हो गये, उनके कर्मों में सहयोगी बन गये उन राष्ट्रों का नया रूप सामने आ गया। एक ऐसा रूप जिसमें अधिक से अधिक लोगों के सुखी जीवन की संभावनाएँ थी। बस यहीं पर भारत के लोगों से चूक हो गयी। वे अपने देशभक्तों को समझ नहीं पाये। उनसे जुड़े नहीं, उनको सहयोग नहीं दिया। देशभक्त तो फांसी पर चढ़कर सजाएँ भुगत-भुगत कर युद्ध में मर-मर कर अपने मानव जीवन को प्रशंसनीय ऊँचाई तक ले गये, लेकिन जनता उनसे न जुड़ने का परिणाम भुगतने के लिये एक ऐसा जीवन जीने को मजबूर हो गई जिसमें न तो सुख था और न सुख की आशा। देशभक्त जिन लोगों के लिए संघर्ष कर रहे थे वे लोग हालात से बेखबर थे। लोग तो सोच रहे थे देशभक्त यह सब देश के लिये कर रहे हैं लेकिन उन बेचारों का चिंतन यहाँ तक नहीं पहुँचा कि देश किसी भौगालिक सीमा, नदी, पहाड़ों, खेतों और जंगलों का नाम नहीं। देश तो एक विशेष सीमा में रहने वाले लोगों और संस्कृति का नाम है। देशभक्त अपने जीवन को जिनके लिये दाव पर लगाये हुये थे, वे मात्र दर्शक बनकर रह गये।

भगतसिंह की अदालत के बाहर पिटाई हो रही थी। वे जिनके लिए पिट रहे थे वे सब खड़े-खड़े देख रहे थे। जतीनदास भूखे रह-रह कर धीरे-धीरे मौत की तरफ बढ़ रहे थे और देश के लोग अपने खाने-पीने मे मस्त थे। चन्द्रशेखर आजाद चार-पाँच पुलिसवालों से घिरकर अपना अंतिम युद्ध लड़ रहे थे और सैंकड़ों लोग छिपकर देख रहे थे। सुभाषचन्द्र बोस अँग्रेजों से बचते बचाते मारे-मारे फिर रहे थे और देश के लोग अपने घरों में आराम से सो रहे थे। सोलह-सोलह साल के नौजवान देश-भक्त फांसी चढ़ रहे थे और देश के लोग अपने बच्चों की शादी-विवाह में व्यस्त थे। वारीन घोष जी माता-पिता सहित क्रांति में भाग ले रहे थे और देश के लोग उनके घर पर संपत्ति पर कब्जा कर रहे थे। आप क्या सोचते हैं, भारत को आजादी भूख-हड़तालों, सत्याग्रहों, आंदोलन और नेताओं के भाषणों से मिली थी, जी नहीं। दूसरे विश्व युद्ध के बाद अपनी दयनीय स्थिति में पहुँचे अँग्रेज इस लायक बचे ही नहीं थे कि वे यहाँ और राज कर सकें। भारत की आजादी उनके कमजोर होते हाथों से फिसल रही थी। बदले हुए विश्व के हालात में अपनी नाजुक स्थिति का आभास उन्हें भारत छोड़ने पर मजबूर कर रहा था और हम खुश हो रहे थे कि हमने अपने प्रयासों से आजादी पायी है।

आजादी की इच्छा और योग्यता तो तब नजर आती जब अँग्रेजों के साथ खून की होली खेलते वीर कुंवर सिंह को प्रदेश के लोग सहयोग देते। वीर कुंवर सिंह का हाथ युद्ध में कटकर गंगा में बह रहा था और देश के लोग अपने दोनों हाथ कंधों पर लटकाये घूम रहे थे। वे परिवार सहित बहादुरी से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हो रहे थे और देश के लोग स्वयं का, उनकी वीरता की प्रशंसा तक ही सीमित रखे हुए थे। झांसी की रानी अपने बच्चे को कमर से बांधकर अँग्रेजों से लड़ रही थी और देश के लोग दरवाजे की कुंडी लगाकर ही अपने बच्चों को सुरक्षित समझ रहे थे। मंगल पाण्डे बहादुर शाह ज़फ़र को राजा मानकर अँग्रेजो से लड़ पड़े थे और देश

के लोग इसे शासकों की आपसी लड़ाई समझ रहे थे। जिनके लिए कार्य हो रहा था वे बेखबर जीवन बिता रहे थे।

आज देश के लोग रो रहे हैं। भ्रष्टाचार, अव्यवस्था की वजह से जनता परेशान है कि शासक उनपर ध्यान नहीं दे रहे, वे सिर्फ अपने स्वार्थ पूरे कर रहे हैं। यह तो परिणाम है हमारी इस प्रवृत्ति का कि प्रथम श्रेणी में महापुरुषों को, दिव्य-शक्तियों को हम समझ नहीं पाते उनसे जुड़ते नहीं उनको सहयोग नहीं देते। वे महापुरुष तो अपनी भूमिका निभाकर चले जाते हैं और फिर जनता को शासक के रूप में मिलते हैं दूसरी और तीसरी श्रेणी के लोग। वे भ्रष्टाचार करेंगे ही, वे अत्याचार, व्याभिचार, अहंकार का खेल खेलेंगे हीं, क्योंकि हमारा चुनाव ही गलत है। अब आप समझिए कि यह श्रेणियाँ क्या हैं। प्रथम श्रेणी में वे दिव्य शक्तियाँ और महापुरुष आते हैं जो आये ही थे हमें कुछ देने लेकिन हमने उन्हें समझा ही नहीं उनकी बातों पर पूरी तरह से ध्यान नहीं दिया उन्हें साधारण व्यक्ति ही समझा अपनी तरह। इस वर्ग में जानिए ईश्वरीय अवतारों को, ईश्वर प्रेमी भक्तों को, वीर योद्धाओं को, महान देशभक्त क्रांतिकारियों को और निःस्वार्थ समाज सुधारकों को और कुछ सच्चे संतों को।

दूसरी श्रेणी में वे लोग हैं जिनमें प्रतिभा तो होती है लेकिन वे पद और नाम कमाने के लोलुप होते हैं और तीसरी श्रेणी में वे

लोग आते हैं जिनमें कोई गुण भी नहीं और उनकी इच्छाएँ उनकी वासनाएँ अतन्त हैं। इन्हीं दूसरी-तीसरी श्रेणी के व्यक्तियों को हम अपना समर्थन देकर आज रो रहे हैं। बेहतर जीवन की उम्मीद खत्म हो रही है। समाज और देश का जैसा रूप आज हम चाहते हैं, वह रूप तो तब सामने आता जब हमने उन प्रथम श्रेणी को शक्तियों को समझा होता, उनके विचारों पर चले होते, वे दिव्य शक्तियाँ भारत के लोग उन्हें पहचान नहीं पाये जिसका नुकसान आज हम सब उठा रहे हैं। आज हम लोग जी नहीं रहे, हम जीने का इंतजार कर रहे हैं। ऐसा हो जायेगा तब जीवन अच्छा हो जाएगा इस उम्मीद में समय काट रहे हैं।

फालतू में स्वयं को महान मानकर भ्रम में जीने से कुछ प्राप्त नहीं होगा यदि आज भी हम अपने अहंकार का सिर काटकर मेहनत करके भूतकाल का अवलोकन और विश्लेषण करें तो वर्तमान का कर्म भविष्य का सुखद रूप बन जायेगा। वीरता के तत्त्व को, देशभक्त की भावना को, महापुरूषों की जीवनशैली को समझना ही पड़ेगा नहीं तो हालात सुधरने की बजाय और भी बिगड़ते चले जाएँगे। हम सत्य के लिये लड़ रही शक्तियों को सहयोग क्यों नहीं देते? कोई हमें सबकुछ करके दे दे अकेला ही, अपनी इस प्रवृत्ति को बदलना होगा। चाहे खेल हो या राजनीति हम एक ही व्यक्ति पर टिक जाते हैं और स्वयं कुछ नहीं करते अब इस आदत को छोड़ना होगा तब तक कोई भी व्यवस्था अच्छा परिणाम नहीं दे सकती।

जरा सोचकर तो देखिए परशुराम जी अयोग्य अत्याचारी राजाओं को मार रहे थे और हम उन्हें हिंसक समझ रहे थे। इसके बाद भी अनाचारी-अयोग्य राजाओं का अस्तित्व बचा, क्योंकि हमारी भावनायें हमारा सहयोग परशुराम जी के साथ नहीं था। श्रीराम जी ने राक्षसों का अंत करके सीता माता को मुक्त किया, लेकिन उसके बाद भी नारियों के अपहरण हुए, राक्षसों ने अनाचार किया क्योंकि बंदर और भालू तो राम जी को सहयोग दे रहे थे, लेकिन मानव अपने कर्मों में ही लीन था। इसलिए रामजी के कर्मों का फल मानव जाति को नहीं मिला। फिर मानव बुरी शक्तियों से, राक्षसों से परेशान हुआ। श्रीकृष्ण तो द्रौपदी की लाज रखने के लिये वस्त्र बढ़ा रहे थे, लेकिन बहुत से व्यक्ति बैठकर देख रहे थे इसके बाद भी नारियों के वस्त्र उतारे गये, क्योंकि हमने परमात्मा श्रीकृष्ण के सत्य की रक्षा, नारी की सुरक्षा, भक्तों की इज्जत बचाने में भावना को नहीं समझा। परमात्मा स्वयं परशुराम, राम और कृष्ण बनकर सत्य के लिये अच्छी व्यवस्था के लिए लड़ रहे थे, कार्य कर रहे थे, लेकिन फिर भी हमारे यहाँ अच्छी व्यवस्था नहीं बनी क्योंकि कुछ भक्तों का सहारा लेकर वे जिनके लिये कार्य कर रहे थे वे लोग उनके भावों को, कर्मों को समझ ही नहीं रहे थे। लोग सोच रहे थे परशुराम, रामजी, श्रीकृष्ण जी तो अपनी समस्याएँ सुलझा रहे हैं, लेकिन यह लोगों की भूल थी वे समस्याएँ तो हमारी थीं सबकी थीं जिनसे वे अकेले ही जूझ रहे थे। हमसे अच्छी तो परशुराम की वह कुल्हाड़ी ही थी, जो मूर्ख, बेईमान राजाओं के सिर काट रही थी। हमसे अच्छे तो वे बंदर और भालू ही थे जो राम जी को सहयोग दे रहे थे। हमसे बढ़िया तो वे घोड़े थे जिन्हें श्रीकृष्ण महाभारत के लिये हाक रहे थे।

महात्मा बुद्ध अपने त्याग, तपस्या, अभ्यास से बुद्धत्व को उपलब्ध हो गये और हम उन्हें भोजन में मांस परोस रहे थे, महावीर जी परातत्वों में लीन होकर अद्वैत वृत्ति में धरती पर पवित्र विचरण कर रहे थे और हम उन्हें पत्थर मार रहे थे, चाणक्य को निराश करके जंगल में भेज रहे थे और हम उन्हें सिर काट कर बलि चढ़ाना चाहते थे। पृथ्वीराज विदेशी शक्ति से लड़कर मर रहे थे और बाकी राजा अपने-अपने राज चला रहे थे, महाराणा प्रताप वनों में घास की रोटी खा रहे थे और हम अपने घरों मे त्यौहारों के पकवान पका रहे थे, शिवाजी और गुरु गोबिन्द सिंह हमारे लिए अत्याचारी शासकों से लड़ रहे थे और हम उनकी मुखबरी कर रहे थे, कबीर ज्ञान का उपदेश दे रहे थे और हम उन्हें बीच बाजार में गालियाँ दे रहे थे, नानक जी परमशक्ति का संदेश दे रहे थे और हम उन्हें पागल बता रहे थे, स्वामी दयानन्द समाज की कमजोरी खत्म कर रहे थे और हम उन्हें दूध में जहर पिला रहे थे, विवेकानन्द पूरे संसार में धर्म की विजय पताका फहरा रहे थे और हम अदालत में उन पर केस कर रहे थे, सरदार पटेल पाँच सौ रियासतों को एक देश बना रहे थे और हम गाँधीजी और नेहरूजी को समर्पित हो रहे थे, सुभाषचन्द्र बोस की लाश का भी पता नहीं था कि कहाँ गई और हम आजादी का जश्न मना रहे थे।

ऐसे तो हमारे कर्म हैं फिर हम किस आधार पर अच्छी व्यवस्था बढ़िया शासन की उम्मीद उन लोगों से कर रहे हैं, जो शासन में, व्यवस्था में पदों पर आए हैं अपनी इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति के लिए। ये दूसरी और तीसरी श्रेणी के व्यक्ति जैसा हो रहा है इससे अच्छा नहीं कर सकते। जो इंद्रियों के गुलाम हैं उनको अपनी वासना तृप्ति से फुर्सत मिलेगी तभी तो देश के लिए, समाज के लिए कुछ कर

पायेंगे। उनकी नीयत भी खराब है, नीति भी बेकार है और प्रतिभा व गुण तो उनमें शुरू से ही नहीं था। इसलिए उनके आसरे जो रहेगा वह परेशान ही होगा। उनकी संख्या बहुत ज्यादा है इसलिए बदलाव की गुंजाइश भी समाप्त है। जो भी उनकी आवाज उठा सकता है उसे वे खरीदकर अपने साथ मिला चुके हैं। जनता को तो लगा दिया क्रिकेट मैच देखने और नई-नई फिल्में देखने में। क्रिकेट खिलाड़ियों को वीरों की तरह दिखाया जा रहा है। फिल्मी ऐक्टरों को देवताओं की तरह पेश किया जा रहा है। क्रिकेट और फिल्मों को इतना महत्त्व इसलिए दिया जा रहा है कि आम आदमी इन्हीं में उलझा रहे और वे अपनी आने वाली पुश्तों तक के लिये धन-संपत्ति ऐशो-आराम का इंतजाम कर लें।

सामान्य व्यक्ति की आधी उम्र तो बीत रही है कैरियर बनाने में, अपने पेट भरने और गुजारे लायक बनने में। जैसे-तैसे जब वह कामयाब हो रहा है, तो बाकी उम्र बीत रही है मोबाइल का बिल, घर का किराया, गाड़ी की किस्त, बिजली का बिल, पानी का बिल, हाऊस टैक्स, इन्कम टैक्स आदि चुकाने में। अब बताइये ऐसे हालात में देश और समाज के लिये समय ही किसके पास बचा है। अब हम फँस चुके हैं अपनी जरूरतों और जीवनशैली को जैसे-तैसे निभाने के लिये। सब माँ-बाप हैं अपने बच्चों के लिये और बच्चे हैं अपने माँ-बाप के लिए, समाज के लिये बचा ही कौन? इस स्थिति में किसी भी बदलाव की, परिवर्तन की, सुधार की, आंदोलन की संभावनाएँ समाप्त हो गई हैं। इसका फायदा उठाकर बुरी शक्तियाँ रात-दिन अपने नाम, धन, रौब, मजबूती, संपत्ति बढ़ाने में लगी हुई हैं बड़े ही नियोजित तरीके से। जिनका शोषण हो रहा है वे अलग-अलग बिखरे हुए हैं और जो शोषण कर रहे हैं वे अलग-अलग दिखकर भी एक हैं।

ऐसी बुरी स्थिति हमारे देश की समाज की क्यों हुई? क्योंकि विशेष महापुरुष, दिव्य महाशक्तियाँ, वीर योद्धा, महान देशभक्त सच्चे संत और समाज सुधारक जो हमारे लिये कुछ करना चाहते थे हमने उनकी बजाय किसी और को महत्त्व दे दिया। वे सब तो पृथ्वी पर अपनी जीवन यात्रा पूरी कर अपने सफर में आगे निकल गये और हम रह गये गंगा जैसे पवित्र जल में मलमूत्र गिरता देखने के लिए। फौजी सीमा पर मर रहा है उसकी विधवा को परेशान भटका देखने के लिये, धरती पेड़ों की छाँव माँग रही है उसको तपता हुआ देखने के लिये, स्कूल-कॉलेज जाती लड़कियों के साथ बलात्कार होता देखने के लिये, आरक्षण की आग में देश को जलता हुआ देखने के लिए, गाय को काटकर पकोड़े बनाकर खाये जाते देखने के लिए, क्षेत्रिय राजनैतिक पार्टियों को स्वार्थ के लिये राष्ट्र को दांव पर लगाया जाता देखने के लिये, दहेज के लिए जलती हुई नारी को देखने के लिए, न्याय पाने की आस में बीस-बीस साल तक लोगों को कोर्ट के चक्कर काटते हुए देखने के लिए। एक दस वर्ष का बच्चा मर्सडीज में स्कूल जा रहा है और दूसरा दस वर्ष का कूड़ा ढो रहा है, ऐसे दृश्य देखने के लिए, रोटी की तलाश में गाँव से शहर की तरफ भागता भूखा पेट देखने के लिए, अपनी संस्कृति को पश्चिमी के पाँव में पड़ा हुआ देखने के लिए, भ्रष्टाचार द्वारा एक क्लर्क को दस-दस करोड़ धन इकट्ठा करता देखने के लिए। श्रेष्ठ ग्रंथ गीता को समाज में उपेक्षित देखने के लिए, जवान होते बच्चों को यौन शिक्षा के अभाव में बर्बाद होता देखने के लिए, पार होने का अनुभव प्राप्त किए बिना लोगों को प्रवचन करते हुए देखने के लिए।

अब देखिये कितनी सहनशक्ति है आपमें। आप काफी महान हैं! यदि यह सब देखते हुए भी आपको यह उम्मीद है कि आप भविष्य में सुख व शांति को पा लेंगे और यदि आप भी हमसे सहमत हैं तो बताइये कि आपमें इतनी सहनशक्ति क्यों है? यह आप कब तक झेलेंगे? कहाँ से लाते हैं आप इतनी सहनशक्ति? आपसे कुछ माँगा नहीं जा रहा

आपको बगावत के लिए तैयार नहीं किया जा रहा। आपसे यह उम्मीद की जा रही है कि आप देश के प्रति, मानवता के प्रति, धर्म के प्रति, स्वयं के प्रति, बहुत बड़े स्तर पर दृष्टा बनकर जाग जाएँ और वे गलतियाँ न करें जो हम या हमारे पूर्वज अबतक करते आये हैं। आप स्वयं को झूठ से, बेइमानी से, संप्रदायवाद से, अज्ञान से बचा लें। आप अपने आपको सच्चे और जागरूक इंसानों में शामिल कर लें जिससे कोई दिव्य शक्ति, कोई अलौकिक महापुरुष कुछ करना चाहे, तो आपको देखकर उसको कुछ करने की जरूरत महसूस हो। यही आपकी बहुत बड़ी भूमिका होगी।

कमजोर होकर मीडिया के सामने अपने दुःखों का रोना रोने से समस्याएँ हल नहीं हो जाएँगी। लाचार और बेबस दिखकर, न्यायपूर्ण व्यवस्था को दया की भीख के रूप में मत माँगो। मेरे महान देश के दुखी प्राणियों, मेरे भाईयों सुनो मीडिया के किसी भी रूप को अपना हितैषी जानकर अपना समय व अनमोल मानव जीवन यूँ ही व्यतीत न होने दो। मीडिया के विभिन्न रूप चाहे वह टी.वी. चैनल हों, अखबार हो या कोई पत्रिका हो, वे तो हमारे दुखों को, घटनाओं को, दुर्धटनाओं, अव्यवस्थाओं को दिखाकर अपना पेट भर रहे हैं। वे अपनी पहचान बना रहे हैं जिससे उनकी कमाई और भी बढ़ जाये। हम सोच रहे हैं कि वे हमारी आवाज उठा रहे हैं। लेकिन वे डूबते हुए को बचा नहीं सकते वे सिर्फ दिखा सकते हैं। उनका काम खबर बनाना

है वे स्वयं कभी भी खबर नहीं बनेंगे। रोता हुआ आम आदमी, सोता हुआ प्रशासन, बदमाशों से परेशान समाज, सताया हुआ मानव, बदमाश पुलिस और नेताओं के गठजोड़ से हैरान सभ्य नागरिक, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी में लिप्त नेता, व्यापारी, अफसर, पुलिस, अव्यवस्था से उत्पन्न हमारे अनेक दुख यह सब तो सामान है मीडिया की मंडी का। मंडी में बढ़ता हुआ सामान कारण बन रहा है, रोज नये अखबार, पत्रिका या टी.वी. चैनल के अस्तित्व में आने का।

उसकी रुचि हमारी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक दशा को सुधारने में नहीं। उनका कार्य सिर्फ दिखाना है उनका भी पेट है वे भी अपनी कमजोरियों और मजबूरियों के साथ अपना जीवन चला रहे हैं। वैसे भी न तो उनको भारतीय संस्कृति का पूरी तरह ज्ञान है और न ही वे राष्ट्र और संस्कृति के लिए समर्पित हैं। उनका कर्म उनका प्रयास किसी एक संस्था के लिए ही होता है। जो उनके कैरियर को सुरक्षा देकर उनकी सीमा भी बन जाती है। जब तक हम स्वयं रोना-पीटना छोड़, निडरता के साथ कमर कसकर स्वयं को सच्चा बनाकर, अन्याय के खिलाफ खड़े नहीं होंगे तब तक मीडिया की आधुनिक विशेष क्षमताओं का लाभ भी राष्ट्र व समाज को पूरी तरह नहीं मिल पायेगा।

अपने नेताओं से, पुलिस से, शासन से, प्रशासन के परेशान, अशांत होकर हम और आप फिर शरण ले रहे हैं सत्संगों की, कथावाचकों की, योग की, ज्ञानमय उपदेशों की और ऐसी किसी भी धार्मिक संस्था की। साधू, संत, महात्माओं और योगियों का उभरता यह नया वर्ग समूह, अपने दुख और क्लेशों के कारण चरमसीमा तक पहुँचे असंतोष के परिणामस्वरुप जनता को पागल होने से बचा ले रहा है, लेकिन उन सबका प्रयास, उनके व्यक्तित्व को ऊँचाई देकर ही दम तोड़ रहे हैं।

यदि उनके प्रयासों को हम सबका उचित सहयोग मिल जाये तो देश व धर्म के लिए काफी कुछ हो सकता है। वे सब तो अपने-अपने तरीकों से कोई योग से, कोई भक्ति से कोई कथाओं से कोई ज्ञान वर्षा से कोई सेवा से अपना कर्त्तव्य कर हम सबको कुछ राहत दे ही रहे हैं। लेकिन एक सीमा के बाद उनकी क्षमताएँ भी समाप्त हो जाती हैं और फिर वे चाहते हुए भी कुछ नहीं कर पाते हैं। अतएव समय का तकाजा है कि हम देशवासियों में से हर कोई स्वयं मसीहा बन घर-घर दीप प्रज्ज्वलित करे।

संपर्क : डी-223, गली नं.-8
लक्ष्मी नगर, दिल्ली-92
फोन : 22435695

1857-जंगे आजादी की 150वीं वर्षगांठ, आजादी की 60वीं वर्षगांठ तथा लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल की 132वीं जयंती पर प्रकाशित 'विचार दृष्टि' के 1857-जंगे आजादी विशेषांक-33 के लिए हमारी

हार्दिक शुभकामनाएँ

–प्राचार्या

एस. आर. विद्यापीठ

विवेकानन्द सेवाश्रम परिसर

मीठापुर 'बी' एरिया, पटना-800001

कहानी

नये फिरंगी

–विमल कुमार

अठारह सौ सत्तावन! अठारह सौ सत्तावन!
जब आए आषाढ–सावन
प्रकट होवें रामबुझावन!!
मार भगाने फिरंगी,
हाथ में लिये तलवार नंगी

–रघुवीर दुसाध यही गाता था।

बगेन–जगदीशपुर इलाके का एक गांव। यहीं मेरी ममेरी बहन ब्याही हुई है। करीब पच्चीस साल पहले मैं उसकी शादी में गया था। उस गाँव की हल्की स्मृति मुझे आज भी है। रघुवीर दुसाध इसी गाँव का है। उम्र 50 से ऊपर हो गयी है। वह भी बीस साल पहले मेरी तरह दिल्ली आया था। फर्क इतना है कि मैं तब पढ़ने आया था और वह काम की तलाश में आया था। कई साल तक वह नोएडा और साहिबाबाद की फैक्ट्रियों में काम करता रहा। कई बार तो फैक्ट्रियाँ बंद हो गयीं और कई बार तो मालिकों ने छंटनी कर उसे नौकरी से निकाल दिया। अब वह भी व्हीलर चलाता है। आनंद बिहार से वसुंधरा तक। करीब पाँच किलोमीटर का रास्ता तय करता है और इसी की कमाई से वह अपने पूरे परिवार का जीवन बसर करता है।

मैं कई बार शाम को दफ्तर से लौटते हुए थ्री व्हीलर पर बैठकर घर जाता हूँ। चूंकि मेरे लौटने का भी समय तय नहीं है, इसलिए हर बार स्टैंड पर दूसरे ड्राइवर मिलते हैं। यहाँ महानगर की भागदौड़ की ज़िंदगी में जब मुहल्ले के पड़ोसी एक दूसरे को ठीक से नहीं जानते, ऐसे में थ्री व्हीलर वालों को पहचानना या उनसे परिचित होने का कोई सवाल ही नहीं उठता है।

अगर मैं उस दिन दोपहर को घर से न निकलता तो रघुवीर दुसाध से मेरी मुलाकात न हुई होती। दरअसल उसका थ्री व्हीलर खराब हो गया था और उसे जहाँ ठीक करा रहा था, वहीं खड़ा मैं बस का इंतज़ार कर रहा था। मेरी निगाह उसके थ्री व्हीलर पर गयी, जिसके पीछे नंबर प्लेट तो थी, पर उसके ऊपर उसने लिखा रखा था–''1857 के बाबा रामबुझावन''।

मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि आम तौर पर थ्री व्हीलर वाले ऐसी पंक्तियाँ या वाक्य नहीं लिखवाते। अक्सर 'जय श्री राम', 'भोले शंकर दूर न जाना', 'जगह मिलने पर पास देंगे', 'बुरी नज़र वाले तेरा मुँह काला', 'मुसाफिर या भगवान' आदि जैसे वाक्य पीछे लिखे मिलते हैं। इसलिए मेरी दिलचस्पी उस थ्री व्हीलर वाले में जगी। मैं उसके पास गया और मैंने पूछा–''किसका थ्री व्हीलर है।'' तभी एक आदमी बोला–''कहिए! क्या बात है?'' मैंने उससे पूछा–''तुमने थ्री व्हीलर के पीछे '1857 के बाबा रामबुझावन' लिखवा रखा है?''

उसने लंबी सांस भरकर कहा–''एक लंबी कहानी है, भाई साहब! कभी आपको फुरसत हो तो सुनाऊँगा।''

मैंने कहा–''सुनाओ! सुनाओ! अभी सुनाओ। इसमें हर्ज क्या है?''

''नहीं साहब! अभी आपको भी दफ्तर जाना है और मुझे भी स्कूल के बच्चों को लेकर घर पहुँचाना है।''

''तुम रहने वाले कहाँ के हो?''

''बिहार का।''

''बिहार में कहाँ के।''

''बगेन का।''

''हाँ, हाँ मैं जानता हूँ बगेन। मेरी ममेरी बहन वहीं ब्याही है।''

''किसके घर।''

मैं अपनी ममेरी बहन के ससुर का नाम याद करने लगा। लेकिन उनका नाम जुबान पर नहीं आ पाया।

''लाला जी के घर तो नहीं?''

''हाँ, हाँ जो लोग पटना में रहते हैं।''

''हाँ, हाँ मैं समझ गया।''

तभी मेरी बस आ गयी। मैं बस की तरफ लपका। मैंने उससे कहा, ''फिर कभी तुमसे मिलता हूँ।''

''मैं इसी सेक्टर 15 के चौक पर मिलता हूँ।'' उसने हाथ हिलाकर कहा।

मैं बस में बैठ गया। लेकिन '1857 के बाबा रामबुझावन' में मेरी दिलचस्पी बरकरार रही। मैं उस थ्री व्हीलर वाले से सारी कहानी जानना चाहता था। कई दिन मैं सेक्टर 15 के चौराहे पर गया, पर वह नहीं मिला। चूंकि भागदौड़ में मैं उससे उसका नाम नहीं पूछ पाया, इसलिए मैं दूसरे थ्री व्हीलर के पीछे लिखा है–'1857 के बाबा रामबुझावन' तो अधिकतर थ्री व्हीलर वालों ने अनभिज्ञता प्रकट की। एक दो ने कहा–''बाबूजी, हमने ऐसा कोई वाक्य एक थ्री वहीलर पर तो लिखा देखा है, पर हमें मालूम नहीं कि वह कहाँ रहता है।''

एक दिन शाम को मैं सेक्टर 15 के सब्जी मार्केट में सब्जियाँ खरीदकर लौट रहा था। पीछे से थ्री व्हीलर आया और मेरे पास आकर रुक गया। चूंकि अक्सर थ्री व्हीलरवाले सवारी लेने के चक्कर में मुसाफिरों को देखकर अपनी गाड़ी रोक लेते हैं, मैंने समझा कि यह थ्री व्हीलर वाला भी वैसा ही होगा। इसलिए मैं चुपचाप चलता रहा। लेकिन जब थ्री व्हीलरवाले ने हॉर्न बजाया तो मैंने पलटकर देखा! अरे! यह तो वही थ्री व्हीलर वाला है।

मैंने उससे पूछा, ''कहाँ जा रहे हो।''

''कहीं नहीं बाबू साहब। अब घर लौट रहा हूँ।''

''अरे तुमने! '1857 के बाबा रामबुझावन' वाली बात नहीं बतायी?''

''अगर आपके पास टाइम हो तो बताता

हूँ। चलिए! मेरे घर चलिए!'' दफ़्तर से थकाहारा लौटा था, इसलिए मैं उसके घर जाना नहीं चाहता था। पता नहीं वह किस तरह और किन गलियों में रहता होगा। मैंने उससे कहा ''चलो! तुम्हीं मेरे घर चलो।''

इस पर वह खुशी-खुशी राजी हो गया। मैं उसके थ्री व्हीलर पर बैठकर अपने घर आया। मेरी पत्नी ने जब घर के दरवाजे पर थ्री व्हीलर देखा तो वह चौंक गयी। दरअसल थ्री व्हीलर वाले सेक्टर 15 के चौक तक ही आते थे। वे किसी के घर के दरवाजे तक मुसाफिर नहीं छोड़ते थे, लेकिन जब कोई थ्री व्हीलर बुक कराकर ले आता था, तो वे दरवाजे तक भी आते थे। इसलिए मेरी पत्नी ने सोचा-लगता है कि पटना से कोई आया है लेकिन जब उसने मुझे सब्जी लिये उतरते देखा तो उसे कुछ समझ में नहीं आया। मैं जब घर के अंदर पहुँचा तो वह बोली–''इस थ्री व्हीलर वाले को यहाँ कैसे ले आये?''

मैंने कहा–''कुछ काम से लाया हूँ।''

''काम क्या है?''

मैंने रघुवीर दुसाध को भीतर आने के लिए आवाज़ दी तो पत्नी ने कहा–''इसे ड्राइंग रूप में क्यों बैठा रहे हो? बाहर ही बैठाओ न? मैं कुर्सी लाकर देती हूँ।''

''ड्राइंग रूप में बिठाने से तुम्हें क्या परेशानी है?''

''सवाल परेशानी का नहीं। किसी भी अपरिचित व्यक्ति को इस तरह घर के अंदर नहीं बिठाना चाहिए।''

''वह अपरिचित नहीं है।''

''मैंने तो उसे कभी देखा नहीं और न ही तुमने कभी इसके बारे में बताया।''

''यह बगेन का रहने वाला है जहाँ रागिनी की शादी हुई है।''

''चलो! अंदर ही बुला लो।''

लेकिन मैं पत्नी के इन सारे सवालों से ऊब चुका था। मैं और सरदर्द मोल लेना नहीं चाहता था। मैंने रघुवीर दुसाध को आवाज़ दी।

''चलो छत पर बैठते हैं। वहीं बातें करते हैं।''

रघुवीर मेरे पीछे-पीछे सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ छत पर आया।

मैंने उससे कहा कि कुर्सी पर बैठ जाओ तो वह फर्श पर बैठने लगा।

''अरे! नीचे क्यों बैठ रहे हो?''

''साहब लोगों के सामने कुर्सी पर बैठना ठीक नहीं लगता।''

मेरे लाख कहने पर भी वह मेरे सामने कुर्सी पर नहीं बैठा। मैं जानता था कि गाँवों में अब भी छोटी जातियों के लोग ठाकुरों और ब्राह्मणों के सामने कुर्सी पर बैठने की लियाकत नहीं करते। हालांकि अब उनमें एक नयी चेतना पैदा हुई है पर उनकी नई पीढ़ी में। पुरानी पीढ़ी के लोग अब भी सहमे और दुबके रहते हैं। वे ऊंची जाति के लोगों से कोई टकराव नहीं मोल लेना चाहते हैं।

छत पर रघुवीर दुसाध मुझे 1857 और बाबा रामबुझावन का क़िस्सा सुनाने लगा। बहुत ही दिलचस्प क़िस्सा था। पर मैं उस दिलचस्प किस्से को पूरी तरह आपके सामने अभी नहीं बताऊँगा।

रामबुझावन दरअसल रघुवीर दुसाध की सातवीं पीढ़ी के दादा थे। कभी वह बाबू कुंवर सिंह की पलटन में सिपाही थे। 1857 की क्रांति में वह भी शामिल थे। जब वीर कुंवर सिंह को गोली लगी थी, तो वह वहाँ मौजूद थे। एक गोली रामबुझावन के पैर में लगी थी। यह घटना कितनी सत्य थी– मैं नहीं जानता था, लेकिन रघुवीर दुसाध जिस तरह दिलचस्पी लेकर बता रहा था उससे मैं उसकी बातों पर यकीन कर रहा था। मैं इतिहास का विद्यार्थी ज़रूर था, लेकिन इतिहास की किताबों में साधारण सिपाहियों के किस्से मिलते नहीं। इसलिए मैं रघुवीर दुसाध की बातों को झुठला भी नहीं सकता था।

रघुवीर का कहना था कि उसने अपने दादा के मुँह से ये सारी बातें सुन रखी थीं और उसके दादा ने परदादा के मुँह से। इस तरह पीढ़ी-दर- पीढ़ी यह क़िस्सा चला आ रहा था।

फिर उसने बताया कि रामबुझावन के पैर में गोली लगी तो वे भी अपना पैर काट देना चाहते थे, लेकिन कैसे चल पाते? वीर कुंवर सिंह ने तो अपना हाथ काट दिया था। रामबुझावन की गोली पैर से निकल नहीं पायी और अंदर ही अंदर ज़हर फैलता गया। एक महीने के बाद रामबुझावन भी मर गये। वे जहाँ मरे, वहाँ बरगद का एक विशाल पेड़ था। यह पेड़ गांव के बाहर था। रामबुझावन सुबह शौच के लिए निकले थे। उनके साथ एक आदमी था उन्हें शौच के लिए सहारा देकर ले जाता था। शौच से निवृत्त होकर वह लौटे तो बरगद के पेड़ के नीचे उस आदमी की बांहों में झूलकर के मर गये।

रामबुझावन फिर बरगद का पेड़ बन गये। उनकी आत्मा वहीं पेड़ पर रहने लगी। रघुवीर दुसाध की ये बातें मुझे अवैज्ञानिक लगीं लेकिन वह जिस जज्बे के साथ कह रहा था उसे देखते हुए मैंने उसकी बातों को काटा नहीं। उसने बताया कि आज भी लोग बरगद के पेड़ की पूजा करते हैं और पेड़ को रामबुझावन बाबा के नाम से जानते हैं।

मैं रघुवीर दुसाध से और भी कई बातें जानना चाहता था लेकिन एक घंटा समय बीत गया तो मैंने ही उससे कहा, ''फिर कभी रविवार को बैठकर तुम्हारी कहानी और सुनेंगे।''

मैंने उससे चाय-पानी पूछा तो उसने सर हिलाकर मना कर दिया। जाते समय उसने कहा, ''मेरे दादाजी और परदादा भी आज़ादी की लड़ाई में जेल गये थे, लेकिन उनका कोई रिकार्ड जेल में नहीं मिला, इसलिए हमलोगों को आज तक कोई पेंशन नहीं मिल पायी। साहब! हम काफी घूम आए, कई नेताओं को पकड़ा, एक दलाल भी मिला, उसने कहा-पच्चीस हज़ार रुपये दो तो सारा काम बन जायेगा। लेकिन मेरी माँ ने पिताजी से कहा-पच्चीस

हज़ार देने में क्या हर्ज है? जेल तो वे लोग गये थे–यह बात तो पक्की है न? अगर कागज नहीं है तो कागज बनवाने में क्या गलती? लेकिन पिताजी ने कहा–''जो भी हो। कागज तो नकली ही होगा न? कभी जाँच हुई तो लोग क्या कहेंगे।'' मैंने फिर कहा–कितने ठाकुर और ब्राह्मण फर्जी पेंशन ले रहे हैं। आप यह क्यों नहीं देखते।'' पिताजी ने कहा–''देखो! मुझसे यह सब नहीं होगा। चाहे पेंशन मिले या न मिले। आज अगर पेंशन मिलती तो हमलोगों की पढ़ाई-लिखाई होती और हमें यह दुर्दिन न देखना पड़ता। इतनी उम्र में अब क्या करूँ? थ्री व्हीलर चलाकर गुज़ारा करता हूँ। अब किसी के सामने नौकरी क्या माँगू, कौन नौकरी देगा? बच्चों की पढ़ाई-लिखाई ठीक हो जाय तो उन्हें कोई काम-काज मिल जाय? आज के ज़माने में नौकरी मिलती भी कहाँ?''

मैं चुपचाप उसकी बातों को सुन रहा था। रघुवीर अपने समय का कड़वा सच कह रहा था।

''ठीक कह रहे हो रघुवीर। तुम मिलते रहना।''

मैं इस स्थिति में नहीं था कि रघुवीर दुसाध को कहीं नौकरी दिला सकूँ या उसके बच्चों का दाखिला केंद्रीय विद्यालय में करा सकूँ ताकि उसका ख़र्च कुछ कम हो जाये।

रघुवीर जाने लगा तो उसने कहा, ''साहब! वीर कुंवर सिंह के और भी किस्से हैं। कभी वक़्त हो तो मैं सुनाऊँगा। आपको पता है कि उनकी एक मुस्लिम पत्नी भी थी?''

मैंने पिछले दिनों किसी लेख या किताब में कहीं इसका जिक्र तो पढ़ा था।

''किसी और दिन सुनाना।''

उसके जाने के बाद पत्नी बोली–''इतने किस्से कहानी सुनकर क्या कीजिएगा। क्या आपको 1857 पर कोई किताब लिखनी है या वीर कुंवर सिंह पर कोई फ़िल्म बनानी है?''

''अरे नहीं! लेकिन सोच रहा हूँ कि जे.पी. सिंह से कहकर वीर कुंवर सिंह पर कोई नाटक क्यों न वसुंधरा में करवाऊँ।''

''आप भी कैसी बातें करते हैं। वसुंधरा में कोई वीर कुंवर सिंह का नाटक क्यों देखेगा। देखा नहीं, जब अपने बच्चों के लिए थियेटर वर्कशाप करवाया तो कितनी भीड़ जुटी थी। कितनी मुश्किल से लोग आये थे। पचास टेलीफोन तो आपने ही किये थे।''

''सुप्रिया! यह आइडिया अच्छा है। 1857 के 150 साल हो रहे हैं। जे.पी. सिंह को संस्थाएँ या सरकार मदद भी कर देंगी। अच्छा रहेगा, रघुवीर दुसाध को भी एक रोल हम दिलवा देंगे।''

''आप भी क्या-क्या सोचने लगते हैं? यह थ्री व्हीलर वाला नाटक में भाग लेगा?''

कुछ दिन के बाद मैंने जे.पी. सिंह को फ़ोन करके कहा तो वह नाटक करने पर राज़ी हो गये, लेकिन उनकी संस्था पंजीकृत नहीं थी। ग़ैर पंजीकृत संस्था पंजीकृत करवायी। इसमें क़रीब एक महीने का समय लगा। यह भी काम इसलिए जल्दी हो गया कि रजिस्ट्रार ऑफ़िस मेरा एक परिचित अधिकारी था। आजकल यहाँ भी दो-चार हज़ार दिये बग़ैर काम नहीं होता था।

फिर जे.पी. सिंह ने संस्कृति मंत्रालय से अनुदान के लिए आवेदन किया। मैंने भी अखबार में पढ़ रखा था कि सरकार 1857 के 150 वर्ष मनाने के लिए 100 करोड़ रुपये ख़र्च कर रही है।

एक महीने तक तो हमें हमारे आवेदन पत्र का पता ही नहीं चला। फ़ोन करने पर अधिकारी सीट पर नहीं होते। एक दो बार मिलने गया तो पता चला कि अधिकारी मीटिंग में गये हैं। एक दिन बड़ी मुश्किल से एक अधिकारी फोन पर आया तो उसने कहा कि जब 1857 वाली कमेटी की बैठक होगी तब अनुदान की फाइलों पर विचार होगा। फिर उसने यह भी पेंच लगाया कि हम तो उन्हीं संस्थाओं को ग्रांट देते हैं जो तीन साल से पंजीकृत हैं। आपकी संस्था का रजिस्ट्रेशन तो इसी साल हुआ। अंत में हम लोगों ने संस्कृति मंत्रालय से अनुदान लेने का विचार त्याग दिया। मेरे कुछ सहपाठी इनकम टैक्स में अधिकारी थे। मैंने जब उनसे कहा तो उन्होंने कहा कि वह कुछ कंपनियों से विज्ञापन दिलवा देंगे पर शर्त यह रहेगी कि उनके आदमियों को मुख्य अतिथि या विशिष्ट अतिथि आदि बनाना होगा।

शुरू में जे.पी. सिंह इसके लिए तैयार नहीं थे। वे एन.एस.डी. के लोगों को अतिथि बनाना चाहते थे, लेकिन जब मैंने यह कहा कि विज्ञापन नहीं मिलेंगे तो वह राज़ी हो गये और स्मारिका के लिए हमने 25-30 हज़ार रुपये इकट्ठे कर लिये। हमें लगा कि अब हम नाटक कर पायेंगे। कुछ दिन में नाटक की रिहर्सल भी हमने शुरू कर दी। रघुवीर दुसाध के सामने हमने जब यह प्रस्ताव रखा कि तुम वीर कुंवर सिंह का रोल करो तो पहले उसने मना किया।

''देखिए! हमें रोज़ दो-तीन घंटे रिहर्सल करनी पड़ेगी। हम थ्री व्हीलर कैसे चला पायेंगे! मेरी रोज़ी-रोटी का नुक़सान होगा?''

''दस पंद्रह दिन की बात है रघुवीर। तुम्हें जितना नुक़सान होगा, हम उसकी भरपाई भी कर देंगे।'' दरअसल उसकी कद-काठी वीर कुंवर सिंह से मिलती-जुलती थी।

तब जाकर रघुवीर तैयार हुआ। वह वीर कुंवर सिंह का रोल पाकर बहुत खुश था। उसने बताया कि वह कभी रामलीला में पार्ट किया करता था। इसलिए थोड़ा-बहुत अभिनय जानात था। जे.पी. सिंह ने बहुत सुंदर नाटक तैयार किया। नाटक में हमने वीर कुंवर सिंह की मुस्लिम पत्नी वाले प्रसंग को भी रखा। इस बीच दो-तीन दिन पहले स्मारिका भी छप गयी। कुछ स्मारिकाएँ हम लोगों ने पहले मुहल्ले के कुछ प्रमुख लोगों को बाँट दीं ताकि थोड़ा

पूर्व प्रचार हो जाये। तीन-चार जगह हमलोगों ने बैनर और पोस्टर भी लगा दिये।

जिस दिन नाटक होने वाला था, रघुवीर दुसाध बहुत प्रफुल्लित था। मेरी पत्नी, बच्चे और माँ-पिता भी नाटक देखने गये। मैंने भी वसुंधरा के पूर्वी क्षेत्र के लोगों को नाटक की सूचना दे दी थी। उसमें बिहार और यू.पी. के लोग थे। इस तरह मुहल्ले में थोड़ा-बहुत प्रचार हो गया। कुछ स्कूलों में जाकर भी हमने वहाँ नोटिस बोर्ड पर सूचना लगवा दी थी।

नाटक शुरू होते वक्त दो-ढाई सौ लोगों की भीड़ जमा हो गयी। हम लोग सभागार के अंदर थे। ग्रीन रूम में कलाकार अपना मेकअप कर रहे थे। रघुवीर दुसाध भी मेकअप कर अपना डॉयलॉग याद कर रहा था। वह हू-ब-हू वीर कुंवर सिंह की तरह दिख रहा था।

सभागार का दरवाज़ा खुला। लोग धीरे-धीरे सीटों पर बैठने लगे थे। मंच का पर्दा हटा। हॉल की रोशनी गुल हुई और दरवाजा जैसे ही बंद हुआ, बाहर नारेबाजी होने लगी और शोर-शराबा सुनायी पड़ा। कुछ ही देर में हॉल का दरवाज़ा टूट गया और पच्चीस-तीस लोग नारे लगाते हुए हॉल के अंदर घुस गये और मंच पर चढ़ गये। हमें यह माजरा ही समझ में नहीं आया। अचानक यह क्या हो गया।

हॉल में भगदड़ मच गयी। लोग सहम गये। मुझे थोड़ी देर तक समझ में नहीं आया कि मामला क्या है? कुछ गुंडे किस्म के लोग ग्रीन रूम में घुस आये।

वे चिल्लाने लगे–

''किधर है साला वीर कुंवर सिंह?''

मैंने समझा कि रघुवीर दुसाध से किसी की दुश्मनी होगी-वे लोग उसे मारने-पीटने चले आये हैं। पर जब उन गुंडों में से एक आदमी को यह बोलते सुना तो मैं दंग रह गया।

एक गुंडा रघुवीर दुसाध का कालर पकड़ कर चिल्ला रहा था–''हिंदू समाज को बदनाम क्यों करता है। वीर कुंवर सिंह को शादी करने के लिए मुस्लिम औरत ही मिली थी क्या? साला! तुम लोग धर्म को भ्रष्ट करता है। चल! बाहर निकल। देखते हैं। कैसे तू नाटक करता है।''

मैं स्थिति को नाजुक देख अपने मोबाइल से पुलिस को फ़ोन करने लगा। तभी गुंडे ने मेरा मोबाइल छीन लिया और एक थप्पड़ मेरे गालों पर रसीद कर दिया। एक गुंडा जे.पी. सिंह का कालर खींच कर घसीटे जा रहा था। थोड़ी ही देर में चारों तरफ चीख पुकार मच गयी। लोग हॉल से बाहर निकल गये। सारा नाटक चौपट हो गया। उन गुंडों से हमें बचाने कोई नहीं आया। वे गुंडे भी जल्द ही नौ-दो ग्यारह हो गये।

इस घटना के दस मिनट बाद पुलिस की वैन आयी। उसने हम लोगों से पूछताछ की। जे.पी. और मैंने सारी कहानी उन्हें बता दी। पुलिस ने सारी रिपोर्ट लिख ली। इस मार-पीट में रघुवीर दुसाध घायल हो गया। उसके पैरों में चोट आ गयी। उसे हमलोग नर्सिंग होम ले गये। डॉक्टर ने पैर का एक्स-रे करने के बाद बताया कि रघुवीर दुसाध को फ्रैक्चर हो गया है उसकी पत्नी और बच्चे रोने लगे। ज़हिर है, वह दो-तीन महीने तक थ्री-व्हीलर चलाने की स्थिति में नहीं था। अब सवाल था कि तीन-महीने तक उसके परिवार को कौन खिलाये। जे.पी. सिंह ने हाथ खड़े कर दिये। मेरी पत्नी ने कोने में ले जाकर कहा–'आपको इस तरह के नाटक करने की क्या ज़रूरत थी? मुस्लिम पत्नी वाला प्रसंग आपने क्यों डाला? आप टी. वी. पर देखते नहीं, भोपाल में एक हिंदू लड़की ने मुस्लिम लड़के से शादी की तो कितना हंगामा खड़ा हो गया। आप इस नाटक से क्या संदेश देना चाहते हैं?'

मुझे पत्नी की बातें बुरी नहीं लगीं, लेकिन मैं इस अपराध बोध से ग्रसित था कि रघुवीर दुसाध को मैंने ख़ामख़्वाह कहाँ फँसा दिया। अस्पताल के बेड पर पहुंच रघुवीर मुस्कुरा रहा था। वह बोला–

''कसूरवार तो मैं हूँ। मैंने आपको वीर कुंवर सिंह और उनकी मुस्लिम पत्नी का क़िस्सा नहीं सुनाया होता तो आप उसे नाटक में डालते नहीं। आप मेरी चिंता न करें। हम गरीबों के साथ तो यह सब होता रहता है।''

मैं निरुत्तर होकर रघुवीर की बातें सुनता रहा। मुझे कुछ समझ में नहीं आ राह था कि मैं क्या करूँ।

फिर रघुवीर दुसाध ने कराहते हुए धीरे से मेरे कान में कहा–''जिन लोगों ने हंगामा मचाया, मैं उन सबको जानता हूँ। चेहरे से ही नहीं, बल्कि नाम से भी जानता हूँ। उनमें भाजपा और कांग्रेसी दोनों हैं। वे गुंडे नहीं हैं। उनमें तो कई पढ़े-लिखे और कई काम करते हैं। मेरे थ्री व्हीलर में बैठकर आनंद विहार से आते हैं और वसुंधरा की कोठियों में रहते हैं।''

मैं अस्पताल से बाहर निकला तो रेजीडेंट वेलफेयर एसोसिएशन के अध्यक्ष मल्होत्रा ने मुझसे कहा–''आपकी स्मारिका मुझे मिली। मैंने आपसे कहा था कि इस नाटक से मुस्लिम औरत वाला सीन हटा दीजिए। पर आप प्रोगेसिव लोग पता नहीं क्यों धार्मिक भावनाओं को ठोस पहुँचाते रहते हैं। हिंदू समाज को पीछे ले जाने में हिंदुओं का ही बड़ा हाथ है।''

मैं निरुत्तर होकर रघुवीर की बातें सुनता रहा। मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ।

''आप ठीक कह रहे हैं। मैं भी यही मानता हूँ।''

''लेकिन आप तो व्यंग्य कर रहे हैं?''

''नहीं तो?'' यह कहकर मैं धड़धड़ाता हुआ नीचे उतर गया। मैं मल्होत्रा साहब से बात करने के मूड में नहीं था।

तभी पुलिस की गाड़ी मेरे सामने रुकी। उसमें से एक सिपाही नीचे उतरा और बोला–''चलिए! एस.पी. साहब आपको बुला रहे हैं।'' मैं भी गाड़ी पर बैठ गया और गाज़ियाबाद एस.पी. से मिलने चला

गया।

पहले तो एस.पी. मुझ पर काफ़ी बरसा। आप लोगों को भी नाटक सोच-समझ कर करना चाहिए।

फिर उसने कहा–"देखिए नाटक करने का मेरा भी बड़ा शौक रहा है। मैं दिल्ली विश्वविद्यालय में कॉलेज के दिनों में नाटक भी करता था"

"आप किस कॉलेज में थे?"

"हिंदू में।"

"मैं भी तो उसी कॉलेज में था।"

"किस बैच में।"

"1986-88।"

"उसी बैच में मैं भी था।"

"आप प्रशांत को जानते होंगे?"

"हाँ-हाँ वह इनकम टैक्स में है।"

"वह मेरा बचपन का दोस्त है।" जब इतनी बातें हो गयीं तो मुझे एस.पी. से मिलना अच्छा लगा। मुझे उम्मीद थी कि वह इस घटना के उपराधियों को पकड़वाने में मेरी मदद करेगा।

एक सप्ताह बाद गाज़ियाबाद पुलिस से फोन आया। आपसे एस.पी. साहब मिलना चाहते हैं। मुझे लगा कि पुलिस ने गुंडों को पकड़ा होगा और वे उसकी शिनाख़्त करना चाह रहे होंगे।

मैं जब एस.पी. के चैम्बर में गया तो एस.पी. बोला-"मैं आपकी पूरी मदद करना चाहता हूँ, पर लाचार हूँ। धार्मिक भावनाएं भड़काने के जुर्म में आपको गिरफ्तार करने के लिए वारंट जारी किया जायेगा। ऊपर से ऑर्डर है। चूंकि आप मेरे कॉलेज के हैं, मैंने आपको बता दिया। आप अपनी अग्रिम जमानत की व्यवस्था कर लें। वकील की ज़रूरत हो तो मैं दिलवा दूँगा। बाद में मैं केस भी रफ़ा-दफ़ा करवा दूँगा, लेकिन फ़िलहाल जब तक डी.आई.जी. हैं मैं आपकी ज़्यादा मदद नहीं कर सकता।"

मेरे पैरों तले की ज़मीन खिसक गयी। मैं किस चक्कर में फंस गया। मेरा मन खिन्न हो गया था। घर आकर चुपचाप सो गया। अगले दिन अख़बार में ख़बर छपी कि प्रधानमंत्री ने विज्ञान भवन में 1857 के संग्राम में हिंदु-मुस्लिम एकता का बखान किया और वीर कुंवर सिंह को धर्मनिरपेक्ष बताया। अपने देश के नेताओं के भाषण सुन-सुन कर मैं बोर हो गया था।

तभी किसी ने दरवाज़ा खटखटाया। दरवाज़ा खोला तो देखा कि मुहल्ले के ढेर सारे बच्चे खड़े हैं। उनमें से एक बड़ा बच्चा मेरे पास आया। यह रेजीडेंट्स वेलफेयर एसोसिएशन के प्रेसीडेंट मल्होत्रा साहब का बच्चा था। उसने मुझसे कहा–"अंकल! हम लोग स्कूल में वीर कुंवर सिंह पर नाटक खेलना चाहते हैं। आप हमें स्क्रिप्ट दिलवा दीजिए।"

मेरी आँखों में आँसू आ गये। मैंने उस बच्चे को गले से लगा लिया। थोड़ी देर के लिए मुझे गहरा सुकून मिला। मैं उनसे नज़रें बचाता हुआ अपने आँसुओं को पोंछने लगा। एक बच्चा हँसते हुए बोला–"अंकल! रिहर्सल आपको ही करवानी होगी।" मैं अपनी हंसी रोक नहीं पाया। मैं भी उन बच्चों के साथ हँस पड़ा।

रेडियो पर गाना बज रहा था–

"कर चले हम फिदा जान ओ तन साथियों,

अब तुम्हारे हवाले वतन साथियों।"

–नया पथ से साभार

लौह पुरुष सरदार पटेल की 132वीं जयंती पर हमारी

हार्दिक शुभकामनाएँ

विनोद कुमार

मे. सतोष सीमेन्ट

खगौल रोड, मीठापुर, पटना-9

स्व. सिद्धेश्वर सिंह विचार दृष्टि से आजीवन जुड़े रहे। इसके नियमित प्रकाशन में उनका सदैव सहयोग रहा। लौह पुरुष सरदार पटेल की 132वीं जयंती पर प्रकाशित विचार दृष्टि के 1857-जंगे आजादी विशेषांक के लिए सिद्धेश्वर कॉम्पलेक्स की ओर से हमारी शुभकामनाएँ

प्रोपराइटर

सिद्धेश्वर कॉम्पलेक्स

सिद्धेश्वर कॉम्पलेक्स

खगौल रोड, मीठापुर, पटना-9

1857 हिंदी जंगे आजादी विशेषांक

DENSA

PHARMACEUTICALS PVT. LTD.

Fact. Add. :Plot No. 10, Dewan & Sons Udyog Nagar,
Taluka Palghar, Dist. Thane, MAHARASHTRA
Phone No.: (952525) 55285, 54471, Fax: 55286

&

DANBAXY

PHARMACEUTICALS PVT. LTD.
(SOFT GELATIN)

Fact. Add: Plot No. K-38, MIDC Tarapur,

Dahisar, Dist. Thane, MAHARASHTRA

Office Address:

1, Anurag Mansion, Ashokvan,
Shiv Vallabh Raod, Dahisar (E),
Mumbai-400068
Phone No.: 28974777, Fax: 28972458
MR. DEVENDRA KUMAR SINGH, C.M.D

Tele. : 0612-2352480

THE PEOPLE'S CO-OPERATIVE HOUSE CONSTRUCTION SOCIETY LTD.

KANKERBAGH, PATNA-800020.

HIGHLIGHTS:

1. For members of lower & middle income group of people this society is said to be one of the largest co-operative house construction societies in Asia.
2. In the first phase 131.12 acres of land acquired by Government of Bihar were handed over to this society.
3. The society has got an opportunity to attract 1730 members from lower income group of people.
4. In all 1600 plots were bifurcated in planning out of which 10 plots were reserved for community hall, office building, godown and four-storied building for common utilities.
5. 1400 houses have so far been constructed by the members.
6. 500 members have been given housing loan through this society.
7. Boundary walls in 15 parks have already been constructed by the society.
8. In most of the sectors metalled & cemented roads have also been construcred.
9. Efforts are being made to improve the drainage system, to have plantation and lighting facilities.
10. In the second phase 7 acres of land have been purchased at Jaganpura village in which six houses have been constructed so far.
11. Out of 96 plots 95 plots have already been allotted to the members and one plot has been reserved for common utilities.
12. The society makes available its community hall to the members on priority basis for the marriage ceremony of their sons & daughters at half of the preseribed charges.
13. As far as possible the society tries to provide street light, maintain roads, clean manholes, construct park and other development activities.
14. All those members who have not filled up their nominee forms as yet are requested to deposit the forms duly filled in after getting the forms from the office of the society.

WITH REGARDS TO THE MEMBERS.

L.P.K. Rajgrihar	**Sidheshwar Prasad**	**Prof. M.P. Sinha**
Chairman	Vice Chairman	Secrectary

कहानी

आतंकवादी की माँ

–श्रीमती शुक्ला चौधरी

अस्थायी सेना शिविर के एक ओर पड़ी थी, वो मैली कुचली साड़ी पहने, अधपके उलझे बालोंवाली, शरीर के हर एक अंग से दैन्य दर्शाने वाली, आँखों के नीचे दो इंच गहरे खाई में, दुनिया भर का दर्द छुपाने वाली- वो थी आतंकवादी की माँ।

विश्वास नहीं आता कि इसी के बेटे ने कल एक सैनिकों से भरी जीप उड़ा दी थी और यूँ गायब हो गया था जैसे हवा में धुआँ। सारे इलाके में नाकाबंदी कर दी गई थी पर न वो मिला और न उसके साथी। हाँ पूछताछ करने पर उसके घर का पता मिला और मिल गई ये बुढ़िया-आतंकवादी की माँ।

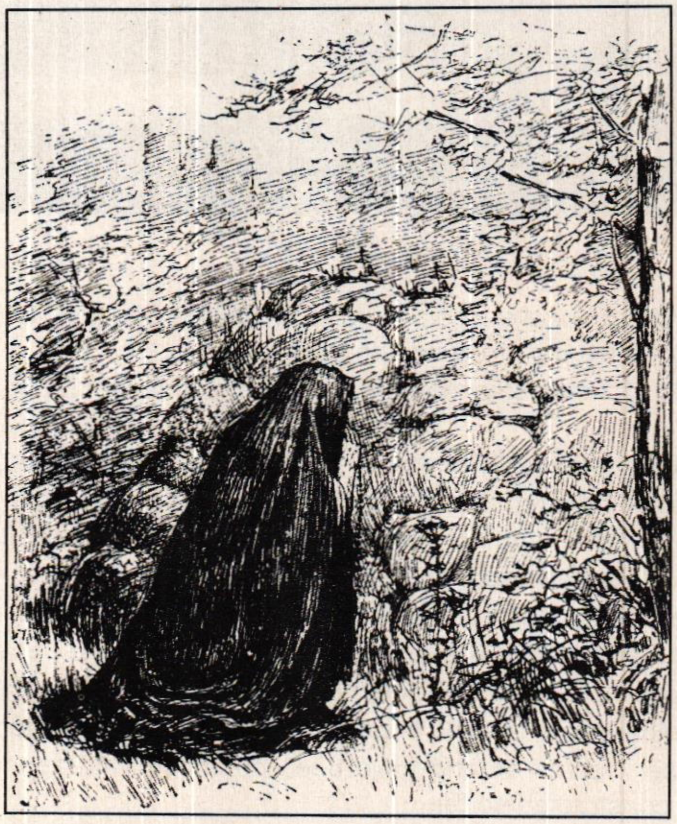

कप्तान, मेजर, कर्नल, सभी बड़े-बड़े अफसरों का सुबह से छावनी में ताँता लगा हुआ था। मेजर राजेश समझ नहीं पा रहे थे कि वे पूछताछ की कार्यवाही पर अधिक ध्यान दें या इन अफसरों के आवभगत पर। ऊपर से कफन से मँगवाना, उन्हें सैनिक सज्जा देना, शहीदों के नाम और पते के अनुसार उन्हें उनके घरवालों तक पहुँचाना, उपर दिल का दर्द। सैनिक चाहे कितना भी सक्त बनने की कोशिश करे, इन्सान ही है आखिर। साथियों की मौत का ग़म तो होगा ही। इसी उधेड़ बुन में वो अपनी कुर्सी पर बैठने ही वाला था कि उसकी नजर पड़ी कमरे के कोने में पड़ी उस आतंकवादी की माँ पर। दीवार की तरफ पीठ करके कराह रही थी वो। सहसा उसे ख्याल आया कि पिछले महीने जब वो माँ की बीमारी की खबर सुनकर घर गया था, तो उसकी माँ भी इसी तरह उसकी तरफ पीठ करके कराह रही थी। तो क्या जब चेहरा नजर नहीं आता तो हर बीमार माँ एक जैसी लगती है? फर्क बस इतना था कि ये मैली-कुचली साड़ी में फर्श पर लेटी लोगों की यातनाएँ सह रही हैं और उसकी माँ दूध जैसी सफेद साड़ी में आलीशान पलंग में लेटी वफादार नौकरों से घिरी थी, पर दर्द का अहसास? क्या वो सभी माँओं को एक जैसा कष्ट नहीं देता? एक सूत्र में नहीं बाँधता? नहीं-नहीं ये कैसे हो सकता है? कहाँ उसकी माँ और कहाँ ये आतंकवादी की माँ।

आतंकवादी शब्द से उसे ख्याल आया कि इसी के बेटे ने कल सैनिकों से भरी एक गाड़ी विस्फोट से उड़ा दी थी और ऐसे कितनी ही माँ की गोद सूनी कर दी थी। अब राजेश से नहीं रहा गया और वो तेजी से उस बुढ़िया की तरफ लपका अपने बूट के नोक से बुढ़िया पर एक और लात जमा दी। बुढ़िया जोरों से चीख पड़ी- हाँ हाँ मारो, और मारो मुझे। मैं ही हूँ वो आतंकवादी की माँ। दिन-रात अपने ही कोख के संतान को कोसने वाली वो अभागिन माँ मैं ही हूँ। मेरे ही बेटे ने आतंक फैला रखा है, तुम्हारे देश, तुम्हारे समाज में। मैं कहती हूँ कहाँ था तुम्हारा-ये देश जब मेरा फूल सा बेटा धीरे धीरे पत्थर बन रहा था? कहाँ था तुम्हारा ये समाज जब उसका बाप उसके दूध के पैसे से शराब पीता था? कहाँ थे तुम लोग जब वो स्कूल जाने की इच्छा मन में दबाकर रूखी-सूखी रोटी के लिए सेठ की दुकान में काम करता था और रोज किसी न किसी बहाने से पिटता था। आज तुम लोगों को उसकी याद आई पर कहाँ थे तुम लोग उस दिन जब वो ....''

और फिर अंदर किसी गहराई से एक हिचकी आई और वो चीख शांत हो गई। वो जुबान, जो इतने दिनों तक अपने संतान को चुपचाप कोस रहे थे, शरीर की पूरी शक्ति को निचोड़ कर चीख बनकर निकले थे। प्राण पखेरू उड़ चले बुढ़िया के। इस आतंक भरी दुनिया को छोड़कर चली गयीं आतंकवादी की माँ।

संपर्क: हिंदी शिक्षिका-साहित्यकार
22/सी, जगतराम चौधरी रोड, पो०-बरिशा, कोलकाता-8
फोन-033-24474513

सागर संध्या का शिल्प और संदेश

–बंशीधर सिंह

यदि कविता शिल्प की साधना और भाषा-भंगी की भासिता है तो निश्चय ही मनु सिंह द्वारा विरचित कविता संग्रह 'सागर संध्या' एक कृच्छ साधना है। इसलिए इसमें भाषा की दीप्ति की अपेक्षा कहीं संदेश की मुखरता है। इसमें बौद्धिक विधान की जगह अनुभूति का वर्णन किया है। पुस्तक का आवरण जितना ही नयनाभिराम है, उसका आंतर लोक उतना ही उखड़ा-रूखड़ा और ख़ौफनाक है। देहात्म के द्वंद्व से लेकर समाज के संघर्ष तक प्रसरित यह काव्यकृति अपने समझ के संभास, विपर्यास और अध्याहार को सचकित समीक्षा करती है। समीक्षा इस रूप में कि कवि इसमें वस्तु-वर्णन तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसकी दृष्टि समीक्षात्मक और उसकी मुद्रा अंततः संदेशात्मक हो गई है। अतः इस कृति में मनु सिंह एक कवि, समीक्षक और उपदेशक के रूप में साथ साथ दृष्टिगोचर होते हैं। यदि कविता सौंदर्य की सृष्टि से आगे संदेश प्रेक्षण तक जाती है तो इससे उसका शिल्प भले ही शिलीभूत होता हो, संदेश अवश्य ही फलीभूत हो जाता है। अपने प्राक्कथन में कवि ने लिखा भी है: अपने समय की कुव्यवस्था को अपनी बुलंद आवाज प्रदान कर आमूल परिवर्तन का आह्वान करता है कवि। 'सागर सांध्या' का कवि सांध्य- जीवन का कवि नहीं है, वह देदीप्यमान दिनमान और दग्धमान दिवस का कवि है। विसंगति और अव्यवस्था के विरूद्ध सुसंगति और सुव्यवस्था का कवि है, अंधकार के विरूद्ध आलोक का कवि है। 'सागर संध्या' एक ध्वन्यर्थ काव्य भी है जो गणितीय पाठ से आगे अपने प्रतीकत्व में सागर की प्रचण्डता और उसकी उत्तुंग लहरों के विरूद्ध मनुष्य की जिजीविषा और विजिगीषा आलंबन बन जाता है। सागर की विशालता-विराटता, और उसकी अपरिमित शक्ति भी मानव के संघर्ष, साहस और शक्ति के समक्ष शक्तिहीन और छोटा पड़ जाता है। सागर यद्यपि अपनी विराटता और शक्तिमत्ता में अद्वितीय होता है, तथापि सदियों से मानव को भयाक्रांत करने वाला सागर श्रीराम के अतुल बल एवं शक्ति शह-संधाम के समक्ष शक्तिहीन हो जाता है- नत-मस्तक हो जाता है, मानव के विजयाभियान में रास्ता दे देता है। यही 'सागर की संध्या' है। सागर का सूर्य शाम को उसके पीछे छिपकर दिवस के अवसान की संसूचना देता है। गर्जन-तर्जन करने वाला सूरज अपने अवसान की नीरव घोषणा करता है। अतः इस काव्य पुस्तक का शीर्षक अत्यंत ही अर्थ-मर्मी है, सागर की विराटता भी असीम नहीं है, वह मानव के पराक्रम के आगे तेजहीन हो जाता है। यदि सागर प्रकृति की विराटता और वैभव का प्रतीक है तो मनुष्य उसकी विराटता पर, वैभव पर अपने अभियानी चरण रोपता है। मनुष्य की पग-शिलाएँ सागर के जल पर संतरण-संचरण करती हुई उसकी विजय पताका लहराती चलती है। प्रकृति पर नियंत्रण करने वाला सृष्टि में मनुष्य ही वह प्राणी है जो बड़ी-बड़ी बाधाओं को पारकर-उन्हें दूर कर विकास, प्रकाश और उद्भास का मार्ग प्रशस्त करता है। अतः इसका शीर्षक सार्थक भी है और अर्थ-गांभीर्य से पूर्ण भी।

इस काव्य-संग्रह की छोटी-छोटी चीजें भी गहन अर्थ से भरी हुई हैं। 'जुगनू' कविता में लघुता को महत्ता प्रदान की गई है। जुगनू एक छोटा-सा जंतु या प्राणी है जिसे खद्योत भी कहते हैं। वह आकार-प्रकार में छोटा होता हुआ भी अपने अंतस से प्रकाश उगलता है, राही को राह दिखाता हैं वास्तव में जुगनू सृष्टि पर एक अनमोल रत्न है- आलोक-बिंदु/कवि सुमित्रानंदन पंत की कविता में प्रयुक्त जुगनू अलक्षित रूप में पथ आलोकित करता है- 'न जाने खद्योतों के मिस कौन, मुझे पथ दिखलाता है मौन', किंतु मनु का जुगनू तो प्रत्यक्ष और परिलक्षित है-साक्षात् खद्योत-प्रकाश का घनीभूत बिंदु। प्रकाश उगलता यह जुगनू औरों को राह दिखाता है। वास्तव में प्रकृति का अनमोल प्राणी है जुगनू-अंधेरे में रत्न-प्रकाश है जुगनू। अणु में आलोक-बिंदु, बिंदु में प्रकाशपुँज।

मनु सिंह विचारों के ही नहीं, संवेदन के भी कवि हैं। यद्यपि इनकी कविताओं में विचार यत्र-तत्र सर्वत्र संचरण करते रहते हैं-एक हद तक उतराते-इतराते फिरते हैं, किंतु संवेग और संवेदन भी इनकी कविता में कम नहीं हैं। सच तो यह है कि इनकी कविता दर्द की वाणी बन जाती हैं नीर भरे नयनों की भाषा-दर्द की परिभाषा। वास्तव में आँसू मानव के अनमोल रत्नमणि हैं जो नयनों में उतरकर अपनी महिमा एवं महार्घता प्रकट करते हैं। नीर भरे नयनों और व्यथित तन-मन को व्यथा कथा कोई भाव प्रवण कवि ही कह सकता है। जो दर्द से गुजरे होते हैं, वे ही दर्द की भाषा और परिभाषा समझ पाते हैं, किंतु दर्द का उपहास करने वाले- आँसू को हास कहने वाले बेदवी ही नहीं, टुच्चे और ओछे भी होते हैं। जो दर्द को सहते हुए-पीड़ा को पीते हुए अपनी राह बनाते है, वे ही अपनी मंजिल भी पाते हैं तथा दर्द की भाषा भी समझते हैं। भावों-विभावों का दादात्मीकरण करने वाला ही सच्चा भावक होता है- 'सहा है दर्द जिसने! कठिन राहों से चल। जिसने मंजिल को पाया है। जीवन की सूनी राहों पर चल. ... वे ही कदम जानते दर्द की भाषा'।

खुद रोने वाला आदमी ही रूदन का सही 'पाठ' कर सकता है। जीवन-युद्ध में हारने वाला कोई अकेला नहीं है कवि।

इतिहास में अमरत्व पाने वाले विश्व विजयी सिकंदर और सम्राट अशोक को भी हारना पड़ा था, और अपना मार्ग बदलना पड़ा था। अतएव हार-जीत, सुख-दुख तो जीवन का क्रम है- नियम है। जय-विजय जीवन-यात्रा के भिन्न किंतु अनिवार्य चरण हैं। इस प्रकार इस काव्य-संग्रह में मनु सिंह का विचार-आयतन व्यापक है, भावना का आयाम विस्तृत है; कविताएँ धारदार और असरदार हैं, इसमें आकुल पुकार भी है और हुंकार भी। इसमें रस-रंजकता भी है और बौद्धिकता भी। संवेगों और विचारों से बनी यह कविता-पुस्तक आकुल पुकार हुंकार और तलवार का एक ही साथ पयार्य बन गई है।

प्रस्तुत संकलन की कविताएँ हमारे समय और समाज की मान्यताओं- परंपराओं की स्वीकृति की अपेक्षाकृत कहीं परिष्कृति को पक्ष में खड़ी हैं। विसंगत को सुसंगत बनाने के निमित्त नैतिक सक्रियता के साथ उपस्थित हैं ये कविताएँ। इसमें संकलित रचनाएँ व्यवस्थाजन्य विसंगति पर ही प्रहार नहीं करतीं, उन राजनेताओं के द्विधाग्रस्त चेहरे और चरित्र को भी बेनकाव करती है। जो अपने स्वार्थ में अनैतिक कार्यों में संलिपत रहते हैं तथा जन-जीवन में विष घोलते रहते हैं। आज राष्ट्रीय संप्रभुता, अस्मिता और अस्तित्व पर जो खतरे उपस्थित है साम्राज्यवादी-पूँजीवादी शक्तियों द्वारा ही प्रस्तुत किये गये हैं। उपनिवेशवादी शक्तियाँ आज न तो इस्ट इंडिया कम्पनी के रूप में हाजिर हैं और न हीं मुगलिया सल्तनत के रूप में, बल्कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और सर्वशक्ति-सत्ता संपन्न साम्राज्यवादी वर्चस्ववादी अमरीकी वित्तीय पूँजी की शक्ति के रूप में उपस्थित हैं आज उपनिवेशवाद का नहीं, उत्तर-उपनिवेशवाद का युग है जिसमें एकाधिकारवादी प्रवृत्तियाँ और दास्ता के साथ ही मुक्ति की स्मृतियाँ भी संचित है। भारत को सब तरह से निगलने की चेष्टाएँ अब अनजानी नहीं रह गई हैं। कवि के शब्दों में -

गुलामी से मुक्ति का जंग
भूख से मुक्ति का जंग
लड़ा गया लड़ा जा रहा

आज साम्राज्यवाद और संप्रदायवाद मिलकर कहीं जातीय विद्वेष फैला रहे है। तो कहीं सांप्रदयायिक दंगे भड़का-लड़ा रहे हैं। इन मठ महंतों ने भारत की एकता और संप्रभुता पर खतरे उत्पन्न करने में भी कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। किंतु महाराणा प्रताप, वीरकुंवर सिंह और भगत सिंह के प्रत्यक्ष न रहने पर भी उनकी वीरता और देश भक्ति की भावना समाप्त नहीं हो गई है, कवि को विश्वास है कि 'आज नहीं तो कल देश भक्ति की लहर दौड़ेगी'। जो भूखी जनता की रोटी छीनते हैं वे ही अपने को राष्ट्र का प्रहरी भी कहते हैं। बापू को एक नाथू ने मारा था, परंतु कवि उन्हें संबोधित करते हुए कहता है-

''और तुम तो
लाखों को मार रहे
भूखी जनता की
रोटी छीन रहे
(और) बताते हो- गरीबों का पहरेदार।''

इन नायकनुमा खलनायकों पर व्यंग्य वाण छोड़ता कवि न केवल अपनी देशभक्ति का परिचय देता है, बल्कि मानवतावादी सोच और दृष्टिकोण का भी परिचय प्रस्तुत करता है। आज के पूँजीवादी 'नेतृत्व ने सब तंत्र अपने ही वश में' कर लिया है। अत: मक्ति-मुहिम का पहरुया और सिपाही तो नयी जनशक्ति ही हैं कवि ने सीधे-सादे शब्दों में बड़ी सहजता और सरलता से लिखा है-

जनता-जनार्दन को पता है
ठिकाना मुक्तिद्वार का।

परंतु किंतु प्रथम प्रजातंत्र के देश में आज का परिवेश इतना धूमिल और कुहरीला हो गया है कि प्रजातंत्र की पावन धरती भी अपवित्र हो गई हैं सुकुन और शुचिता गायब है-अजीब विडंबना है- चारों ओर कोलाहल है प्रतिरोध की राजनीति को तेज करने के लिए कवि, बुद्ध और गाँधी को याद करता है तथा नवजीवन की कामना करता है-

महा समर दिखता है आगे जरूर
पर इस समर का अंत
और उषा में नवजीवन
का संचार तथा
यौवन में स्पंदन तो
आना ही है
बस, केवल सार्थक संघर्ष
का ले साथ
कुछ कदम और चलें हम।

कुछ कदम और चलने से ही रास्ता कटता है और मंजिल मिलती है। कवि मनु सिंह साधन और साध्य-दोनों की शुचिता की संरचना करते हुए उस मानवतावादी लक्ष्य की ओर जाना चाहते हैं जहाँ शक्ति की अपेक्षा मुक्ति है। मुक्ति-चेतना से संवलित 'सागर संध्या' की कविताएँ अपनी सादगीपूर्ण पस्तुति में भी प्रगविष्णु बन पाई हैं तो इसलिए भी कि इसमें कवि की अकृतिम आत्मा की पुकार है और भावनाओं का उद्गार है। अगले पड़ाव पर जब कवि मनु सिंह मिलेंगे तो न केवल भावनाओं के उद्गार और विचार के साथ, अपितु भाषा के निवेदन के साथ भी। साहित्य-साधना में निरत मनु सिंह निश्चय ही इस कलाकृति के लिए बधाई के पात्र हैं। मेरी अशेष शुभकामना कवि के साथ हैं।

पुस्तक: सागर संध्या
कवि: मनु सिंह
समीक्षक: वंशीधर सिंह
संपर्क :- पथ सं० 5,
इंदिरा नगर,
पटना- 800001

जब शब्द बने समिधा

–डॉ. रमाशंकर श्रीवास्तव

आधुनिक जीवन की आपाधापी में मनुष्य अपने लिए सरल और सहज मार्ग की खोज में लगा है। उसे जगह-जगह भटकना पड़ता है। भटकाव में तनाव उसकी नियति बन गया है। ऐसे में उसके भीतर जीवन की लालसा और आशावादिता ही उसमें वह ऊर्जा भर सकती है जिससे वह आज की जिंदगी में हँसी-खुशी, प्रेम-उत्साह, संतोष और दुःख-सुख से लड़ने का अदम्य संकल्प पा सकें।

सच देखा जाय तो जीवन में पग-पग पर ऐसा अँधेरा है जो किसी दुर्बल चित्त मनुज को निराशा से भर देता है और वह हताशा में हर सुख को खो बैठता है, मगर उसके भीतर यदि विश्वास की एक किरण भी कहीं से दिख जाय तो वह सारे अंधकार पर विजय पा सकता है। इसी विश्वास और जीजिविषा से भरी हैं कवि वरूण कुमार तिवारी की कविताएँ जो उनकी सद्य प्रकाशित कविता संग्रह 'अपने होने का एहसास' में संकलित हैं।

साहित्य जीने की शक्ति देता है और उसमें कविता की भूमिका महत्त्वपूर्ण हैं वे लिखते हैं-

'शब्द से निःसृत होगी ऊर्जा
जो थपथपाएगी
पसीने से लथपथ
तुम्हारी पीठ को
और लौटा लेगी तुझे
अंधेरी दिशाओं से।

शब्दों की शक्ति ही कविता का प्रतिरूप बनती है? यद्यपि आज के युग में मानव समाज अपने क्षुद्र स्वार्थों और दुष्कृत्यों से लहुलुहान हो रहा है। उसमें कहीं इंसानियत नहीं दिखाई पड़ता तब भी कविता के कँधे पर यह गर्दन भार है कि वह इन प्रतिकूल स्थितियों में भी एक सच्चे इंसान को खोज निकालें।

'फिर भी अपनी विरासत और संस्कृति को अपनी जिंदगी की आखिरी सांस तक 'बचाना चाहती है कविता। (पृ० 44)'

इन कविताओं में आशा और उत्साह का स्वर भरा हुआ है इसका जिक्र बार-बार आता है 'खलील विश्राम के लिए' कविता में वरूण ने लिखा है-

साँझ होते ही, समेटकर पंखुड़ियाँ, सो जाते हैं कमल-पुण्यं, इस आस में कि सुबह सूरज की रश्मियाँ। खोल देगी उसकी पंखुड़ियाँ, अपनी सुकोमल संस्पर्श से।' -53

'आजादी', 'खंडहर' होते हुए भी' ऐसी ही कविताएँ हैं।

इन रचनाओं में कवि ने जीवन को समझने की कोशिश की है तथा विभिन्न पड़ावों को बिंबों से सजाकर सत्य को उजागर किया है। सबसे बड़ी बात कि जीवन अपने आपमें भ्रमों का सपूँज है। उन्हीं में हम जिए चले जा रहे हैं। 'विपर्यास' में कवि कहता है-

'मुठ्ठी की रेत की तरह, सरक जाता है जीवन। और उसे पकड़े होने की भ्रांति में जी रहे होते हैं हम।-65

इसमें संदेह नहीं कि आज की मानवता एक कठिन दौर से गुजर रही है। नैराश्य के अंधकार में डूबी जिन्दगी में यदि खोजें तो दुख ही दुख है। असंख्य प्रश्नों ने सीना तान कर हत्यारे ऊपर ही हँसना शुरू कर दिया है। इस उपहास ने मनुष्य के पैरों की गति छीन ली है। उसके दौड़ने का उल्लास मर गया है ऐसे में 'खंडहर होते जीवन को ऐसे भाव चाहिए जो जीने की ताकत दे सके–

'तो इस बेहद कठिन/
और पतझड़ी समय में जरूरी है अब।
स्वयं का। 'खंडहर होते हुए देखने' की
अपेक्षा। नीले आकाश में।
चमकते हुए। सितारों को देखना।' (पृ० 64)

इसी भाव को व्यक्त करती हैं निम्नलिखित पंक्तियाँ-

'फिर भी बची है।
अचेतन की गहराइयों में।
आशा की कुछ किरणें।
मैं रोज सुबह
बड़े-बड़े सपने संजोते हुए।
छोड़ता हूँ बिस्तर
और रोज रात को अपने लहूलुहान सपनों से
ही पूछता हूँ।
अपना वजूद। (पृ० 85)

वरुण कुमार तिवारी के पास जीवन के अनुभव हैं और उन अनुभवों को बताने का कौशल भी है अपनी बातों को कहने के लिए कवि प्रकृति का सहारा लेता है समान बिम्ब उसके अनुभवों को सजा देते हैं-

'मैंने देखा हैं अंधेरें के खिलाफ।
धूप का हँसना।
अनगिन काँटो के बीच।
फूलों का खिलना।
और हिंसा व आतंक भरे।
निर्भय बक्त में भी बर्फ का गिरना।' (पृ० 102)

इन एकावन काव्य रचनाओं में संवेदनशील कवि ने विविध रूपी जीवन के संघर्ष, लोकमानस, प्रेम, अस्तित्व, विश्वास, कविता, प्रकृति आदि पर विचार किया है। संक्षेप में कहें तो अंधेरा, रोशनी, समय, मौसम, अस्तित्व, आदि वे प्रमुख विषय हैं जिनपर प्रस्तुत काव्य संकलन की अच्छी रचनाएँ आधारित हैं।

वरुण कुमार तिवारी जीवन के घात प्रतिघात को अपने चिंतन की ध्वनियों से भरने में सफल हुए हैं इसलिए सहज रूप में ही ये रचनाएँ पठनीय हैं। ये कविताएँ जीवन के विविध रूपों को समझने की कोशिश हैं। सुंदर जीवन के लिए कुछ मूल्यों की आवश्यकता पड़ती है। प्रेम, आशा, संघर्ष करने का संकल्प, अन्याय के विरूद्ध खड़ा होने का साहस, भावुकता एवं संवदेनशीलता जैसे तत्त्व ही आज के मनुष्य के दुःख को कम कर सकते हैं जीवन में कैसे-कैसे परिवर्तन आते हैं।

'वृद्ध पिता की कामनाओं के भीतर बनता
चला जा रहा है।
एक लंबा चौड़ा भिरूप्रदेश
एक न एक दिन में कवि कविता की
भूमिका
तय करता हैं
'फिर भी।
अपनी विरासत और संस्कृति को। अपनी

जिंदगी की अखिरी सांस तक बचाना चाहती है कविता।

इन विचारों के प्रभाव सुखद हैं। किंतु कवि ने कई स्थानों पर भाषिक अनुशासन में प्रमाद दिखाया है। व्याकरणिक त्रुटियाँ और विशेषकर लिंग प्रयोग खटकते हैं।

'उग आएँगे । मुलायम हरी घास।
'एक संगमर्मरी बांह की तकिया पर
'सदी के अंत में। सदी के शुरुआत में और मेरे नथुने में। फैल गई। पारिजात का सुगंध
लगातार लाठियाँ हमारे पीठ पर

अगले संस्करण में संशोधन अपेक्षित हैं। वरुण कुमार तिवारी एक संवदेनशीनल कवि हैं। उनके पास मनुष्य के अंर्तभावों को समझने और उन्हें पाठकों के सामने रखने की कला है उनके काव्य-संस्कार में प्रकृति का बड़ा योगदान है। प्रकृति के अनेक सुंदर बिंबों का प्रयोग है। इन रचनाओं में हमारी भावनाओं के साथ जब प्रकृति जुड़ जाती है तो उसके सौष्ठव में वृद्धि हो जाती है। शब्दों का संस्कार मनुष्य में प्रकृति ही भरती है। ये बादल, आकाश, धरती, अंधेरा और प्रकाश प्रतिक्षण हमारे मनोभावों को तरह तरह के शब्द देते रहते हैं और उनसे ही हमारे जीवन की कविता सजती चलती है। शब्द समाधी बन कर जीवन के यज्ञ को संपन्न करते हैं। ये कविताएँ इस बात को साबित करती हैं कि 'अपने होने का एहसास' के कवि ने प्रकृति से बहुत कुछ लिया है। तभी जीवन की सामान्य बातें भी उनकी कला से संस्कारित होकर सहज सम्प्रेषणी बन गई हैं।

पुस्तक: 'अपने होने का एहसास'
(कविताएँ)
कवि: वरुण कुमार तिवारी
प्रकाशक नमन प्रकाशन/4231,
अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002
पृ०-104, मूल्य-125/- रुपए

अनुतरित प्रश्न

–पुष्पा जमुआर

अमृतसर प्रवास में हम सभी पारिवारिक वाघा बार्डर देखने गये। दर्शकों की वहाँ काफी भीड़ थी। इस तरफ भारत और उस तरफ पाकिस्तान। वहाँ जाकर मन में अजीब- सी संवेदना उमड़ पड़ी कि कभी दोनों मिलकर पूरा एक देश था-भारत और आज...।

हमलोग आगे बढ़े, मेरी गोद में दो वर्ष का पुत्र था। दोनों देशों में मात्र चार कदमों का अंतर था। दोनों देशों का विभाजन द्वार खुले थे और दोनो देशों के सैनिक सतर्कता की स्थिति में थें। दोनो ओर के दर्शकों के चेहरे पर अपने-अपने देश का भक्तिभाव स्पष्ट था।

दोनों ओर की भीड़ आमने-सामने एक दूसरे को अजीब-सी दृष्टि से देख रहे थे। मैं भी अपवाद न थी। इस चक्कर में यह पता ही नहीं चला कि मेरा पुत्र कब मेरी गोद से निकलकर पाकिस्तान की धरती पर पहुँच गया और उधर खड़ी एक महिला ने बहुत ही प्यार से उसे उठा लिया, पुत्र भी सहज भाव से उसकी गोद में जाकर उससे अपनी तोतली भाषा में कुछ-कुछ बातें करने लगा- वह महिला भी उसमें खो गयी।

एकाएक मेरा ध्यान जब उस महिला की गोद में गया, तो मैं चौंक गयी और वह महिला मुझे देखकर मुस्कुराने लगी। अब तक संध्या के 6.00 बज चुके थे। दोनों ओर के सैनिक अपने-अपने देश के झण्डों को सलामी देकर उतारने लगे। भीड़ अपने-अपने देश की जयकार करने लगी और गेट बंद किये जाने लगे।

मैने पुत्र को आवाज दी, ''बंटी!''

मेरा स्वर सुनकर वह महिला धीरे से मुस्कुरायी और बंटी के सिर पर हाथ फेरते हुए उसे गोद से उतारने लगी, किंतु बंटी उतरने के मुड में नहीं था मैं परेशान हो गयी मेरी परेशानी समझते हुए सैनिक अधिकारी ने बंटी को बहुत ही प्यार से उठाया और मुझे लाकर दे दिया। मैं कुछ बोल तो नहीं सकी, किंतु आदर में मेरे दोनों हाथ जुड़ गये और दोनों ओर की भीड़ अपनी-अपनी बस द्वारा लौटने लगी, किंतु वह महिला बंटी को और बंटी उसे तब तक देखते रहे जब तक दोनो आपस में ओझल नहीं हो गए।

मैं मन-ही-मन फुस्फुसा उठी, ''जब दिलों में बैर नहीं तो फिर राजनीतिक दीवारें क्यों?''

द्वारा श्री शम्भू कुमार सिन्हा
राम सहाय लेन, महेन्द्रू, पटना-6

'और कुछ' कहानी संग्रह के लिए दो शब्द

–डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह

हमारे देश का इतिहास इधर कुछ ही महीनों में इतनी तेजी से बदलता जा रहा है जैसे अपनी साँस और धड़कनें आज अपरिचित सी लगने लगी है। लगता है मानों हाल ही में डूबा हुआ कल किसी दु:स्वप्न की तरह किसी खौफनाक दृश्य की घिनौनी छाया की तरह, रह रहकर हमारे अंतर में आशंका का वितान फैल रहा हो। अनेक स्वर और लय है जो पूरा-का-पूरा बदल गया है। समय-देवता के चरणों के प्रहांर से राजनीति का एक पूरा किला, जो दुर्लभ समझा जाता था, ढह गया और उसके भग्नावशेष चारो ओर बिखर गये है। दूसरी ओर, शासन और व्यवस्था की नई लकीरें उग आई हैं, कुण्ठित और ढूँढ लगने वाले वृक्षों में नए किसलय लगे हैं, सदियों से वीरान पड़ी हुई धरती की छाती से अंकुर फूट पड़े हैं।

'और कुछ' के लेखक डॉ० डी० आर० ब्रह्मचारी ने अपनी कहानियों के माध्यम से जो जन-जन के बीच अंकुर उगाया है उसका जीता जागता प्रमाण उनकी रचना सड़क, दाग, अपराधी एवं पेंशन है। इसकी ग्राम्य भाषा तथा बेबाक कथा-चित्रण ने मुझे यह कहने पर विवश कर दिया है कि कथाकार ने रामवृक्ष बेनीपुरी की तरह आने वाले दिन में कलम के दूसरे जादूगर के रूप में जाने जायेंगे। इनकी कहानियों की एक और विशेषता यह है कि इनके कहानी के पात्र या तो ग्राम मूल के किसान होते हैं या फिर छोटी-मोटी चाकरी करने वाले किरानी। इनकी कहानियों में ब्राह्मण-अब्राह्मण का भेद भाव भी नहीं दिखता। इनकी रचना को हर कोई समझकर इससे बहुत कुछ सीख सकता है।

मानवीय संवेदना को झकझोर देने वाली ये कहानियाँ वस्तुत: जीवन सत्य हैं जिन्हें पढ़कर पाठक अपने अगले भविष्य से पहले ही सचेत हो जा सकते हैं पेंशन में इसी सत्य को उजागर किया गया है। अब दाग कहानी को ही पढ़िये तो लगेगा कि एक पागल लड़की के साथ हुए अत्याचार ने कथाकार के तनमन को झकझोर दिया है काश! कथाकार संवेदना के साथ-साथ हिम्मत भी जुटा पाते तो बात कुछ और ही होती। आज के युग में ईमानदार व्यक्ति को कोई सम्मान नहीं मिलता। पेंशन के माध्यम से लेखक ने बड़ा ही सटीक व्यंग प्रस्तुत किया है।

मैं डॉ० डी०आर० ब्रह्मचारी को सरस-सरल-सहज कथाकार मानता हूँ क्योंकि इनकी कहानियों में कोई लाग-लपेट

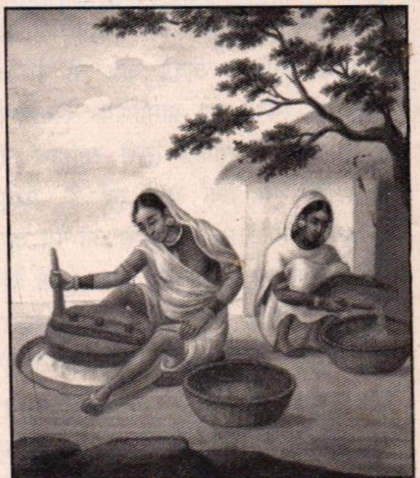

नहीं है। इनकी कहानी विशुद्ध यथार्थमूलक है और सामंती चेतना से दूर भी है आज की कहानियों में जो भी भाव भरे जाते है वे सबके सब भाव इनकी कहानियों में देखी जा रही है। पेंशन कहानी में ईमानदार शिक्षक का सारा आत्मबल रिश्वत की भेंट चढ़ गया है तथा जुगेसर, रामबिरिछ और हनुमान भगत के समत्रिकोण में जाति-रैला ने विष घोल दिया है 'बदलाव' कहानी में। 'सड़क' कहानी को ही लिया जाय तो उसमें लेखक ने कितना सटीक समाजिक चित्रण किया है जिसमें काली स्थान को चुपके से हटा दिया है सड़क बनाने के लिए। गाँव में कैसी चिकित्सा-व्यवस्था रहती है उसका बड़ा ही दर्दीला चित्र प्रस्तुत किया है लेखक ने। 'चिकित्सा' में तो ऐसा लगता है कि लेखक ने चित्रमय रूप प्रस्तुत किया है इस चिकित्सा व्यवस्था का। अपराधी भी कुछ इसी तरह की रचना है। 'दस धूर जमीन' को ही लीजिए इसमें एक गरीब की दस धूर जमीन लाख प्रयास के बाद भी जमींदार नहीं दखल कर पाये। आजकल तो पलायनवादी होना ग्रामीण युवकों की नियति बन गया है वो विकास करने के लिए श्रम करना ही नहीं चाहते है।

इससे जाहिर होता है कि कथाकार डी०आर०ब्रह्मचारी लोक जीवन से जुड़े रचनाकार हैं। आज के परिवेश की छौंक इनकी कहानियों को जीवंत बनाती है। इससे ये कहानियाँ जीवंत प्रतीत होती है। मुझे विश्वास है कि ये कहानियाँ अपने बल पर जीवित रहेंगी। इनकी कहानियों में शब्द चित्र अधिक झलकता है। इसलिए इनको शब्द चित्र शिल्पी कहना गलत नहीं होगा। चूंकि इनकी कथा के सभी पात्र काफी कठिनाइयों से जूझंकर उपर उठने का भरपूर प्रयास किया हैं। जो उसके विकास एवं पाठक को ज्ञान देने के लिए एक सुझाव है।

यही कारण है कि इनकी कहानियाँ बहुत जल्द सर्वप्रिय हो जायेंगी।

समीक्ष्य पुस्तक : और कुछ
लेखक : डॉ० डी०आर ब्रह्मचारी
समीक्षक : डॉ० जितेन्द्र कुमार सिंह
समस्तीपुर

प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और हिन्दी साहित्य

-प्रो. लखन लाल सिंह 'आरोही'

इन दिनों संपूर्ण भारत में 1857 के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का डेढ़ सौवाँ राष्ट्रीय जयंती समारोह व्यापक रूप से मनाया जा रहा है आज से पचास वर्ष पूर्व उक्त राष्ट्रीय संग्राम का बड़े ही उत्साह से देशवासियों ने सौवाँ राष्ट्रीय जयंती समारोह मनाकर शहीदों को कृतज्ञ राष्ट्र की श्रद्धाँजलि प्रदान की थी। यह अब स्पष्ट हो चुका है कि 1857 का संग्राम न तो सामंतों का विद्रोह था, न तो सिपाहियों का आक्रोश। इस संग्राम में राष्ट्रीय स्तर पर आम जनता की भागीदारी के कारण अँग्रेजी सत्ता से मुक्ति के लिए सामूहिक जन संग्राम था। कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स पहले इतिहासकार थे जिन्होंने 1857 के संग्राम को जन विद्रोह कहा। सोवियत संघ स्थित मार्क्सवादी लेनिनवादी संस्थान और प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स से छपे मार्क्स और एंगेल्स के निबंधों के संकलन का शीर्षक हैं कि फर्स्ट इंडियन बार ऑफ इंडिपेंडेंस 1857-59। यह संकलन 1958 में आया। 1853-59 में ये लेख न्यूयार्क डेली ट्रिव्यून में प्रकाशित हुए थे और इनके प्रकाशन से उस समय पश्चिमी जगत में धूम मच गई थी। मार्क्स के अनुसार इस प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की धुरी थी-राष्ट्रीय एकता, एक मुद्दा और उस पर सारे देशवासियों का एक जुटान। आजादी के इस प्रथम महासंग्राम ने सारे भारत जन समुदाय को आंदोलित किया था, परंतु जैसा मार्क्स ने अपने निबंध में कहा है कि एक सबल केंद्रीय नेतृत्व के अभाव में मुक्ति के लिए भारतीय जनता का यह पहला महासंग्राम विफल हो गया। मार्क्स 1857 के जन संग्राम को सामंतों का विद्रोह नहीं मानते। इस संदर्भ में उनका कहना है कि महज सामंतों का यह विद्रोह होता तो इसका फैलाव महाराष्ट्र और दूसरे अहिंदी भाषी क्षेत्रों तक व्यापक हिस्सेदारी के साथ क्यों हुआ? विदेशी शक्ति को मात देने के लिए किसी देश के सभी तबकों की भूमिका होती है। इसलिए 1857 का विद्रोह ने सामंतों का था, न धार्मिक शक्तियों का वह शुद्ध जन विद्रोह था- ब्रिटिश सत्ता से मुक्ति की जनाकांक्षा का प्रथम महाविस्फोट!

साहित्य किसी भी देश के समग्र जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज होता है। रचनाकारों की संवेदना अपने परिवेश से संवेदित होती है जिसकी परिणति साहित्यिक कृतियों में होती है। साहित्य को समाज का दर्पण भी कहा गया है अर्थात् देश-का में जो कुछ घटित होता है, वह साहित्य में प्रतिबिंबित होता है। संसार की सभी भाषाओं का साहित्य इस तथ्य का ज्वलंत प्रमाण है। 1857 के जन विद्रोह का केंद्र उत्तर भारत का हिंदी भाषी क्षेत्र था। अपने आदि का से ही हिंदी साहित्य अपने क्षेत्र के समग्र जीवन के स्पंदन का प्रामाणिक दस्तावेज रहा है। यह चिरंतनता हिंदी साहित्य में 1857 के पूर्व तक बनी हुई है, परंतु आश्चर्य है कि 1857 के इस आग्नेय का में हिंदी साहित्य में सन्नाटा पसरा हुआ है। कहीं भी 1857 की आग का एहसास नहीं। किसी भी विधा में 1857 पर कोई रचना नहीं। हिंदी साहित्य का यह समय आधुनिक काल है जिसके प्रमुख कवि और आधुनिकता एवं राष्ट्रीयता के प्रोधा भारतेन्दु हरिश्चन्द हैं जिनके स्वर से विलाप व्यंजित हो रहा है-

'आवहू मिलाकर रोवहू सब भारत आई,
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखन जाई;

कवि का यह विलाप अँग्रेजी राज में भारत की दुर्दशा से उत्पन्न है, 1857 के जन विद्रोह की पराजय का परिणाम नहीं! आखिर 1857 का जन विद्रोह हिंदी के साहित्यकारों की संवेदना के रेंज से अनुपस्थित क्यों है? यह अविश्वसनीय तथ्य क्यों प्रश्नचिह्न बनकर खड़ा है? ऐसा नहीं हो सकता कि इस का में 1857 के जन विद्रोह पर हिंदी साहित्य मे कुछ लिखा ही नहीं गया। हिंदी साहित्य प्रतिरोध का साहित्य है और जनपक्षधरता इसकी प्रतिबद्धता। अभिव्यक्ति का जोखिम यह सब दिन उठाता रहा है और सत्ता से टकराहट इसका स्वभाव है। कबीर और कुंजन करी परंपरा इसकी विरासत है। तब फिर हिंदी साहित्य में 157 क्यों अनुपस्थित है? इसका उत्तर भी हमें मार्क्स के निबंधों में मिलता है। न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून (22 जुलाई, 1853) में मार्क्स के प्रकाशित लेख 'दि फ्यूचर रिजल्टस ऑफ दि ब्रिटिश रूल इन इंडिया' एवं अन्य निबंधों के अनुसार अँगरेजों और अँगरेजी सेना का विद्रोही जन समुदाय पर दमन चरम पर था। गाँव के गाँव और शहर जा दिए गए- लूटे गए । लाखों लोगों को कत्ल किया गया। सरकार विरोधी चाहे वह कोई दस्तावेज हो या साहित्य जा दिए गए। 1857 संबंधी सभी प्रकार के साक्ष्य राक्षसी हाथों से मिटा दिया गया। 157 पर मार्क्स या और किसी ने जो कुछ लिखा हैं वह चंदन स्थित ब्रिटिश लाइब्रेरी में रखे ब्रिटिश दस्तावेजों के आधार पर । हिंदी साहित्य में 1857 की अनुपस्थिति का यही रहस्य है। परन्तु हिंदी के शिष्ट साहित्य में अनुपस्थित 1857 का जन विद्रोह हिंदी की विभाषाओं-भोजपुरी, अवधी, मगही, बुंदेलखंडी आदि के लोकगीतों में मुखर हैं आज भी हिंदी प्रदेश का चौपाल, खेत-खलिहान 1857 के सेनानियों की वीरगाथाओं से स्पंदित लोकगीतों से आए दिन अनुगूंजित होता रहता है। लोकगीतों को कौन आँख दिखा सकता है?

संपर्क : बी-2/203, लुंकड कॉलोनेड-1,
विमान नगर, पुणे- 411014

स्वतंत्रता संग्राम में आलिमों और साहित्यकारों का योगदान

–सलीम सुहर वर्दी

वास्कोडिगामा के हिंदुस्तान आगमन के एक शताब्दी बाद कैप्टन विलियन हार्किज ईस्ट इण्डिया कम्पनी का दूत बनकर अप्रैल, 1609 ई. में आगरा पहुँचा। वह अपने साथ ब्रिटेन के सम्राट विलियम जेम्स प्रथम का एक परिचय पत्र लाया था, जो हिंदुस्तान के बादशाह नूरुद्दीन मुहम्मद जहांगीर के नाम था। उसने बादशाह से मुलाकात करनी चाही, लेकिन दरबारी अमीरों के कारण न मिल सका। जाते समय उसने मुगल साम्राज्य के प्रधान मंत्री (अमीरुल ओमरा) से ब्रिटेन के बादशाह के नाम एक शाही पत्र की फरमाइश की, परंतु मुगल प्रधान मंत्री ने यह जवाब दिया कि इंग्लिस्तान एक छोटा-सा मुल्क हैं उसके बादशाह का खत लिखना हिंदुस्तान के शहंशाह की शान और गरिमा के विरुद्ध है।

उस समय मुगल अमीरुल ओमरा ने यह सपनों में भी न सोचा होगा कि उस छोटे से मुल्क के व्यापारियों का एक गिरोह मुगल तख्तो-ताज का मालिक बन जायगा। दो सौ साल बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारियों का सपना साकार हुआ। हिंदुस्तान के एक बड़े हिस्से पर कम्पनी का कब्जा हो गया। बिहार, बंगाल और उड़ीसा की दीवानी शाह आलम बादशाह से कम्पनी ने लिखवा ली थी। इसके बदले में कम्पनी बादशाह शाह आलम को 26 लाख रुपये सालाना देती थी। सिराजुद्दीन बहादुरशाह जफर जब बादशाह बने तो उनकी बादशाहत सिर्फ लाल किले तक ही सीमित थी। कम्पनी के लोग हिंदुस्तान की जनता के दिलों को न जीत सके। चूंकि अँग्रेजों ने मुसलमानों से सत्ता हासिल की थी, इसलिए मुसलमानों में अँग्रेजों के प्रति रोष अधिक था। यही रोष 1854 के स्वतंत्रता संग्राम में खुलकर सामने आया। शासक वर्ग अपने को उपेक्षित और शक्तिहीन महसूस कर दुखी तथा नाराज था। अँग्रेजों के विरुद्ध स्वतंत्रता का यह प्रथम संग्राम अतिंम मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर के नेतृत्व में लड़ा गया। इसमें झांसी कीं महारानी लक्ष्मीबाई, नाना सहब और तात्या टोपे ने भी भाग लिया। मेरठ छावनी के क्रातिंकारी सिपाही सरखैल खां और नकी खां ने चर्बी लगे अँग्रेजी कारतूस को इस्तेमाल करने से इनकार करके इस संग्राम का श्रीगणेश किया। इन दोनों सिपाहियों ने गंगा और यमुना के संपूर्ण क्षेत्र में क्रातिं की जयोति जलायी। मंगल पाण्डेय तथा अन्य सिपाही भी उनके साथ थे।

आजादी की इस लड़ाई में स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों का साथ ओलमाए-किराम, उर्दू के कवियों, साहित्यकारों एवं पत्रकारों ने खुलकर दिया। उर्दू का प्रथम साप्ताहिक समाचारपत्र 'जामे-जहांनुमा' 1822 ई में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। दूसरा अखबार 1836 में दिल्ली से मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद के पिता मौलवी मुहम्मद बाकर ने प्रकाशित किया। इस समाचारपत्र में क्रातिंकारियों के वक्तव्य प्रकाशित होते थे। क्रातिं के असफल होने पर अँग्रेजों ने दिल्लीवासियों पर अतयाचार के पहाड़ तोड़े। सर्वाधिक खून दिल्ली की धरती पर बहा। दिल्ली और उसके चारों ओर इस खूनी क्रान्ति की सैकड़ों यादगारें हैं। बड़ शहाबुल्ल अब भी खड़ा है, जिसकी डालियों पर 1400 मुस्लिम आलिमों और प्रमुख लोगों को फांसी दी गयी। वह खूनी दरवाजा आज भी उस मनहूस घड़ी का गवाह है, जहाँ मुगल शहजादों के सिर कलम किये गये थे और उनकी लाशें लटका दी गयी थीं। मुफ्ती सदरूद्दीन, इमाम बख्श सहबाई तथा अन्य देशभक्तों के जिस स्थान पर मौत के घाट उतारा गया, वह स्थान आज भी मौजूद है चांदनी चौक, मस्जिद फतेहपुरी तथा जामा मस्जिद क्षेत्र में भी अँग्रेजों ने खून की नदियाँ बहायीं। हुमायूं के मकबरे से बहादुरशाह जफर को गिरफ्तार कर रंगून में नजरबंद कर दिया गया।

इंगलैण्ड की महारानी विक्टोरिया ने ईस्ट इंण्डिया कम्पनी से शासन अपने हाथ में ले लिया। विक्टोरिया के शासनकाल में 1864 से 1867 तक सत्तावन हजार आलिमों को फाँसी दी गयी। चांदनी चौक दिल्ली से लाहौर तक कोई ऐसा पेड़ न बचा हेगा, जिसपर किसी न किसी आलिम को फाँसी पर न लटकाया गया हो। बरेली के रहमत खां रोहीला, जनरल बख्त खां, अल्लामा फजले हक खैराबादी, फैज अहमद बदायूनी, अहमद उल्लाह शाह मद्रासी, अजीम उल्लाह काफी मुरादाबादी, हाफिज जामिन, सैयद अहमद सईद की बहादुरी और कुरबानी को फरामोश करना सम्भव नहीं है। आलिमों, कवियों, साहित्यकारों और पत्रकारों के साथ बुनकरों ने भी देशभक्ति का सबूत दिया।

1885 ई. में इण्डियन नेशनल कांग्रेस तथा 1919 ई. में मजलिसे खिलाफत की स्थापना हुई। मौलाना अबुल कलाम आजाद ने अखबार अलहेलाल और अल बलाग, मौलाना मुहम्मद अली जौहर ने हमदर्द, मौलाना जफर अली खां ने जमींदार, बब्दुल मजीद सालिक ने इन्केलाब तथा जाबिर देहलवी ने हमदम के माध्यम से लोगों में जागृति पैदा की। जौहर का यह शेर उनकी भावनाओं को प्रकट करता है।

दौरे हयात आयेगा कातिल कजाके बाद,
है इब्तेदा हमारी तेरी इन्तेहा के बाद।

इकबाल सुहैल, शिबली नोमानी, नजीर बनारसी, इसरारूल हक मजाज, अली सरदार जाफरी मखदूम मोहीउद्दीन, फैज अहमद फैज, मोईन अहसन जजवी, जाँनिसार अख्तर, अहमद नदीम कासमी, अख्तरुल ईमान, कैफी आजमी, मसऊद अख्तर जमाल, सैयद हुरमतुल इकराम, अल्लामा अमरचन्द कैस जालन्धरी, इस्माईल मेरठी, जिगर मुरादाबादी, फारूक बांसपारी आदि शायरों ने लोगों में गुलामी के प्रति घृणा तथा आजादी के प्रति प्रेम की भावना परवान चढ़ाने में महत्त्वपूर्ण रोल अदा किया। दारुल उलूम, देवबंद तथा अन्य इस्लामी मदरसों के आलिमों और छात्रों ने भी स्वतंत्रता संग्राम में सहयोग किया।

महात्मा गाँधी के नेतृत्व में आजादी की लड़ाई जब शुरू हुई तो जवाहरलाल नेहरू के साथ-साथ डॉ. मुख्तार अहमद अंसारी, मौलाना बुल कलाम आजाद, मौलाना शौकत अली, मौलाना आजाद सुबहानी, मौलाना हसरत मोहानी, मौलाना हुसैन अहमद मदनी, अब्दुल कय्यूम अंसारी, मौलाना अब्दुल मजीद अलहरेरी, डॉ. जाकिर हुसैन, हाफिज मुहम्मद इब्राहीम, रफी अहमद किदवई आदि ने पूरा सहयोग दिया।

15 अगस्त, सन् 1947 को हमारा देश आजाद हुआ। आजादी की हिफाजद करना हम सभी का कर्तव्य है। कैस के अनुसार **जानोदिल से भी सिवा है अपनी आजादी मुझे, दैरो काबे से मुकद्दस है हर आबादी मुझे।**

'आज' से साभार

सिपाही विद्रोह या स्वाधीनता संग्राम?

-डॉ. वरुण कुमार तिवारी

अठारह सौ सत्तावन का स्वतंत्रता संग्राम 15 अगस्त 1947 को हुए ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन के अंत की पूर्व पीठिका थी। भारत में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार के विरूद्ध 1857 के पूर्व से ही अनेक क्षेत्रों में विद्रोह हुए जिनमें सभी वर्ग, जाति, धर्म और पेशे के लोगों ने हिस्सा लिया। 1857 तक परिस्थितियाँ बारूद की ढेर बन गई थीं जिसे केवल एक चिन्गारी की जरूरत थी। अँग्रेज भारत में हमेशा विदेशी बने रहे और भारतीयों को तिरस्कार से देखते रहे। भारत के उच्च वर्ग के लोगों के साथ अँग्रेज अपमानजनक उदंडतापूर्ण व्यवहार करते थे। राज परिवारों में भी असंतोष व्याप्त था। डलहौजी की उग्र साम्राज्यवादी नीति के वे राज परिवार शिकार हुए। बनावटी कारणों पर देशी राज्यों को कम्पनी राज्य में मिलाने एवं भारतीय नरेशों को पेंशन एवं उपाधियों से वंचित करने के कारण देश में आतंक छा गया। अँग्रेजों के जटिल न्याय प्रणाली ने गरीबों के ऊपर जुल्म करने में धनी लोगों की सहायता की। कम्पनी सरकार का उद्देश्य भारत को लूटना और इंग्लैंड को समृद्ध करना था।

जिन प्रदेशों पर अँग्रेजों का अधिकार हो गया, वहाँ के व्यापार पर उन्होंने एकाधिकार बना लिया और वहाँ के घरेलू उद्योग-धंधों को नष्ट कर डाला। वहाँ के लोगों की जीविका का आधार छिन गया। डलहौजी ने दक्षिण भारत की 20,000 जमींदारियाँ जब्त कर लीं। इस तरह जमींदार लोग भी दरिद्र हो गये। अँग्रेजों की भू-राजस्व नीति, भूमि संबंधी कानून तथा प्रशासन की शोषक प्रणालियों की नीति से किसान-भू-स्वामी बुरी तरह कर्ज में डूब गये।

ईसाई मिशनरियों के कारण लोगों में धर्म नष्ट होने का डर भी समा गया। ईसाई मिशनरी हिंदु तथा इस्लाम धर्म की आलोचना करते तथा भारतीयों को धर्म परिवर्तन के लिए उकसाते। स्पष्ट है कि ऐसे अनेक कारण थे जिससे देश में अँग्रेजों के विरुद्ध लगातार असंतोष फैल रहा था। चर्बी लगे कारतूसों की घटना ने सैनिकों में असंतोष को भड़काने के लिए आग में घी का काम किया। पहली बार एक नयी एन्फील्ड राइफल हिंदुस्तानी सैनिकों को दी गई। इसके कारतूसों पर चिकनाईयुक्त कागज होता था जिसे दाँतों के सहारे किनारे की ओर से काटना होता था। चिकनाई के लिए गाय या सूअर की चर्बी का प्रयोग किया जाता था। फलस्वरुप हिंदू और मुसलमान सैनिक भड़क उठे और असंतोष की आग, जो 1857 के पहले से ही देश भर में सुलग रही थी, कारतूस की घटना ने उस आग में घी का काम कर दिया।

यह विद्रोह कलकत्ते के बैरकपुर से आरंभ हुआ। 29 मार्च को सिपाही मंगल पाण्डे ने अपनी सैनिक टुकड़ी के सिपाहियों को विद्रोह के लिए उकसाने का प्रयास किया और एक अँग्रेज सार्जेन्ट मेजर को घायल कर दिया। मंगल पांडे को गिरफ्तार कर 8 अप्रैल को फांसी दे दी गई। उन्हें फांसी देने के थोड़े दिनों बाद ही 10 मई 1857 को मेरठ के सैनिकों ने नये कारतूस दाँत से काटने से इनकार कर दिया जिसके कारण उन सैनिकों करा कोर्ट मार्शल कर उन्हें जेल भेज दिया। इससे सैनिक उग्र हो उठे, जेल तोड़ डाले और दिल्ली जाकर शहर पर कब्जा करके मुगल सम्राट बहादुर शाह ज़फर को अपना सम्राट घोषित किया। लेकिन अँग्रेजों ने भीषण युद्ध और कुशल कूटनीति से दिल्ली को फिर अपने अधिकार में ले लिया और मेजर हडसन ने बहादुरशाह को बंदी बनाकर रंगून भेज दिया जहाँ 87 बर्ष की उम्र में 1863 ई० में उनकी मृत्यु हो गयी।

क्रांतिकारियों के दिल्ली विप्लव से समस्त उत्तर भारत में क्रांति की आग फैल गयी। अलीगढ़, इटावा, बरेली, मुरादाबाद, बदायूँ, आजमगढ़, गोरखपुर, जौनपुर, इलाहाबाद और बिहार में क्रांति की बिगुल बज उठी। क्रांतिकारियों ने लखनऊ नगर पर कब्जा करके रसीस कद्र को अपना राजा घोषित किया। कानपुर में नाना साहब ने शहर पर कब्जा कर लिया, लेकिन एक माह बाद ही शहर पर अँग्रेजों का फिर से कब्जा हो गया। नाना साहब का संघर्ष जारी रहा। नाना साहब और मौलवी अजीमुल्ला ने देश भर के राजे और नबाबों को अँग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह में शामिल होने के लिए निमंत्रण भेजा। नवंबर में फिर एक बार कानपुर अँग्रेजों के हाथ से निकल गया। नवंबर क्रांति का नेतृत्व नाना साहब के सेनापति तात्या टोपे ने किया। अद्भुत पराक्रम से उन्होंने संघर्ष को आगे बढ़ाया। 1859 तक वे अँग्रेजों से लोहा लेते रहे। परंतु अलवर के जंगलों में एक रात एक

विश्वासघाती देशवासी ने तात्या टोपे को सोते हुए में पकड़वा दिया। 18 अप्रैल को उन्हें फांसी दे दी गई। 1857 की क्रांति की वीरांगना झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने बुंदेलखंड, ग्वालियर आदि जगहों पर अपनी अदभूत रण कौशल से अँग्रेज सैनिकों के छक्के छुड़ा दिये और रणभूमि में लड़ते हुए वीरगति पाई। बिहार में जगदीशपुर के जमींदार वीर कुवर सिंह ने अँग्रेजों से घमासान युद्ध किया। बूढ़े होने के बावजूद अँग्रेजों से लगातार युद्ध करते हुए कई जगहों पर अँग्रेजों को मात दी। स्पष्ट है कि 1857 का विद्रोह लखनऊ, कानपुर, दिल्ली से लेकर बिहार तक कई शहरों और क्षेत्रों में फैला था।

परंतु 1857 की क्रांति के स्वरूप के संबंध में विद्वानों के बीच मतैक्य नहीं है। कुछ लोग इसे मात्र सैनिकों का विद्रोह मानते हैं; परंतु अन्य इसे प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम मानते हैं। नेहरू के अनुसार, ''यह केवल एक सैनिक विद्रोह नहीं था, यह शीघ्र ही फैल गया तथा इसने जन-विद्रोह और भारतीय स्वाधीनता के संग्राम का रूप धारण कर लिया। लेकिन सर जॉन सीले के शब्दों में यह केवल सैनिक विद्रोह था।

यह एक निर्विवाद सत्य है कि 1757 के पलासी के युद्ध और 1857 की क्रांति के बीच इतना कुछ घटा कि इसे मात्र 'सिपाही विद्रोह' कहना उचित नहीं है। सन्यासियों का विद्रोह, विजयनगरम् के राजा उड़ीसा के जमींदारों, गुजरात के कोलियों, सौराष्ट्र के सरदारों, जबलपुर के बुंदेलों, आदिवासी कोलों, संथालों, मुंडाओं का विद्रोह तथा तमिलनाडु, आंध्र, विलासपुर, महाराष्ट्र, कोल्हापुर, सतारा, पश्चिमी यू.पी, हरियाणा, कित्तुर आदि स्थलों पर हुए विद्रोहों से इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि यह सिर्फ सिपाही विद्रोह नहीं था। इसमें राजे-रजबाड़े-नबाव तो थे ही, इसमें मजदूर थे, किसान थे, जमींदार थे, आदिवासी थे और महिलाएँ भी बड़ी संख्या में थीं ब्राह्मण और मुसलमान तो थे ही, अन्य जातियों के लोग भी कम नहीं थे। सभी जातियों के लोग जाति, मजहब, संप्रदाय, धर्म से ऊपर उठकर अपने देश के लिए ब्रिटिश शासक के विरूद्ध युद्ध की आग में कूदे थे। यह स्वाधीनता संग्राम हिंदु-मुस्लिम एकता की अद्वितीय मिसाल प्रस्तुत करता है। ब्रिटिश प्रधान मंत्री डिजरायली ने भी स्वीकार किया था कि 1857 का विद्रोह केवल सैनिक विद्रोह नहीं, बल्कि इससे कुछ और ज्यादा था। अभिनव भारत क्रांति संस्था के प्रमुख विनायक दामोदर सावरकर ने गुप्त रूप से ब्रिटिश लाइब्रेरी से प्राप्त तथ्यों के आधार पर 'भारतीय स्वतंत्रता का युद्ध' शीर्षक पुस्तक में इसे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम ही स्वीकार किया। अशोक मेहता ने भी अपनी पुस्तक में 1857 के विद्रोह की राष्ट्रीय विशेषताओं का उल्लेख किया है। लार्ड सेलिसबरी ने भी हाउस ऑफ कॉमन्स में कहा था कि, ''वह यह मानने को तैयार नहीं कि ऐसा व्यापक तथा शक्तिशाली आंदोलन चर्बीवाले कारतूस को लेकर हो सकता था।'' वस्तुत: विद्रोह की पृष्ठभूमि में कुछ अधिक बातें थी। भारत का आर्थिक शोषण कर इंग्लैंड को समृद्ध बनाने की ब्रिटिश नीति को भारतीय समझ गये थे और इसी का परिणाम था 1857 का विद्रोह।

यद्यपि यह सच है कि 1857 का विद्रोह एक सुव्यवस्थित रणनीति और राष्ट्रीय चेतना के तहत प्रारंभ नहीं की गया था फिर भी यह विदेशी सत्ता के विरुद्ध मुक्ति संघर्ष ही थी जिसने कम्पनी राज्य की नींव हिला दी और ब्रिटिश सरकार को एक सुसंगठित शासन व्यवस्था की स्थापना के लिए सोचने को विवश कर दिया। फलस्वरूप भारतीय शासन ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथ में चली गई। गवर्नर जनरल को वाइसराय कहा जाने लगा। ब्रिटिश सैनिकों की संख्या बढ़ाकर भारतीय सैनिकों की संख्या घटा दी गई और तोपखाने अँग्रेज सैनिकों के हाथ में रखे गये। इस तरह 1857 की क्रांति से भारतीयों को ज्यादा नुकसान ही हुआ परंतु राष्ट्रहित में इसके कुछ लाभ भी हुए। इसने भारत को अनेक संघों से मुक्त कर दिया। ब्रिटिश सरकार देश की आंतरिक दशा को सुधारने के लिए विवश हो गयी। महारानी विक्टोरिया की ओर से एक महत्त्वपूर्ण राजकीय घोषणा की गई जिसकी भाषा से उदार हृदयशीलता, न्यायप्रियता और मित्रता का आभास होता था।

इस महान क्रांति के बाद ही देश में संवैधानिक विकास का सूत्रपात हुआ और धीरे-धीरे देशवासियों को शासन में भाग लेने का अधिकार भी दिया जाने लगा। सबसे बड़ी बात यह हुई कि इसके बाद देशवासियों की आँखें खुल गयीं। क्रांति के नेताओं के दुःखद अंत ने अनेक कवियों, नाटककारों, कहानीकारों तथा लेखकों को 1857 के महान क्रांतिकारियों को शहीद के रूप में चित्रित करने की प्रेरणा दी जिससे युवकों, देशभक्तों एवं राष्ट्रवादियों को प्रेरणा मिली।

यशस्विनी कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता **'खूब लड़ी मरदानी वह तो झांसीवाली रानी थी'**, स्वाधीनता आंदोलन में पर्याप्त चर्चित रही। दिनकर ने लिखा-**कलम आज उनकी जय बोल। जला अस्थियाँ बारी-बारी, जिसने छिटकायी चिनगारी, चढ़ गये जो बलिवेदी पर लिये बिना गरदन का मोल।'** 1857 के महान स्वतंत्रता सेनानी वीर कुंअर सिंह पर भोजपुरी के यशस्वी कवि चन्द्रशेखर मिश्र द्वारा 'कुंअर सिंह' शीर्षक से रचित एक महाकाव्य कृति है जिसमें पाठक-श्रोता को मुग्ध कर देने की शक्ति है। रमाशंकर सक्सेना कृत खंडकाव्य 'मंगल पांडे' मंगल पाण्डे के महान बलिदान पर एक अद्भूत कृति है जिसकी प्रशंसा डा० राम कुमार वर्मा महादेवी वर्मा आदि प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने की है। वृंदावन लाल वर्मा का उपन्यास 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' भी विशेष ख्याति प्राप्त कृति है। अठारह सौ सत्तावन में अँग्रेजी सेना से युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त करनेवाली रामगढ़ (म.प्र०) की रानी अवन्तीबाई पर केंद्रित वृंदावनलाल वर्मा की औपन्यासिक कृति 'रामगढ़ की रानी' में रानी की शौर्यगाथा वर्णित है।

संपर्क:-स्टेट बैंक कॉलोनी,
वीरपुर (बिहार)।

लोकगीतों में 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम

–सिद्धेश्वर

लोकगीत लोक साहित्य का एक अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका संबंध साधारण ग्रामीण समाज के लोगों के दैनिक जीवन के साथ-साथ सामुदायिक चेतना से भी होता है, क्योंकि यह छोटे कस्बों, शहरों से लेकर महानगरों तक भी अपनी पैठ बनाए हुए है। इन समुदायों की संस्कृति भी लोक संस्कृति के अंतर्गत आती है और, लोक संस्कृति के अंतर्गत लोकगीत, लोक कथा, लोक कला, लोक संगीत, लोकनृत्य और लोक मंच जैसे बहुआयामी पक्ष आते हैं। लोकगीत जीवन की स्वाभाविक उमंग है और उन उमंगों की स्वाभाविक अनायास अभिव्यक्ति है जिसका आधार पोथियाँ और आलेख नहीं होते, बल्कि देश काल की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों और मानसिक संस्कारों का निर्माण करते हुए युग-युग से चली सामाजिक-सांस्कृतिक परंपराओं से होता है। सच कहा जाए तो हमारी पहचान यदि कही सुरक्षित है तो वह हमारे लोक जीवन में है जिसका अभिप्राय सामुदायिक चेतना से है।

हमारे देश के विभिन्न अंचलों में प्रचलित लोकगीतों और लोक धुनों का हमारे आधुनिक संगीत में खुलकर दोहन के चलते संगीत का क्षेत्र लगातार समद्ध होता जा रहा है, मगर भूमंडलीकरण के दौर में साकार होती विश्व गाम की अवधारणा के वक्त आज की आधुनिकता की अँधी दौड़ में लोक संस्कृति का लगातार छीजते जाना चिंता का विषय है, क्योंकि इससे हमारी परंपराओं के लुप्त होने का खतरा बढ़ जाता है। परंपरा को अक्षुण्ण रखने के लिए अपनी लोक संस्कृति को जीवित रखना होगा

सन् 1857 के भयंकर स्वतंत्रता संग्राम में स्वदेशाभिमान और स्वधर्माभिमान का पवित्र स्फुरण जब देश के योद्धाओं और क्रांतिकारियों में संचरित हुआ था, तो उस प्रचंड हलचल की हवा देश के ग्रामीण समाज को भी संस्पर्श किया और ग्रामीण जनता के कंठ से ऐतिहासिक वीरगाथाएँ लोकगीतों में व्यक्त हुई। देश के विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाने वाली भाषाओं मे विद्रोहियों व क्रांतिकारियों की गतिविधियाँ मधुर और सजीव रूप में अभिव्यक्त हुई, जो लोकगीतों के रूप में उन दिनों के लोगों के कंठहार बन गाए जाते थे। इन लोकगीतों में क्रांतिकारियों के संघर्ष और स्वाभिमान के स्वर सुनाई पड़ते थे। स्वतंत्रता संग्राम एवं उसके दमन की ध्वनियाँ, जो भारत की विभिन्न भाषाओं के लोकगीतों में सुनने को मिलती हैं उससे आज भी सबके मन-मानस में भीतर ही भीतर भावनाएँ उमड़ पड़ती हैं।

1857 के स्वतंत्रता संग्राम के प्रमुख नेताओं में जहाँ 80 वर्ष की उम्र के वीर कुँवर सिंह, 60-65 के राणा बेनीमाधव मौलवी साहब, बहादुरशाह ज़फर, तात्या टोपे आदि बड़े-बूढ़ों ने अँग्रेजी हुकूमत का जमकर प्रतिरोध किया, वहीं 18 वर्षीय बलभद्र सिंह, 22 वर्षीय रानी लक्ष्मीबाई, 26-27 की बेगम हजरत महल और 33 वर्ष के नाना साहब आदि के ताजे खूनवाले नौजवान भी थे। अवध के लोकगीतों से यह स्पष्ट है कि वीर कुंवर सिंह ने 1857 के संग्राम में बेगम हजरत महल का साथ दिया और अँग्रेजों के खिलाफ लड़े। आजमगढ़ से जगदीशपुर लौटते वक्त शिवहर घाट से गंगा नदी पार कर कुंवर सिंह जगदीशपुर जाने के लिए बक्सर के आसपास कहीं निकलते हैं। लोकगीत की पंक्ति 'जल्दी हाजिर होउ बक्सर माँ काहे फिरत दिवाना' से यह बात स्पष्ट होती है। इसी प्रकार राणा बेनी माधव सिंह पटना के कमिश्नर का आमंत्रण ठुकरा देते हैं, देखें लोकगीत की इन पंक्तियों को–

कप्तान लिखे मिलअ कुवर सिंह, आरा के सबा बनाइब रे
बाबू कुंवर सिंह भेजते सनेसवा, मोसे न चली चतुराई रे
जब तक प्रान रहीतन भीतर, मारग नही बदलाई रे

श्रीधर मिश्र ने भोजपुरी लोकगीतों के विविध रूप में कुंवर सिंह के संघर्ष, सहभोग, संबंधियों की धोखाधड़ी और स्वाधीनता की आकांक्षा में व्यथित उनके मन बयान करते हुए निम्नलिखित लोकगीत को उद्धत किया है–

नेअत बाड़े बाबू कुंवर सिंह, मुंवा पर देईके रूमालिया हो राम।
लिहनी लड़इया हो बूढ़ा समइया में, अब कवन होइहें हवाल हो राम।
या,
एक त में कइलीं राजा डुमरांव के
उहो भागी चलले जैसे बन में के खरहा
कुल्ही गुनलका रामा, मटिया में मिलि गइले,
नाहीं लेवे पवलीं हम सुराज ।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि 1857 के संघर्ष में डुमरांव के महाराजा कुंवर सिंह का साथ नहीं देते है। जनमानस में आज भी यही धारणा है और कई बार इसीलिए कुंवर सिंह के प्रसंग में दोहियों को निम्न जीव में पुनर्जन्म के लिए शापित करता है–

जे ना दिही कुंवर सिंह के साथ, उ
अगीला जन्म में होई सुअर।
ओकर बाद होई भुअर

अर्थात जो कुंवर सिंह का साथ नहीं देगा वह अगले जनम में सुअर और फिर भुअर यानी अँग्रेज होगा। लोकमानस की यह चेतना है जो संकट के समय आम जन से लेकर विशिष्ट जन तक के लोगों को संघर्ष के लिए तैयार करती है। राना बेनीमाधव सिंह के प्रसंग में उध्दृत लोकगीत कहीं-न-कहीं इस बात की तरफ भी संकेत करता है कि वह कहाँ खड़ा है? राष्ट्रभक्ति का राही है या साम्राज्य वादी उपनिवेशवादी

व्यवस्था के साथ मिलकर जनता को उत्पीड़ित करना चाहता है?

इसी प्रकार बिहार के दरभंगा के लोक जीवन में अभी भी 1857 के विद्रोह की स्मृतियाँ ताजा हैं। कबड्डी आरा, संत्तान (सत्तावन) गुल्ली मारा' एक सांस में बोलते हैं, तो लगता है कि 1857 अतीत का पन्ना नहीं, जीवित इतिहास है। इतिहासकार डॉ० धर्मेंद्र कुमार का कहना है कि 'मिथिलाँचल में चरवाहों के बीच गीतों में प्रश्नोत्तर और समस्यापूर्त्ति की पुरानी व समृद्ध परंपर रही है, 1857 की लड़ाई पर केंद्रीत प्रश्नोत्तरी आज भी कहीं-कहीं सुनने को मिल जाती है। एक चरवाहा पूछता है-

अमर सिंह के कमर टूँटलैन, कुंवर सिंह के बाहिं।
पुछिऔन गदल भंजन सिंह से, अब लड़ता की नाहिं।'

दूसरे चरवाहे का जवाब-

'हाथी बेचब घोड़ा बेचब, सिपाही के खियायब ।
लरबै न त करब की, हँसी की करायब।'

उल्लेख्य है कि कुंवर सिंह व अमर सिंह की फौज में दरभंगा के लोग भी भर्ती हुए थे और वहाँ के गाँव-गाँव से आटा, चावल, दाल आदि इकट्ठा कर सेनानियों को भेजा गया था। दरभंगा के भीखा सलामी मुहल्ला में दिग्घी पोखर के दक्षिण-पश्चिम कोना में स्थित शहजादा की मज़ार स्वाधीनता के प्रथम संग्राम की गाथा सुना रहा है। तब कुंवर सिंह का परिवार मंगरौनी (मधुबनी) में था। यहाँ के पंडित भिखाई झा उनके कुलगुरु थे, श्री झा से कुंवर सिंह के अलावा अमर सिंह व बेटा दिलभंजन सिंह ने भी दीक्षा ली थी। कहा जाता है कि विद्रोह प्रारंभ होने से पूर्व बाबू कुंवर सिंह गुरु का आर्शीवाद लेने यहाँ आए थे। गुरु ने उन्हें विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया।

बैसवाड़े के हुलारे नामक कवि ने अपने एक गीत में शंकरपुर के राना बेनीमाधव सिंह की भरपूर प्रशंसा की है, जिन्होंने हटकर अँग्रेजों का मुकाबला किया था। अवध में राना है मरदाना' यह इस गीत का टेक है। इसी प्रकार रामबरेली जिले के हमीर गाँव निवासी बजरंग ब्रह्ममभट्ट ने भी राना की वीरता अपनी आँखों से देखी थी जिसने प्रशंसा में एक छंद लिखा-

'नेक न डेराना छीन लीन्हयो तोपखाना
वीर बाँधे वीर बाना बैस राना बिरम्हाना है।'

सन् अठारह सौ सत्तावन की जंग-ए-आजादी के दौरान विभिन्न भारतीय भाषाओं के लोकगीतों में अँग्रेजी हुकूमत से मुक्ति के लिए संघर्ष की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं और वे सभी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जीवन और चिंतन की अभिव्यक्तियाँ हैं। कहना नहीं होगा कि अपने देश और इसके विभिन्न क्षेत्र की भाषाओं के लोकगीतों में की गई अभिव्यक्तियाँ प्रतिगामी एवं साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए कहीं अधिक खतरनाक होती हैं। आखिर तभी तो प्रभुत्वशाली सत्ता-शक्तियों द्वारा कई भाषाओं की रचनाएँ प्रतिबंधित की गईं। दरअसल, लोकभाषा के गीतों में असीम शक्ति होती है, क्योंकि उसमें जनता का जीवन-स्पंदन, जिजीविषा और संकल्पना निहित रहती हैं, उसके मुहावरे, लोकोक्तियाँ, लोक धुनें शामिल रहती हैं। सुप्रसिद्ध आलोचक वंशीधर सिंह का स्पष्ट मानना है कि जीवन-संघर्ष की अंतर्ध्वनियाँ लोक-भाषा में सहजता से निस्सृत होती हैं, लोक हृदय में रच-बस कर लोककंठ में संवेगात्मक स्वर में फूटती हैं। सन अठारह सौ सत्तावन के संघर्ष की अंतर्ध्वनियाँ लोकगीतों आवेगपूर्ण संवेदनशीलता के साथ प्रवाहित प्रस्फुटित हुई हैं। लोकगीत महज शब्दों का जाल नहीं है; वह लोक-जीवन का छंद है, मुक्ति की ऋचा ब्रिटिश हुकूमत के विरोध में ग्वालियर के सिंधिया के समक्ष पद्माकर के कवित्त के साम्राज्यवाद विरोधी को स्वर को देखें-

मीनागढ़ बंबई-समुद मंदराजबंग,
बंदर को बंदकारि बंदर बसावैगो ।
कहे पद्माकर कसकि कासमीर ह कोहू
पिंजर सों घेरि के कलिंजर छुड़ावैगो।
बंकानृप दौलत अली जा महाराज कबौं
साजिदल पकरि फिरंगिन दबावैगो।
दिल्ली दहपट्टि,पटना हू को झपट्टिकरि
कबहुँक सत्ता कलकत्ता के उड़ावैगो ।।

इसी प्रकार भोजपुर के क्षेत्र में होली, चैता और पर्व-त्योहार के गीतों में सन् अठारह सौ सत्तावन के स्वर ध्वनित हुए हैं, वीर कुंवर सिंह के सम्मान और स्मरण में गाए जाने वाले इस गीत की पंक्तियों को देखें-

बाबू कुंवर सिंह तेगवा बहादुर,
होली खेलेले जंगे मैदान,
तऽ बंगला में उड़ेला गुलाल
या फिर-बाबू कुंवर सिंह तोहरे राजबिनु,
हम ना रंगाइबो केसरिया ।

बिहार की मैथिली, मगही, भोजपुरी, अँगिका, वज्जिका आदि लोकभाषाओं के लोकगीत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में सामंतवाद विरोधी चेतना के स्वर सुनने को आज भी मिलते हैं। सुप्रसिद्ध लोक गीतकार रघुवीर नारायण की रचना 'बटोहिया' की इन सुपरिचित पंक्तियों में भारत भूमि, संस्कृति को चित्रित करते हुए एक अनोखा सांस्कृतिक वातावरण प्रस्तुत किया गया है-

सुंदर सुभूमि भैया भारत के देसवा से
मोरे प्रान बसे हिम खोहो रे बटोहिया
एक द्वारा घेरे ला हिम कोतवालवा से
तीन द्वार सिंधु घहरावे रे बटोहिया
जाहु-जाहु भैया रे बटोही हिंद देखिआई
जहँवा कहुकि कोइलि बोले रे बटोहिया
पवन से गंध मंद अगर गगनवाँ से
कामिनी विरह राग गावे रे बटोहिया।

मैथिल कोकिल कवि विद्यापति के काल तक तिरहुतिया भाषा के रूप में मैथिली शब्द का प्रचलन स्यात् नहीं हुआ था, इसलिए उसे तिरहुतिया कहा जाता था। कवि विद्यापति ने इसकी लोक प्रवृत्ति का परिचय दिया है। भोजपुरी भाषा की इस लोकोक्ति में भोजपुरिया, मगहिया और तिरहुतिया-इन तीनों भगिनी भाषाओं के संयुक्त प्रयोग की एक वानगी आप देखें-

कस कस कसमर किना मगहिया

का भोजपुरिया की तिरहुतिया।

मगही और भोजपुरी के कवि राम प्रसाद पुण्डरीक ने सोहर, झुमर और लोरकायन धुन में सांस्कृतिक सौंदर्य का वर्णन बहुत सुंदर ढंग से किया है। कवि पुण्डरीक के सोहर गीत की इन पंक्तियों पर आप गौर करें जिसमें नारी जागरण का संदेश दिया गया है-

बहिनो, अब ना रहब हम बंद,
हमहु जग देखब हे
रहत हमहिं जग बंद,
बहुत दिन बीतल हे।

इसी प्रकार भोजपुरी, मगही, मैथिली के अतिरिक्त अनेक लोक भाषाओं के लोकगीतों-यथा सोहर, मंजारा, लोरकी, आल्हा आदि लोक धुनों और लोक स्वरों में नवजागरण के संदेश मिलते हैं और इन गीतों से स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों की रगों में रक्त का संचार बढ़ जाता था।

अँग्रेजी साम्राज्यवाद के विरोध के स्वर राजस्थान लोक साहित्य के गीतों में भी काफी मिलते हैं। विरोधी स्वर के इस रूप को देखें-

उतन विलायत किलकता कानपुर आविया,
ममोई लंक मदरास में ला,
वलम धुर वहण अँगरेज वाटन थला,
यह भरतपुर ऊपरा हुआ मेला।

लोककवि बाँकी दास के राजस्थानी लोकगीत की इन पंक्तियों को देखें जिसमें राजस्थान के कुछ सामंतों को लक्ष्य कर लिखा है-

आयौ इंगरेज मुलुक रै ऊपर,
आहँस लीधो खैंचि उरा,
घुणिया मरै न दीधी धरती,
धणिया ऊमौ गई धरा ।

यमुना, चंबल टैंस और नर्मदा से घिरा अंचल पर्वत, पहाड़ों, डांगों तथा भाराक्रांत वनों से आच्छादित बुंदेलखंड आत्माभिमान पराक्रम तथा बगिचों का क्षेत्र रहा है। अँग्रेजों की गुलामी से मुक्त होने के प्रथम महत्त्वपूर्ण संघर्ष बुलंदखंड की वीरांगना झांसी की लक्ष्मीबाई की शहादत का उद्घोषक है। सन 1857 की क्रांति की लपट बुंदेलखंड की छाती पर ही धधकी और प्रज्ज्वलित हुई। वीर बुंदेला छत्रसाल का विद्रोह अपने क्षेत्र की रक्षा की लड़ाई को ही रेखांकित करने वाला रहा है।

बुंदेलखंड के लोक साहित्य में शौर्य पराक्रम, वीरता, त्याग और बलिदान पहले समूह जीवन के संकल्प बनते हैं, फिर ये ही गुण प्रेरक बन जाते हैं। संघर्ष और स्वाभिमान यहाँ के लोकगीतों का प्रमुख स्वर रहा है। बुंदेलखंड की लोकप्रवृत्ति के दो छोर हैं- एक छोर रसात्मक शृंगारी वृत्ति और दूसरी ओर दुर्दांत वीर भाव की पराक्रमी वृत्ति बुंदेलखंड की लोक गाथाओं में हिल-मिल गई है जो यहाँ के जीवन में व्याप्त मुक्ति कामना की ही प्रतीक है। बुंदेलखंड में ही 'आल्हा' महाकाव्य के रचयिता जगनिक पैदा हुए जिनकी ओजपरक अभिव्यक्ति आल्हा खंड में लोक की संपूर्ण रागात्मकता के साथ हुई है जिसके आल्हा और उदल दो नायक हुए। वे दोनों सम्राट, नहीं थे, बलि राजा के सेना के मात्र बाँके लड़ाके थे।

बुंदेलखंड में परिचित नामक राजा का चरित्र स्वतंत्रता प्रेमी लोक गीत गायकों के लिए सतत प्रेरणादायी रहा है। बुंदेली लोकगीतों में पारीछित की सेना से फिरंगियों की सेना लोहा नहीं ले पाती। चरखारी का यह राजा घनघोर जंगलों में अँग्रेजों से लड़ने की तैयारी कर रहा है। देखें बुंदेली लोकगीत की इन पंक्तियों को-

"काबुल और खंदार देस हैं जो से चढ़ो फिरंगी
पुश्छल बारम्बार कहाँ राज्य है जंगी
राजा जंगी जैतपुर केर पुरजन के अधिकार
जंग की करें तैयारी डौंगई बगौरा की
चारऊँ ओर पहारन की पारीछत ढाढी पार
गोरा उसे बगौरा की डाँगन-डाँगन मझधार"

पारीछत जैसे युवा योद्धा फिरंगियों के लिए काल बन गया हैं-

"देस दिसावर सालो नहीं सालो जैतपुर गाँव
एक जनो मोथे एसो सालो सालो मल्लं युवराजा"

इस प्रकार से बुंदेलखंड के लोक जीवन में व्याप्त स्वतंत्रता की कामना बुंदेल खंड के लोकगीतों में यत्र-तत्र स्पष्ट हो उठती है। देखें-

उड़ आवती चारऊ देश चिरैया हो जाती राजा

मगही के अल्पख्यात कवि सुखदेव ने ब्रिटिश कानून व्यवस्था में किसानों के मुकदमेंबाजी में फँसने की दुर्दशा का मगही के लोकगीत में इस प्रकार ढाला है-

समुझि परी जब लेल देल कागज बाकी सबनिका सी,
धरम राज जब लेखा लीहन लोहा के सोटवार मार पड़ी,
आगिन खंब में बाँचि के रखिहें,

हाजरी जमिनी कोई न करौ, एक भोजपुरी के लोकगीत में आरा की लड़ाई में कचहरी को वर्णन इस प्रकार किया गया है-

रामा आरा पर कई ले लड़इया रे ना
रामा कचहरी के उपरवा रे ना
रामा कुँअर सिंह करले अधिकरवा रे ना

लोकगीत में कहीं कहीं अँग्रेजों की वीरता को भी सराहा गया है और उनमें जनता की न्यायप्रियता का प्रमाण, मिलता है-

चारो तरफ से बाँध मोर्चा लड़े फिर जंगी गोए

इसी प्रकार पंजाबी गीत में कोई स्त्री कह रही है-

सुत्ती सुत्ती नूं बीबा वे मैनूं सुपना आया
बैठड़ी अनामोल गोरी सीस गुंदाया
कत्तदी कत्तदी मैणा नी मेरी चुंहदी हलवी
भैणां मेनूं दे हो बधाइयां जानी दिल्ली मलनी
कत्तदी कत्तदी मैणां नी मेरी यूंहदी छुट्टी
मैणां मेनूं दे हो बधइयां रांझे दिल्ली लुट्टी ....

विभिन्न लोकभाषाओं के इन लोकगीतों में स्वतंत्रता संग्राम की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं जो जनता की जागरूकता के प्रतीक हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो आज सांस्कृतिक विविधता की रक्षा करना इसलिए आवश्यक है ताकि मनुष्यता के भविष्य को बचाया जा सके।

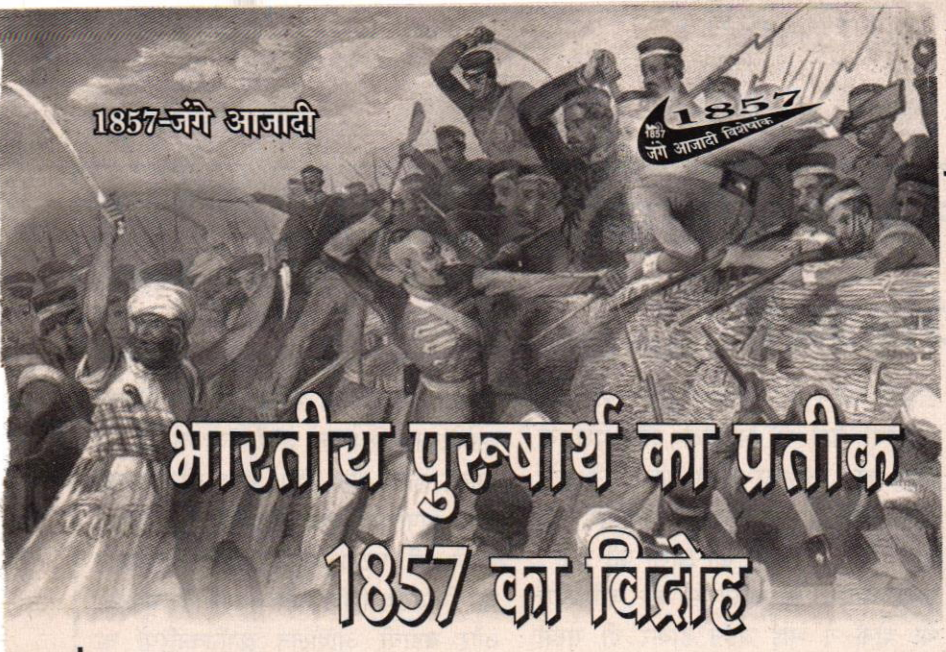

भारतीय पुरुषार्थ का प्रतीक 1857 का विद्रोह

अपने क्षुद्र स्वार्थ व अहंकार की तुष्टि के लिए भारत का आर्थिक, मानसिक व शारीरिक शोषण करने वाले अँग्रेजों को यहाँ से खदेड़ने का प्रथम संगठित प्रयास 1857 में ही किया गया था। इस संग्राम में आम आदमी की सहभागिता व स्थानीय लोगों का अपार सहयोग इसकी मूल चेतना व प्रकृति को प्रतिबिंबित करती है। बिहार-उत्तर प्रदेश के गाँवों में प्रचलित लोक गीत हों या सड़कों के किनारे स्थित पुराने पीपल नीम के वृक्षों से जुड़ी कहानियाँ, इस आंदोलन में सक्रिय जन सहभागिता के ऐतिहासिक साक्ष्य ही हैं। अँग्रेज इतिहासकारों ने इस संग्राम को स्वार्थी सामंतों का षड्यंत्र प्रमाणित करने का भरपूर प्रयास किया। परंतु वे इस प्रयास में सफल नहीं हो सके। यह अब सिद्ध हो गया है कि इस आंदोलन की मूल चेतना भारतीयता व गौरवशाली अतीत थी। वहीं तत्कालीन संतों ने गाँवों की सोयी हुई चेतना को झकझोरा। इसके बाद स्वावलंबी गांवों को नष्ट करने के फिरंगियों के षड्यंत्र के विरुद्ध मुखर आक्रोश इस संग्राम के लिए ऊर्जा स्रोत बना। क्षुद्र स्वार्थ के लिए अँग्रेजों के तलवे चाटने वाले सामंतों ने तो इस आंदोलन के साथ छल किया था। 1857 में हजारों भरतीयों की बलिदान के बावजूद हमें आजादी नहीं मिल सकी थी, लेकिन भारत का पुरुषार्थ जरूर जाग गया था। इसके बाद ही अँग्रेजों को भगाने के लिए आंदोलनों का जो सिलसिला शुरू हुआ वह स्वतंत्रता प्राप्ति की घोषणा के बाद ही थमा। अँग्रेजों को अंतत: इस देश को छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। कम्पनी शासन के दस्तावेज गवाह हैं- 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में शाहाबाद, पूर्वी उत्तर प्रदेश के बलिया, गाजीपुर, पटना व गया जिलों की सड़कों के किनारे पीपल व नीम के हजारों पेड़ों पर अँग्रेजों से लड़ने वाले योद्धाओं के शव लटक रहे थे। पेड़ से लटकने वालों की सूची अब भी उपलब्ध हैं इसमें जमींदारों व सामंतों का नाम शायद ही शामिल हो। अपना सबकुछ न्योछावर करने वालों में गांवों में रहने वाले किसान, मजदूर, पशुपालक या कारीगर थे। पूजा-पाठ कराने वाले ब्राह्मण हों या पशुपालन करने वाला ग्वाला या अन्य कार्य में लगे रहने वाले लोग सबने इस राष्ट्र यज्ञ में अपनी आहुति दी थी। यहाँ तक की कोठे पर रहने वाली रूपाजीवाओं ने भी भारत माता को गुलामी से मुक्ति दिलाने वाले इस महासमर में अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया था। धर्मन बीबी व हाजीबेगम का नाम भारत के स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में दर्ज है। बाबू कुंअर सिंह व उनके सैनिकों को गंगा के उस पार पहुँचाने वाले भीमा मल्लाह के पूरे परिवार को मौत के घाट उतार दिया गया था। बाबू साहब के नेतृत्व में अँग्रेज सैनिकों के छक्के छुड़ाने वाले भोजपुर के हरसु राय, गाजीपुर स्थित असई गाँव के इब्राहीम खां, शाहपुर के रंजीत अहिर, दुर्गावती के देवकी दूबे, सहजौली के देवी ओझा, नीमेज के जय प्रकाश ओझा व ठाकुर ओझा, द्वारका माली, बलिया के हजारी सिंह, गया के जोधर सिंह, शिव बख्त मिसीर, आरा के रतन दुसाध, भोलू कहार, भोला अहीर, दासू अहीर जैसे सैकड़ों नाम हैं जो स्थानीय सामंतों की गद्दारी के कारण पकड़े गए और बर्बरता पूर्वक उन्हें खुलेआम पेड़ों से लटका दिया गया या तोप से उड़ा दिया गया था। बंसुरिया बाबा जैसे संतों ने गाँव के लोगों को अपनी संस्कृति व राष्ट्र के प्रति जिम्मेदारियों का अहसास कराया। कई इतिहासकार मानते हैं कि कमल व रोटी के माध्यम से संग्राम का संदेश गाँव-गाँव तक पहुँचाने की जिम्मेदारी साधु-संतों ने संभाली थी। बाद के काल में बलिया के संत विज्ञानानंद ने 1920 में दानापुर सैनिक छावनी में भारतीय सैनिकों के बीच क्रांतिकारी भाषण कर उन्हें स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के लिए ललकारा था। उन्हें अँग्रेजों ने गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया था। बाद में सदाफलदेव के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। बिहार व उत्तर प्रदेश में कई ऐसे स्थान हैं जहां इस संग्राम के योद्धाओं के बलिदान के प्रतीक पेड़ों या स्थानों पर स्थापित पिंडों की अब भी पूजा की जाती है। इस संग्राम के अमर योद्धा बाबू कुंअर सिंह को स्मरण किए बिना होली गीत न गाने की परंपरा अब भी गाँवों में बरकरार है। होली के अवसर पर राम-कृष्ण को याद करने के बाद गाँवों में सबसे पहले बाबू कुंअर सिंह तेगवा बहादुर, फिरंगियन के देले भगाय.... होरी गीत गाया जाता है।

–दैनिक जागरण से साभार

1857 का स्वतंत्रता संग्राम और पीरअली

अफ़ज़ल इंजीनियर

अगर इतिहास के तथ्यों को सही नज़र व सदभाव से देखा जाए तो हिंदुस्तान में मुस्लिम और हिंदू दोनों भाई की तरह इस धरती को माँ का सम्मान देते आए हैं और देश पर आए हर कठिन समय में एक दूसरे को कंधे से कंधा मिलाकर साथ दिया है और विजय पाई है। इसकी सबसे बेहतर और उच्च कोटि का राष्ट्रीय स्तर की मिसाल 1857 का स्वतंत्रता संग्राम है, जिसकी लड़ाई दोनों समुदायों ने एक साथ मिलकर लड़ी और हिंदुस्तान के शहनशाह बहादुर शाह ज़फर को हिंदू-मुस्लिम सभी ने अपना कायद मानां। दिल्ली से जंग आज़ादी शुरू हुई दिल्ली के पहले पत्रकार श्री बाकर हुसैन के समाचारपत्र से देशी मुखबरों व मिर्जा गालिब के शायरी द्वारा और उलमाओं के देश भ्रमण व इन्कलाबी नारों और कुर्बानियाँ दीं तथा योगियों व संत साधुओं के भजन किर्तन में देश प्रेम गीत और अँग्रेजों द्वारा की जाने वाली अत्याचारों का वर्णन पूरे देश भर में दिया जिससे हर एक हिंदुस्तानी के मन में आज़ादी पाने की ज्वाला जला दी थी और हर हिंदुस्तानी अपने देश को गुलामी से आजाद कराने के लिए मर मिटने को तैयार बैठे थे। अँग्रेजी प्रशासन ने 1857 के ळंहहपदह ।बज से पत्रिका लिखने पर रोक लगा दी। लेकिन आज़ादी के मशाल की चिनगारी ज्वाला बनकर दिल्ली से बिहार में भी पहुँची। मेरठ के ग़दर के बाद कुछ मौलवियों जिन्में मुख्यत: मौलवी अहमदुल्लाहशाह का नाम इतिहास के हर पन्नों में आता है, उनके द्वारा आज़ादी की लड़ाई लड़ने का संवाद पहुँच गया। यहाँ आज़ादी पाने के मतवाले और देश के लिए जान निछावर करने वालों की कोई कमी नहीं थी। डुमराँव के ज़मींदार बाबू कुंवर सिंह, "बिहार की झांसी की रानी" राजी बेगम, जो सासाराम की जागिरदार थी दोनों ने भाई बहन होकर ही राखी बँधवाई और आज़ादी की जंग एक दूसरे से मिलकर लड़ने का वचन दिया। सासाराम

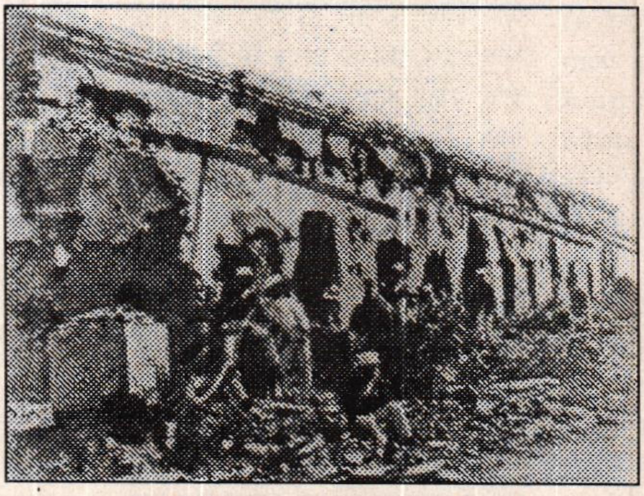

में अँग्रेजी हुकुमत को बाबू कुंवर सिंह की गतिविधियों की खबर मिल गई कि वह हाजी बेगम के यहाँ छुपकर सरकार से बगावत कर रहें हैं। हाजी बेगम के महल पर हमला कर दिया। हाजी बेगम बूर्का पहन कर और नंगी तलवार लिए अँग्रेजों पर टूट पड़ीं वहाँ की जनता ने भी साथ दिया और अंत में अँग्रेजों को भागना पड़ा। बाद में अँग्रेजों की जुल्म की वजह से सासाराम छोड़कर दूसरी जगह चली गई और 1859 ई० में उनकी मृत्यु हो गई। इसी क्रम में आज़ादी के जंग की धधक पटना शहर में भी पकड़ चुकी थी। पटना के नवाब परिवार के सदस्य सादिक पूर के मौलवियों, जमींदारों और साधारण व्यक्तियों में शहीद पीर अली जो किताब बेचकर और लिखकर अपनी जिविका चलाते थे इस जंग आज़ादी में खुलकर हिस्सा लिया और मोर्चे पर अँग्रेजी सरकार के खिलाफ बड़ी बहादुरी से मुकाबला किया। कई मौलवी पकड़े गये और मौलवी आंदोलनकारियों को उन्हें सजा के तौर पर काला पानी भेज दिया गया और उनकी सभी संपत्तियाँ ज़ब्त कर ली गई जिसमें आज भी पटना म्यूनिसिपल कारपोरेशन की बिल्डिंग जिंदा और क़ायम है। मौलवी और बहाबी आंदोलन क्रांतिकारियों के काला पानी चले जाने के बाद आज़ादी के दीवाने का कायद की जिम्मेदारी पीर अली ने हाथ में लिया। अँग्रेज़ों द्वारा हिंदुस्तानियों को बेइज़त करने वाली सभी कारवाई से बहाबीमरकज़ से एक फतवा जारी हुआ था जिसमें सच्चे मुसलमानों से, सरकार से बग़ावत करने और अँग्रेजों से सख्त इंतक़ाम लेने की अपील की गई थी। चुँनानचे उस वक्त कई बड़े घराने के मुसलमानों ने बढ़चढ़ कर अँग्रेजों से लड़ने में आगे-आगे रहे, जिसमें मुख्य रूप से क़ुदरत अली, मौलाना यहया, अलीखाँ, मौलवी वायजुल हक़ और अहमद हुसैन थे। इन सभी लोगों को अँग्रेजी सरकार के पकड़े जाने के बाद पटना के आज़ादी की जंग गरीब लोगों की जंग में बदल गई जो मात्र देश प्रेम में लड़ा जा रहा था। पीर अली का सरकार से कोई नाता नहीं था और न ही सरकार से उससे नुक़सान था। वो बस एक इंक़लाबी थे और एक सच्चे व देश भक्त मुसलमान थे। उनकी सबसे बड़ी खूबी यह थी कि हर धर्म, हर तबके के लोगों से बिना भेदभाव और प्रेम व्यवहार था, लेकिन उन्हें इस बात का जंग में कूदने पर एहसास हो गया था कि हर आदमी शेर की खूबी नहीं रखता है। कई बार अपने को कमज़ोर महसूस करने पर भी अपनी

मिशन से मुँह नहीं मोड़ा। पटना में उनका कोई नहीं था, लेकिन वह इस हालत में भी आज़ादी का बेड़ा अपनी हाथ में लिए हुए बढ़ रहे थे। उनका सबसे गहरा दोस्त तिरहुत पुलिस का जमादार वारिस अली था, जो बहदुर शाह ज़फर के दूर का रिश्तेदार था और बरूराज (मुज़फ्फरपुर) थाना में तैयनात था। उसे 23 जून 1857 में जासूसी के इलज़ाम में गिरफ्तार कर 6 जूलाई 1857 को फाँसी पर लटका दिया गया। इस तरह से वह बिहार के पहले पुलिस अधिकारी थे जिन्होंने देश के लिए कुर्बानी दी। पीर अली के और सहयोगी में सिख रेजमेन्ट के सिपाही हजार सिंह भी था जो गुलज़ारबाग में डॉ० लायल के तहत अफीम के गोदाम की हिफ़ाज़त पर मामुर थे, उससे मिलकर पीर अली अँग्रेजों की तमाम खबरें ले लिया करते थे। 3 जूलाई को दानापुर की फ़ौजों ने बग़ावत कर शहर पर कब्जा कर लेने का मंसूबा बनाया और इस बीच पीर अली ने आवाम में अपना राबता बनाया और शाम तक तक़रीबन दो सौ आदमी उनके साथ हो गये और पीर अली एक झंडा लेकर जो सफेद और नीले रंग का था, लेकर आवाम से आग्रह किया की यह हमारे आज़ादी का निशान है, यह झुकने और गिरने ना पाए और जुलूस के रूप में पटना के गूड़हट्टा से होता हुआ सदर गली और मछरहट्टा पहुँचा। धीरे-धीरे लोग जलुस में शामिल होते गये। इतने में अफयून का सौदागर डॉ० लायल आ पहुचा, उनके पीछे गोरों की फौज थी, जिन्होंने निहत्थे और बेकसूर लोगों पर अँधाधूंध गोलियाँ चलाना शुरू कर दिया जिसका जवाब पत्थर, ईटं और लाठी डंडा से दिया जाने लगां जिसमें कई शहरी जख़्मी और शहीद हुए और डॉ० लायल भी मारा गया। डॉ० लायल की हत्या के आरोप में शहीद पीर अली और उनके मुख्य साथियों में घसीआ खनीफा, गुलाम अब्बास, नंन्दलाल उर्फ सिपाही, जुम्मन, मदुआ, रमजानी, पीर बख्श, अवसाफ हुसैन, छेदी गोवाला, घसीटा (डोमन का पुत्र) मिलाकर तकरीबन 19 आदमी को कैद कर लिया गया और एक दिन में मुकदमा चलकार 5 जुलाई 1857 को मौत का फैसला सुनाकर 2 घंटे के अंदर फाँसी दे दी गई, लेकिन पीर अली से कुछ खुफिया, मालुमात हासिल कर उसे छोड़ देने पर अँग्रेज़ी सरकार ने सौदा करने की कोशिश की। पीर अली को काफी कष्ट दिये जाने पर भी वह सौदे को नहीं माना और यही कहते रहे कि "मेरे खून के हर कतरे से हज़ारों बहादुर उठ खड़ें होगे" और ऐसा ही हुआ। 07 जुलाई 1857 को पीर अली को फाँसी दे दी गई उनका घर ध्वस्त कर दिया गया, उनके लाश को कई जगह दफन किया गया ताकि लोग उनके रास्ते पर आज़ादी हासील करने के लिए न चलें। लेकिन इतिहास गवाह है किस तरह इस आज़ादी के मतवालों की कुर्बानियों के बाद कितने जांवाज़ और बहादुर पैदा हुए जो भिन्न नाम और क्षेत्रों में आजादी की लड़ाई लड़कर पूरे हिंदुस्तान को गुलामी से आज़ाद कराया जिसका हम सब देशवासियों को आभारी और उनके प्रति सभी नागरिकों में एक समान सम्मान होना चाहिएए, जिस तरह वह एक होकर देश के लिए लड़े। कहा जाता है कि गुलजारबाग़ रेलवे स्टेशन के पास कई शहीदी ओीले मज़ार की शकल में मौजुद हें, उनमें एक पीर अली का भी हैं कुछ साल पहले पीर अली की याद में एक संस्था बनाई गई जो शहीद पीर अली ट्रस्ट के नाम से जाना जाता है, चुंकि मेरा संबंध भी वहाबी आंदोलन के मौलवी परिवार से हे, इस प्रकार अपने बुजुर्गो और देश भक्तों की याद और मौजूदा लोगों में अपने मुल्क से मोहब्बत रखे जाने की शिक्षा, संदेश देना अपना कर्तव्य समझते हैं। इस ट्रस्ट की जर्जर हालत और किसी प्रकार का बाहर से सहयोग न मिलने के बावजूद ट्रस्ट के मिशन में उस समय के पटना कमिश्नर विलियम टेलर के नाम पर रखा हुआ रोड का नाम पीर अली के नाम से उनकी यौमेशहादत 7 जूलाई को बिहार सरकार द्वारा कराया जाना और गंगा नदी पर बन रहे पुल का नाम "पीर अली सेतू" रखने की तहरीक कई सालों से जारी है. इस साल 7 जुलाई को पीर अली की यौमेशहादत के मौके पर बिहार के मुख्यमंत्री और उपमुख्यक मंत्री, को पीर अली ट्रस्ट के उद्घाटन और मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया गया था। क्योंकि स्वतंत्रता संग्राम की 150वीं वर्षगाँठ के अवसर पर ट्रस्ट को पूरा विश्वास था कि यह काम संपन्न हो जाएगा। किसी कारण से इस ट्रस्ट के यौमेश्हादत के कार्यक्रम में मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार जी का आना तो नहीं हुआ, लेकिन यह समाचार अखबारों में पढ़ने को मिला कि शहीद पीर अली ट्रस्ट द्वारा चलाए जा रहे दोनों मुख्य बातें, पीर अली के नाम पर सड़क का नाम रखा जाना, और यौमेशहादत बिहार सरकार द्वारा मनाया जाने का मुख्य मंत्री द्वारा एलान हो गया है। शहीद पीर अली ट्रस्ट और उनके अनुयायी व आम मुसलमानों में मुख्य मंत्री नीतीश कुमार द्वारा उठाए गए इस कदम से बहुत खुशी है, जिसके लिए पीर अली ट्रस्ट उनकी सराहना करता रहेगा और उन्हें इसके लिए बहुत-बहुत धन्यवाद भी दिया जाता है। आगे भी यह ट्रस्ट राष्ट्र प्रेम, सांस्कृतिक रख-रखाव और भाईचारा बनाए रखने के लिए अपनी क्षमता अनुसार काम कर सभी स्वतंत्रता सेनानियों को श्रद्धांजलि देता रहेगा। इस बात पर ट्रस्ट अध्यक्ष पूरी तरह साबित कदम रहेंगें।

संपर्क: अध्यक्ष, शहीद पीर अली
ट्रस्ट 'सोहर हाउस' लोहरवा घाट,
आलमगंज, पटना-800007
मोबाइल नं०-9835419667

1857 राजस्थानी लोकगीतों में

–राज चतुर्वेदी

राजस्थानी धरती पर उत्पन्न 1857 की क्रांति से संबंधित अनेक लोक गीत-गाथाएँ मिलती हैं। 1857 की आजादी की पहली लड़ाई से पूर्व राजस्थान में जिन लोगों ने अँग्रेजों से टक्कर ली उसमें राजस्थान के भरतपुर रियासत प्रमुख थी। इसके साथ ही जोधपुर के राजा मान सिंह का चरित्र भी राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत था। महाराव डूंगरपुर जसवंत सिंह नरसिंहगढ़, राजकुंवर चैन सिंह, डूंगजी जवारजी और उमरकोट के रतन राणा, राव गोपाल सिंह खरवा के कार्य 1857 की क्रांति की भूमिका बने। भरतपुर के घेरे से संबंधित लोकगीत अभी भी होली के अवसर पर गाए जाते हैं जिसके बोल में जनता का विरोध झलकता है-

गोरा हट जा!
राज भरतपुर के रे गोरा हट जा
भरतपुर गढ़ बंका रे गेरा हट जा।
यूं मत जाणै गोरा लड़ै बेटौ जाट के
ओ तो कुंवर लड़ै रे राजा दशरथ को
गोरा हट जा।

इसके साथ ही डुंगरजी की गाथा भी कवियों ने गाई है, जिसके पद-पद में अँग्रेजों का विरोध है-

सन् सत्तावन सूं पैलीई, अे जोत जगावण वाण्ठा हा।
आजादी बाण्ठै दिवलैरी, वण्ठती लौ का रखवाला हा।

इस जंगे आजादी की आहट लोक और कवियों ने सुन ली थी इसीलिए महाराजा मानसिंह के आश्रितकवि बाँकी दास ने लिखा था-

आयौ इंगरेज मुलक है ऊपर आहंस लीथा खैंचि उरा,
घणियं मरै नदीघी घरती, घणियां ऊभां गई घरा।

इसी तरह मानसिंह से जोधपुर की संधि में सांभर-झील अँग्रेजों ने हड़प ली थी उसकी पीड़ा एक लोकगीत में व्यक्त हुई है-

म्हारौ राजा भोण्ठौ, सांभर तौ दे दीनी रे
अँगरेज नै म्हारौ राजा मोण्ठौ,

बाँकीदास ने तत्कालीन मारवाड़ के चौहटन ठिकाने के ठाकुर की प्रशंसा में गीत लिखा है, जिन्होंने गोरी सत्ता के विस्तार को रोका था तथा वीरतापूर्वक लड़ते हुए ठाकुर श्याम सिंह चौहान शहीद हुए थे-

हट वदी जद नहर हो फरिया, सादी जिसड़ा साथ सिपाइ,
मेर जदीमंड बाहड़ मेरै, गोरां सू रचियौ गज गज-गाह।

डिंगल के सुप्रसिद्ध कवि सूर्य मल्ल मिश्रण तो स्पष्ट लिखते हैं-

जिण बन भूल नजावता गैंदगवय गिडराज।
तिणबन जंबुक तारवड़ा, ऊघम मंडै आज।

अर्थात राजस्थानी रूपी जिस वन में गेंडे, हाथी और सूकर सिंघों के भय से भूलकर भी नहीं जाते थे आज उस जंगल में अँग्रेज रूपी लोमड़ियाँ और सियार उत्पात मचा रहे हैं।

क्रांतिकारी वीरों 1857 के नायक तात्या टोपे के बारे में डिंगल के कवि शंकर दान सामोर का एक गीत देखें-

मचायौ हिंद में आखी तइलकौ ताँतिय-मोटो,
घोम जेम घुमायौ लंक में हणु घोर।
रचायौ रूण्ठंती राजपूती रौ आखरी जंग
जंग में दिखायौ सुवायौ अभाग जोर।

शंकरदान सामोर ने ही 1857 की नायिका रानी लक्ष्मीबाई के लिए इस तरह अपने भाव व्यक्त किए हैं-

हुयौ जाण बेहाल, भाल हिंदरी मोम ठरो।
झगड़ै निज भुज झाल, लिछ्मी झांसी री लड़ी।

जोधपुर मारवाड़ में 1857 की क्रांति के अग्रदूत थे आऊवा के ठाकुर खुशाल सिंह, जिन्होंने अँग्रेजों और रियासत की सेना से जबरदस्त लोहा लिया था जिसे तत्कालीन कवियों- महाकवि सूर्य मल्ल मिश्रण, गिरवरदान और तिलोकदान व शंकर दाने सामोर जैसे कवियों ने अनेक डिंगल गीतों में बखाना है, परंतु 'भाऊवा' और ठाकुर खुशाल सिंह के बलिदान को लोकगीतों में आज तक गाया जा रहा है-

वणिया वाली गोचर मांय, रालौ पड़ियौ ओ
राजाजी रै मेलौ तो फिरंगी लड़ियौ ओ
काली टोपी रो।
हां रै काली टोपी रो।
फिरंगी फैलाव कीधौ ओ
काली टोपी रो।

इस संबंध में एक और लोकगीत दृष्टव्य है, जिसमें अँग्रेजों संबंधी उदगार व लोक धारणाएँ इतनी स्पष्ट है कि लोक की नफरत साफ दिखाई देती है-

देस में अंगरेज आयो, कोई कांई चीजां लायो रे।
फूट डाली भायां में, बेगार लायो रे
काली टोपी रौ।
हां रे काली टोपी रो अंगेरज देस में छावनियां नांखै रे
काली टोपी रौ।

आऊवा के युद्ध में अँग्रेज सेनापति मारा गया जिसे गढ़ के दरवाजे पर टांग दिया गया था, इसे एक लोकगीत में इस तरह गाया गया है-

ढोल बाजै, थाली बाजै, मेलौ बाजै बांकियौ
अजंट नै भार नै दरवाजै नांखियौ
जूंझे आऊवौ।
हां रे जूंझै आऊवौ, आऊवौ, मुल्का में चावौं ओ। जूंझे आऊवौ ।

1857 के संघर्ष की वाणी राजस्थानी-किंगल कविता का अद्भुत अध्याय है, जिस पर राष्ट्र को नाज है। इस लोकगीतों के प्रकरण में एक लोकगीत की यह शब्दावली कितनी व्यंग्यपूर्ण हैं जो अँग्रेजों की प्रवृ़ियों को सामने लाती हैं-

गिटपिट गिटपिट बोली बोलै बातां मारै
घूणा की
मत मूंडै लगाऔ
ई नै मत बतलाऔ ।

1857 के संघर्ष के एक नायक का बखान एक फाग में इस तरह किया गया है-

देखो मेड़तिया और डावै कांन मुस्की रे
बारै बरस दिखा में रिया आँख फुटकी रे
लोगौ आऊवौ।
हां रे लेणौ आऊवौ, झगड़ां में थारी
जीत होती मो लेणौ आऊवौ।

और अंत में ये लोकगीत आज भी 1857 की याद दिलाते हैं-

मुजरौ ले बोनीं बाबलिया होली रंच
राची।
मुजरौ ले लोनीं।
टोली रे टीकायत माथै थारा हाकम
चढ़िया ओ
गोली रा लागोड़ा भाई भाखर मिलिया हो
झाड़ी झंगा में।

राजस्थानी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, बघेली, बुंदेली, ब्रजी, मालवी, अवधी की तरह कुछ वाह धारी बोली में भी कवियों ने 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम-सेनानियों के बलिदानों को बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ लोकगीतों में उनके शौर्य गान कर स्मरण किया है। कुछवाहघर अर्थात भिण्ड (म०प्र०) अंचल की बोली में आज तक प्रचलित कतिपय लोकगीत द्रष्टव्य हैं-

राखो पुरखन को सम्मान
इन भइया बाबा को तनिक न जानों,
इन भइया बाबा को तनिक मानों
गोरा आए इनकी भूमि में तेगन सौं
काटे थो फरमान।
राखो पुरखन को सम्मान।
भुतहा कछार जो बजत है
बिलाव गाँव से जो लगत है''
मूंडन के खरियान बनाए, गोरा छोड़
गए मैदान।
वीर भूमि के वीर हैं भइया
वीर भूमि के सूर हैं भइया
दिल दहलाए जिन गोरन के, राखो
आपनों मान।
राखो पुरखन को सम्मान।

इसी प्रकार होली के अवसर पर शहीदों के स्मारकों पर ग्रामीण जन अबीर लगाकर होली खेलते हैं और साज-बाज के साथ होली आनराय गीत गाते हैं। उन्नीसवीं सदी के इस गीत को आप देखें-

मैंने ढूँढ़े चारहुँ ओर में, बिछुरे भइया
न मिले,
कै भइया बन को गए हाँऽऽ कै गए
ससुराल,
मैंने ढूँढ़े चारहुँ ओर में................।
ना भइया वन कों गए न गए ससुराल।
मैंने ढूँढ़े चरहुँ ओर में.................।
घोड़ा बँधा न घुड़साल में हाऽऽ ना
खूँटी टंगी तलवार
मैंने ढूँढ़े चारहुँ ओर में...........
युद्धन में मइया गए सो भारत, माँ के
मये दुलार।
मैंने ढूँढ़े चारहुँ ओर में, बिछुरे भइया ना
मिले।

सपर्क :
23, चंद्र पथ, सूरजबाग (प०),
जयपुर (राजस्थान)

प्रेरक प्रसंग

पहाड़ पुरुष दशरथ माँझी के लिए कोई भी काम नामुमकिन नहीं

कहा जाता है कि अगर कुछ करने की इच्छा शक्ति हो, दिल में जोश ज़ज्बा हो तो कोई भी काम नामुमकिन नहीं होता। बिहार के गया जिले के बजीरगंज प्रखंड निवासी दशरथ माँझी एक ऐसे ही लगनशील, कर्मठ और अपने लक्ष्य के प्रति निष्ठा रखने वाले सूरमा थे जिन्होंने अकल्पनीय-असंभव को संभव कर दिखाया। दरअसल हुआ यह कि सड़क के अभाव में स्व०माँझी की बीमार पत्नी को इलाज के लिए अस्पताल नहीं ले जाया जा सका और पत्नी की असामयिक मृत्यु हो गई। बस क्या था, इस दर्दनाक घटना ही बना उनका प्रेरणा-स्रोत और खामोश क्रांति ने आकार ले लिया। गहलौर घाटी के दशरथ ने उठाई अपनी छेनी-हथौड़ी और लगे उस पहाड़ का सीना चीरने, जो दो प्रखंडों के बीच रोड़ा बना हुआ था। बीस वर्षो तक अपनी छेनी-हथौड़ी से अथक परिश्रम कर उस पहाड़ को उन्होंने काटा और दो प्रखंडों को जोड़ने वाला सड़क तैयार हो गया। इसमें न एक छेदाम किसी की पूजी लगी और न रत्तीभर मेहनत। स्व० माँझी ने अपने जमाम पारिवारिक-सांसारिक काम करते हुए इस संकल्प को पूरा किया। हाँ, उन्हें ताने जरूर सुनने पड़े। लोगों ने उन्हें 'पागल' तक कहा, पर वे टस से मस तक नहीं हुए और अपनी स्वर्गवासी पत्नी की याद में 20 सालों तक अनवरत पहाड़ का सीना चीरकर 860 फीट लंबा और 20 फीट चौड़ा सड़क का निर्माण कर दिया जिससे वजीरगंज और अतरी प्रखंडों की दूरी 80 किलोमीटर से घटकर 14 किलोमीटर हो गई। शाहजहां ने तो अपनी पत्नी की याद में ताजमहल का निर्माण करवाया जो आज दुनिया के सात अजूबों में से एक है, लेकिन स्व माँझी ने आत्म सम्मान, दृढ़ निश्चय, कर्मठता, सरलता और आत्मनिर्भरता को जो नया आयाम दिया वह विरल है। धुनी और कर्मठता के प्रतीक इस पहाड़ पुरुष का सन 1999 में लिम्का बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड्स में शामिल किया जा चुका है और बिहार के मुख्य मंत्री श्री नीतीश कुमार ने न केवल उन्हें पिछले साल मैन ऑफ द इयर' सम्मान से नवाजा,बल्कि इस साल 'पदमश्री' सम्मान के लिए उनके नाम की अनुशंसा की थी, पर यह सम्मान उन्हें नहीं मिल सका।

इस विरल पुरुष का इलाज के दौरान अगस्त, 2007 को दिल्ली एम्स में निधन हो गया।

प्रस्तुति : राजेन्द्र कुमार प्रसाद, पटना

1857 का वीर कुंवर सिंह

-प्रो. साधु शरण

कुंवर सिंह नाम है-भारतीय छितिज पर फैले ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अंधकार को चिर कर एक उगते हुए सुरज का, एक अजेय योद्धा का, मातृभूमि के वरेण्य सपूत का, एक अविश्वसनीय विजय का फहराता हुआ झंडा का, अतीत के गौरव से भावी पीढ़ी को प्रेरक एहसास कराने वाली सच्ची घटना का, इतिहास के वैसे उम्रदराज जेनरल का जिसके जैसा रिकार्ड न कभी बना था और न भविष्य में उसके रेकर्ड को कोई तोड़ पायेगा। संभव है उनपर किसी उत्कृष्ट साहित्य की रचनाकार आने वाले दिनों में कोई उसी तरह नोबेल पुरस्कार प्राप्त कर ले जैसा कि हेमिंगवे ने 'द ओल्ड मैन एंड द सी' लिख कर प्राप्त किया। जिसके लिए जार्ज ओ० ओवेलियन ने लिखा है कि 'अबतक वे इस उम्र के हो चुके थे, जहाँ इंग्लैंड में उनके लिए सिर्फ प्रधान मंत्री के अलावा कोई भी नौकरी योग्य नहीं रहता है। उनके व्यक्तित्व की विलक्षणताओं के कारण ब्रिटिश अपने यहाँ की नई पीढ़ी के लिए भी एक प्रेरक संदर्भ स्वीकार करते है 'लार्ड कोमर' कहते है "I wish the younger generation of English would read, learn and inwardly digest the history of the Indian Mutiny, it abounds in lessions and warnings." ले०जे० एस०के० सिन्हा ने लिखी उनपर अपनी पुस्तक में स्वीकार किया है कि उनके गुरिल्ला युद्ध कौशल की तकनीक बड़ी ही उन्नत थी, जिसे भारतीय सेना के रणनीतिकार भी आदर देते हैं।

वीर सावरकर ने ठीक ही लिखा है:- 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में ऐसा एक भी क्रांतिकारी नहीं था, जो कुँवर सिंह की बराबरी कर सके।

तभी तो जार्ज ओ० टीविलियन 1866 में लिखते हैं:- ''हमलोग असामान्य भाग्यशाली निकले कि कुँवर सिंह की आयू चालीस वर्ष कम नही रही।''

भारत की आजादी के साठ वर्षों के बाद भी या 1857 के 150 वर्ष बीत जाने के बाद भी तथ्यों पर जहाँ कहीं कई तरह की नजाकत की धूलें और पर्तें जमी पड़ी हैं।

भारत और अन्य पूर्वी देशों से व्यापार करने हेतु कुछ ब्रिटिश व्यापारियों ने 1599 ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना की। कम्पनी के राजदूत ने 1615 ई० में भारत के मुगल बादशाह जहांगीर से सूरत, मछली पटनम, प्रदास, मुंबई और कलकत्ता में फैक्ट्री खोलने की याचना की। 1615 ई० से औरंगजेब की मृत्यु वर्ष 1707 ई० तक ईस्ट इंडिया कम्पनी ने फैक्ट्री और व्यापार का संचालन वैसे ही किया जैसे डच और पुर्तगाली कर रहे थे।

कम्पनी की स्थापना के दो वर्ष पूर्व ही 1597 ई० में राणा प्रताप काल कवलित हो गये थे। 1675 ई. में गुरु तेग बहादुर को औरंगजेब ने फांसी दे रखी थी। 1680 ई० में शिवाजी मृत्यु को प्राप्त कर गये। 1707 ई० के बाद गुरु गोविन्द सिंह भी नहीं रहे।

1757 ई० यदि कम्पनी के भाग्योदय का वर्ष था तो 1857 उसका पटाक्षेप वर्ष। 1857 न पूर्णत: सिपाही विद्रोह था, न गदर था, न ईसाईयों के विरूद्ध धार्मिक युद्ध था, न यह गोरे-काले की लड़ाई थी, वरन् यह एक राष्ट्रीय आंदोलन था।

विद्रोह तत्काल दबा दिया गया। 1857 ई० की लड़ाई मार्च माह में प्रारंभ होकर 1859 ई० तक चलती रही। विद्रोह वर्ग-विशेष तक सीमित रहता है, उसके उद्देश्य भी सीमित रहते हैं लेकिन 1857 ई० में सेना का एक वर्ग आया तो राजे-रजवाड़े भी आये, गाँवों के किसान भी साथ हो लिये और जनता ने भी हिस्सेदारी ली। विद्रोह संगठित या नियोजित होता है। 1857 ई० में सेना का एक वर्ग आया तो राजे-रजवाड़े भी आये, गाँवों के किसान भी साथ हो लिये और जनता ने भी हिस्सेदारी ली। विद्रोह संगठित या नियोजित होता है। 1857 के संग्राम सुसंगठित एवं सुनियोजित था। सेना के वर्ग ने भी अपना नेतृत्व स्वयं नहीं, बल्कि बहादुर शाह जफर, कुंवर सिंह, तात्या टोपे, झांसी की रानी और मौलवी अहमद उल्लासा जैसे व्यक्तियों के हाथों सौंपा गया था। विद्रोह नेताओं या विद्रोहियों की उम्र जोश की उम्र होती है। 1857 के संग्राम को नेतृत्व प्रदान करने वाले अनेक लोग 75 वर्ष की आयु को भी पार कर चुके थे। विद्रोहियों के पास भावी शान

की योजना नहीं रहती। 1857 के सेनानियों के पास कम्पनी प्रशासन के खत्म होने पर प्रशासन की एक रूपरेखा थी। अत: 1857 के भारत को यदि वाशिंगटन, लेनिन, लुलूम्बा या गाँधी नहीं मिल सके तो यह उसे विद्रोह बता देने के लिए कारण नहीं बनता।

वीर कुंवर सिंह बिहार के आरा जिले के जगदीशपुर ग्राम निवासी बाबू साहबजादा सिंह के चार पुत्रों में सबसे बड़े थे। 23 अप्रैल को बाबू कुंवर सिंह का न तो जन्मोत्सव मनाया जाता है और न ही उनकी पुण्य-तिथि है, बल्कि यह उनका विजयोत्सव दिवस है। कुंवर सिंह जब गद्दी पर आसीन हुए तो अपनी सूझ-बूझ से आमदनी को ड्योढ़ा कर दिया। अनेक कुआं, तालाब बनवाये। कहा जाता है कि इन्होंने जगदीशपुर से आरा तक एक लबी सुरंग बनवायी। जगदीशपुर का बाजार बनवाया। आरा में महादेवा का बाजार भी उन्हीं की देन है। आरा हाउस का निर्माण उन्हीं का है। इनकी सेना में जातीय, विजातीय, अन्य धर्मावलंबी भी न केवल कार्यरत थे, बल्कि सेना के अच्छे ओहदे पर पदस्थापित भी किए गये थे। आरा का धर्म न मस्जिद और आरा करबला उन्हीं का बनवाया हुआ है। जगदीशपुर से आरा तक उन्होंने वृक्ष लगवाये, उनका प्रतिरक्षण करवाया, जंगल की शक्ल बनी, पर्यावरण पर अच्छा प्रभाव पड़ा। वे दीन-दुखियों के हितैषी भी थे, परंतु शत्रु के प्रति कठोर रवैया अपनाते थे। वे धर्मिक सहिष्णुता के प्रबल समर्थक थे।

1846 ई० में प्रसिद्ध सोनपुर मेले में मेला देखने या क्रय के बहाने ब्रिटिश के खिलाफ रणनीति और योजना पर कई राज्यों से आये प्रभावशाली व्यक्तियों का जमावड़ा लगा था।

1857 ई० के स्वतंत्रता संग्राम के दो प्रकार के कारण थे:-एक दूरस्थ और दूसरा तात्कालिक।

दूरस्थ के अंतर्गत राजनीतिक कारण थे-डलहौजी के समय रियासतों के विलय की नीति। सरचार्ल्स नेपियर ने पत्र व्यवहार में लिखा था-''यदि मैं 12 वर्षों के लिए भारत का सम्राट होता तो कोई भारतीय राजा शेष नहीं रहता........निजाम का नाम भी सुनाई न देता.............नेपाल हमारा होता।'' धार्मिक कारणों में अँग्रेजों और भारतीयों के बीच खान-पान, रहन-सहन की भिन्नता एवं धर्म परिवर्तन कराने की शुरुआत महत्त्वपूर्ण हैं। सर सैयद अहमद खां ने कहा था ''ऐसा विश्वास किया जाता है कि सरकार ने धर्म प्रचारक नियुक्त कर रखा है और उनका भरण-पोषण अपने व्यय से करती है।'' आर्थिक कारणों के तहत भारतीय हस्तशिल्प और व्यापार नष्ट किये जा रहे थे। भारतीय मुसलमान ज्यादा प्रभावित हो रहे हैं। सैनिक कारणों में 1854 ई० तक सरकार के डाकघर अधिनियम के अंतर्गत सैनिकों की चली आ रही नि:शुल्क डाक सेवा समाप्त कर दी गई थी, जो असंतोष का एक बड़ा कारण रहा था। कई अन्य उत्पीड़क कारणों में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, रोग के समय प्रयाप्त सहानुभूति भारतीय नहीं पा रहे थे।

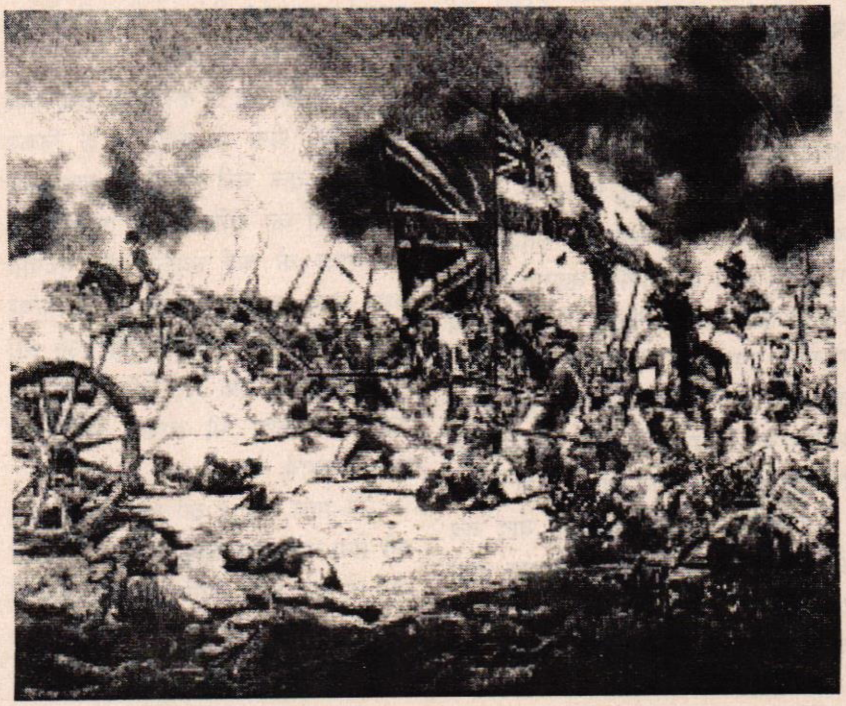

उपर्युक्त कारणों से विदेशियों को भगाने की योजना बनने लगी। भारत के विभिन्न प्रांतों और सुदूर स्थानों से संपर्क सूत्र शुरू हो गया। भूमिगत कार्य चलने लगा। सावरकर ने लिखा है ''मंदिरों और मस्जिदों में तथा भिक्षा के बहाने द्वार-द्वार जाकर पंडित, साधु एवं मौलवी भारतीय स्वाधीनता का अलख जगाने में जुट गये थे। साधु वेषधारी क्रांतिकारियों ने सैनिक छावनियों के निकट मंदिरों में डेरा जमाकर सैनिकों से संपर्क का काम सफलता पूर्वक किया।

कहा जाता है कि जगदीशपुर से आरा की सुरंग तो बन ही चुकी थी, किंतु सरकारी कागजात के अनुसार यह भी प्रकट होता है कि ''कुंवर सिंह ने जगदीशपुर में गल्ले का इतना बड़ा भंडार बनाया कि जिसमें बीस हजार आदमी छ: माह तक लगातार खा सकते थे और आर्म्स तथा एम्युनिसन के लिए एक कारखाने की

स्थापना भी कर ली थी।'' सचमुच यह सब रातों रात या कुछ माह में ही होना संभव नहीं था।

तात्कालिक कारणों में ''ब्राउन बेस'' बंदूक की जगह ''एन फील्ड रायफल्स'' को प्रयोग में लाने का निर्णय प्रधान है। विद्वानों ने इसी को काफी उछाला है। इसमें कारतूस को मुँह से खींचकर गोली छोड़नी पड़ती थी जिसके बारे में कहते हैं गाय और सुअर की चर्बी का इस्तेमाल होता था।

सेक्रेटरी, मिलिट्री डिपार्टमेंट के रेकर्ड के अनुसार 1857 के संग्राम के पूर्व भारत में अंग्रेज सैनिकों की संख्या 48709 और भारतीय सैनिकों की संख्या-2,39,073 थी। बंगाल, मद्रास और मुंबई रेजिमेंट के नाम से बंटी थी। 1857 के संग्राम में सिर्फ बंगाल रेजिमेंट ने ही हिस्सा लिया था। शेष दो मद्रास और मुंबई सैन्य संगठन शांत थे।

वीर कुवंर सिंह की सेना में बहुत कम लोग थे। कुछ हजार सैनिक ही थे। सैनिक छावनियों से विद्रोह कर आये सैनिकों ने साथ दिया था।

31 मई, 1857 को समस्त छावनियों में एक ही साथ अँग्रेजों के विरूद्ध बंदूकें उठाने की योजना बनी थी। ऐसा नहीं हो सका। 10 मई, 1857 को ही मेरठ की इन्फैक्ट्री एवं अश्वारोहियों ने बगावत का झंडा बुलंद कर दिया। कर्नल फिनीस को गोली का शिकार बनाया। 25 अगस्त, 1857 दानापुर स्थित जवानों ने विद्रोह कर दिया और कुवर सिंह से नेतृत्व प्रदान करने को कहा।

कुंवर सिंह की संग्राम तकनीक वैसी ही थी जो शिवाजी ने अपनाया था-गुरिल्ला-युद्ध। कुंवर सिंह की गुरिल्ला युद्ध शैली से अँग्रेज चकमे में आ जाते हैं, भौंचक हो जाते हैं और उससे निपटने में पूरे अक्षम सिद्ध हुए। चूंकि वीर कुंवर

सिंह की रणनीति चीन के आर्मी स्टाफ के प्रमुख ली जुई चींग के पियोर डिफेन्स और ऐक्टीव डिफेन्स की परिकल्पना के समानांतर है जिसमें क्षेत्र को खोये जाने या पीछे हटने की रणनीति मात्र इसलिए अपनायी जाती है जिससे इस बीच सैन्यबल को पुनर्गठित कर दुश्मन की सेना पर भारी पड़कर अंतिम विजय प्राप्त की जा सके।

एक भारत में रहने वाले ब्रिटिश सेना के अधिकारी ने लिखा :-

''प्रारंभ में तो लगा यह मात्र एक सैन्य विद्रोह है। किंतु बड़ी शीघ्रता में इसने अपना स्वरूप बदल डाला और एक राष्ट्रीय विप्लव बन गया। बिहार के राजपूत बस्तियों के पास बनारस, आजमगढ़, गोरखपुर तथा इलाहाबाद, कानपुर, मेरठ, आगरा के उन कमिश्नरियों के पूरे दोआब में फैल गया। यह रोहिलखंड और अवध के प्रातों तक चला गया। इसने हमारे शासन को हिला दिया और हमलोगों के विरूद्ध संग्राम की घोषणा कर दी''।

टेलर के डिसमिस होने के बाद जब सैम्युल्स पटना के कमिश्नर बनकर आये तो उन्होंने 25 सितम्बर, 1858 को बंगाल की सरकार के सेक्रेटरी ए०आर०यंग को लिखा था-

3 जुलाई, 1857 को विद्रोह हुआ। 4 जुलाई को पीरअली के साथ 16 लोगों को फांसी दे दी गई। 26 जुलाई को आरा के खजाने पर कुंवर सिंह का कब्जा था जेल की कैदियों को आजाद कर दिया। दानापुर से कैप्टन डनवर ने जब पीछा किया तो कायमनगर के पास मुठभेड़ हुई और डनवर मारा गया। 27 जुलाई से 29 जुलाई तक कुंवर सिंह के विद्रोही सैनिक आरा हाउस को घेरे रहे।

2 अगस्त, 1857 को कुंवर सिंह और आयर की सेना में बीबीगंज के निकट कई दिनों तक चले संग्राम के बाद आरा पर अँग्रेजों का अधिकार हो गया।

बिहार के कई स्थानों और यू०पी० तथा अन्य जगहों पर अँग्रेजों एवं कुंवर सिंह की सेना में घमासान युद्ध हुआ था। कुंवर सिंह ने एक ऐसे जेनरल थे कि बिहार से बाहर भी जाकर अँग्रेजों के छक्के छुड़ाये थे।

27 मार्च, 1858 को कर्नल मील मेन की सेना को कुंवर सिंह के हाथो पराजित होने के बाद लार्ड कैनिंग ने इलाहाबाद में स्थित 13 वीं लाइट कैवेलरी के कमाण्डर मार्क केर को बनारस जल्दी पहुँच जाने

को कहा ताकि वहँ लड़ाई लड़ी जाय। ब्रिटिश फौज 6 अप्रील, 1858 को आजमगढ़ पहुँच गई। बड़ी होशियारी से कुंवर सिंह ने 13 अप्रील को स्थान बदल दिया, किंतु लगभग 2000 अपने सैनिकों को निशान सिंह के साथ वहीं छोड़ दिया। वे स्वयं जगदीशपुर लौटना चाहते थे। 20 अप्रील, 1858 बिग्रेडियर डोगलास सिकंदरपुर से चार मील आगे काजीपुर पहुँचे, लेकिन कुंवर सिंह गंगा पार कर गाजीपुर जिले के मनियार में पहुँच गये। ब्रिगेडियर डोगलास को चकमा देते हुए घायल अवस्था में ही बलिया से 10 मील दूर शिपरु घाट के पास गंगा पार कर गये। कर्नल कम्बरलेज भी हतप्रभ हो गया।

22 अप्रील, 1858 को बाबू कुंवर सिंह जगदीशपुर पहुँचे। तब कैप्टन ली ग्रैड भी सेना लेकर वहां पहुँचा। भीषण युद्ध हुआ। अमर सिंह के हाथों ली ग्रैण्ड मारा गया। अँग्रेजी सेना की दुर्दशा हो गई। एक अंग्रेज अफसर लिखता है कि "वास्तव में इसके बाद जो कुछ हुआ उसे लिखते हुए अत्यंज लज्जा आती है। लड़ाई का मैदान छोड़कर हमने जंगल से भागना शुरू किया। शत्रु हमें बराबर पीछे से पीटता रहा। हममें से किसी में शर्म तक

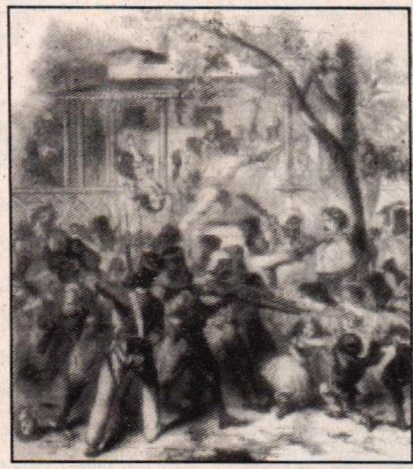

नहीं रही। चारो ओर आहों, श्रापों (कर्स) और रोने के सिवाय कुछ भी नहीं सुनाई देता था। मार्ग में अँग्रेजों के गिरोह के गिरोह मारे गर्मी के गिरकर मर गये। 16 हाथियों पर केवल हमारे घायल साथी लदे हुए थे। हमारा इस जंगल में जाना ऐसा ही हुआ जैसे पशुओं का कसाईखाने में जाना। हम वहाँ केवल बध के लिए गये थे।"

23, अप्रील, 1858 को बाबू कुंवर सिंह के किले पर केशरिया झंडा लहरा रहा था। जगदीशपुर स्वतंत्र था। कुंवर सिंह की कटी बाँह से रक्त-श्राव जारी था, लेकिन कुवर सिंह प्रसन्न थे-ठीक उसी तरह जैसे घास की रोटी खाकर भी स्वतंत्र रहने वाले राणा प्रताप, जैसे अधनंगे फकीर कहे जाने वाले गाँधी जी। एक मात्र पौत्र को युद्ध में गंवा देने के बाद, एक बाँह को गंगा में अर्पित करने के बाद की प्रसन्नता कैसी रही होगी- शायद कोई कवि ह्रदय किसी दिन समझ पायेगा।

9. कुंवर सिंह ने कभी भी महिलाओं, बच्चों, वृद्धों और रोगियों को न तो दुश्मन समझते थे और न ही किसी सिपाही को ऐसा समझने की इजाजत दे रखी थी।

इतिहास पर बड़े गर्द एवं मेल को मीडिया विशेषकर प्रिंट मीडिया ने कुछ सफाई की है, अभी और बहुत कुछ करना बाकी है। इतिहास ने या केंद्र की विभिन्न सरकारों ने वीर कुवर सिंह के साथ कितना न्याय किया है-अर्से से यह प्रश्न पूछा जा रहा है शायद जगदीशपुर के बंगले की जली हुई शहतीरें और चौखटें किसी दिन मेजर आयर की गाथा के साथ अपने देशवासियों से भी उनके इस अतीत के अंश को घटा देने के बाद पूछेगा-अब बिहार और भारत में शेष क्या बचा है?

संपर्क: 'गीतिका, रोड नं० 2, आदित्यनगर, पो०-केसरी नगर, पटना-23

लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल की
132वीं जयंती पर हमारी
हार्दिक शुभकामनाएँ

प्रो. विनोद कुमार सिन्हा
मे. रामप्यारे सिंह एंड संस
खगौल रोड, मीठापुर, पटना-800001

भगत सिंह : पेन से पिस्तौल तक

– ओमप्रकाश मंजुल

भगत सिंह के जन्म से संबंधित दो अलग-अलग तथ्य मिलते हैं। कहीं उल्लेख मिलता है कि उनका जन्म 23 मार्च, 1907 को लायलपुर (पंजाब) के खटकड़कलाँ ग्राम में हुआ था तो दूसरे उल्लेखानुसार उनका जन्म 27 सितंबर को लायलपुर के बंगा गाँव में हुआ था, पर अधिकांश स्थानों पर उनकी जन्मतिथि 27 दिसंबर ही बताई यही हैं इनके पिता सरदार किशन सिंह का पूरा परिवार क्रांतिकारी था। भगत के जन्म वाले दिन ही भगत के दो चाचा, अजीत सिंह और स्वर्ण सिंह, जो क्रांतिकारी गतिविधियों के कारण जेल में बंद थे, जेल से छूटकर आये थे। इसलिए भगत के माता-पिता भगत को 'भागोंवाला' कहने लगे। भगत सिंह जब एक सुंदर किशोर के रूप में विकसित हुए, तब एक सुंदर किशोरी से इनकी शादी तय की गयी, पर आजादी के इस मतवाले ने यह कहकर मंगेतर को मना कर दिया, "मैं पहले ही मृत्यु से विवाह कर चुका हूँ" वास्तव में बचपन में ही बंदूकों की फसल उगाने की कल्पना करने वाले भगतसिंह ने 23 मार्च, 1931 के फांसी के बंधन को शादी के बंधन की भाँति ही प्रसन्नता पूर्वक गले लगाया था। संसार के इतिहास में यह पहला अजूबा पूर्ण उदाहरण है कि भगतसिंह के प्रति भारतीय लोगों के हृदय में व्याप्त अपार स्नेह और श्रद्धा को भांपकर अँग्रेज सरकार ने फाँसी-घोषित समय से एक दिन पूर्व हो उन्हें फाँसी दे दी थी। अँग्रेजों को भय था कि घोषित समय पर भगत सिंह को फांसी दिए जाने पर, अपने नेता के अंतिम दर्शन करने को आने वाले जन सैलाब को नियंत्रित करना आसान न होगा। इसे भी एक दैवीय चमत्कार ही कहा जायेगा कि भगतसिंह पूरे चौबीस साल अर्थात किशोर अवस्था के अंतिम दिन तक ही जीवित रहे और वे 23 मार्च को ही इस संसार में आये थे और 23 मार्च को ही यहाँ से विदा हुए थे (जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि कुछ लोग उनका जन्मदिन 23 मार्च मानते हैं) भगतसिंह ने लाहौर के 'नेशनल कॉलेज', जो एक अर्थ में राष्ट्रभक्त पैदा करने वाला कॉलेज था, से एफ०ए० किया था। इसके पश्चात् उन्होंने बी०ए० में प्रवेश लिया, पर तब तक क्रांतिकारी इतिहास (विशेष कर फ्रांस को असेंबली में पर्चे और बम फेंकने वाले फ्रांस के शहीद वेलां) को खूब पढ़ा था। इसी कॉलेज के स्टेज पर 'भारत दुर्दशा' 'चंद्र गुप्त' आदि नाटकों में अभिनय भी किया। मुलत: वे पत्रकार थे। प्रारंभ में उन्होंने 'अर्जुन' तथा 'प्रताप' अखबारों के माध्यम से वैचारिक क्रांति में योगदान दिया। तत्पश्चात क्रांतिकारियों के प्रत्यक्ष संपर्क में आकर सशस्त्र क्रांति के उनने जो कारनामें किए, वे वर्णन के मुँहताज नहीं हैं।

भगतसिंह में गजब की साहित्यिक प्रतिभा थी। उनका हृदय एक राष्ट्रनुरागी साहित्यकार का उत्साह, भावुकता, रसिकता तथा सुहृदयता से भरा हुआ हृदय था। एक तरह से मुंशी प्रेमचंद जो साहित्य के माध्यम से देश के लिए कर रहे थे, भगतसिंह वही सशस्त्र क्रांति के माध्यम से देश के लिए कर रहे थे। यह संयोग ही है कि मुंशी प्रेमचन्द्र और सरदार भगतसिंह में दोनों की ही साहित्यिकता उर्दू से हिंदी को आयी हैं। भगतसिंह ने न तो साहित्य में 'डायरेक्ट' प्रवेश किया और न उन्हें पूर्णा जीवन मिला, अन्यथा उर्दू के धनपतराय ने हिंदी के प्रेमचन्द बनकर हिंदी की जो सेवा की, वही उर्दू के भगतसिंह ने हिंदी के 'बलवंत सिंह' बनकर हिन्दी सेवा की होती। उनकी भाव प्रवण और परिनिष्ठित हिंदी को पढ़कर सहसा यह विश्वास ही नहीं होता कि यह पेन उसी सद्ये हुए हाथ से चला है, जिस सद्ये हुए हाथ से पिस्तौल चला करता था।

भगत ने अपने छद्मनाम 'बलवंतसिंह' के नाम से एक विस्तृत लेख कलकत्ता के सप्ताहिक 'मतवाला' को 'युवक' शीर्षक से लिखकर भेजा था, उसके एक अंश को (स्थानाभाव के करण) पाठकों को भगत सिंह की लेखकीय प्रतिभा से परिचित कराने के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है–

'युवावस्था देखने में तो शस्य श्यामला वसुंधरा से भी सुंदर है, पर इसके अंदर भूकंप की सी भयंकरता भरी हुई है। इसीलिए युवावस्था में मनुष्य के लिए केवल दो ही मार्ग हैं-वह चढ़ सकता है उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर, वह गिर सकता है अद्यपात् के अंधेरे ख्दंक में। चाहे तो त्यागी हो सकता है युवक, चाहे तो विलासी बन सकता है युवक। वह देवता वन सकता है, तो पिशाच भी बन सकत है। वही संसार को त्रस्तकर सकता है, वही संसार को तार सकता है। संसार में युवक का ही साम्राज्य है। युवक कीर्तिमान से संसार का इतिहास भरा पड़ा है। युवक ही रणचंडी के ललाट की रेखा है। युवक स्वदेश की यश-दुदुंभि का तुमुल निनाद है। युवक ही स्वदेश की विजय-वैज्यंती

का सुदृढ़ दण्ड है। वह महासागर की उत्ताल तरंगों के समान उद्दण्ड है। वह महाभारत के भीष्म पर्व की पहली ललकार के समान विकराल है। रावण के अहंकार की तरह निर्भीक है, प्रहलाद के सत्याग्रह की तरह दृढ़ और अटल है। अगर किसी विशाल हृदय की आवश्यकता हो, तो युवकों से माँगो, रसिकता उसी के हिस्से पड़ी हैं भावकत पर उसी का सिक्का है। वह छंद शास्त्र से अनभिज्ञ होने पर भी प्रतिभाशाली कवि हैं। कवि भी उसी के हृदयविन्द का मधुप हैं वह रसों की परिभाषा नहीं जनता, पर वह कविता का सच्चा मर्मज्ञ हैं सृष्टि की एक विषम समस्या है-युवक। ईश्वरीय रचना कौशल का एक उत्कृष्ट नमूना है युवक/विचित्र है उसका जीवन अद्भुत है उसका साहस अमोघ है उसका उत्साह। वह निंचित है, असावधान है। लगन लग गयी, तो रात भर जागना उसके बायें हाथ का खेल है जेठ की दुपहरी, चैत की चाँदनी है। सावन-भादों की झड़ी मंगलोत्सव की पुष्पवृष्टि है श्मशान की निष्तब्धता उद्यान का विहग-कल-कूंजन है। वह इच्छा करे, तो समाज और जति को उद्‌बुद्ध कर दे, देश की लाली रख लो, राष्ट्र का मुखोज्जवल कर दे, बड़े-बड़े साम्राज्य उलट डाले। पतितों के उत्थान और संसार के उद्धारक सूत्र उसी के हाथ में हैं वह इस विशाल विश्व रंग स्थल का सिद्धहस्त खिलाड़ी है।

अगर रक्त की भेंट चाहिए, तो सिवा युवक के कौन देगा? अगर तुम बलिदान चाहते हो, तो तुम्हें युवक की ओर देखना पड़ेगा। हर देश के भाग्य विधाता युवक ही तो होते हैं। आज के युवक ही कल के देश के भाग्य निर्माता हैं। वे ही भविष्य की सफलता के बीज है।

संसार के इतिहासों के पन्ने खोलकर देख लो, युवक के रक्त से लिखे हुए अमर संदेश भरे पड़े हैं। संसार की क्रांतियों और परिवर्तनों के वर्णन छांट डालो, उनमें केवल ऐसे ही युवक मिलेंगे, जिन्हें बुद्धिमानों ने 'पागल' होकर अथक 'दिग्भ्रमित' कहा है। पर जो अबोध, मूर्ख हैं, वे क्या खाक समझेंगे कि स्वदेशाभिमान से उन्मत्त होकर अपनी लाशों से किलों की खाइयों को पाट देने वाले जापानी युवक किस फौलाद के टुकड़े थे। सच्चा युवक तो बिना झिझक के मृत्यु का आलिंगन करता है, चोखी संगीनों के सामने छाती खोलकर डट जाता है तोप के मुँह पर बैठकर भी मुस्कुराता ही रहता है, बेड़ियों की झनकार पर राष्ट्रीयगान गाता है और फांसी के तख्ते पर अट्टहास पूर्वक आरूढ़ हो जाता हैं फांसी के दिन युवक का ही वजन बढ़ता है, जेल की चक्की पर युवक ही उद्‌बोधन मंत्र गाता है, काल कोठरी के अंधकार में धंसकर ही वह स्वदेश को अंधकार के बीच से उबारता है।

ऐ भरतीय युवक! तू क्यों गलतफहमी की नींद में पड़ा बेखबर सो रहा है। उठ, आँखें खोल, देख प्राची दिशा का ललाट सिंदूर-रंजित हो उठा। अब अधिक मत सो, सोना हो तो अनंत निद्रा की गोद में जाकर सो, का पुरुषता के कोड़ में क्यों सोता है? धिक्कार है तेरी निर्जीविता पर। तेरे पितर भी नतमस्तक हैं इस नपुसंकत्व पर। यदि अब भी तेरे किसी अंग में टुक हया बाकी हो, तो उठकर माता के दूध की लाज रख, उसके उद्धार का बीड़ा पान कर और बोल मुक्त कण्ठ से 'भारत माता की जय'।

भगतसिंह को उर्दू-ग्राहक प्रतिभा के दर्शन कराने के लिए यहाँ सन् 1923 में घर से फरार होते समय पिता सरदार किशन सिंह को संबोधित घर पर छोड़ा गया पत्र-

'पूज्य पिताजी, नमस्ते,

मेरी जिंदगी मक्सदे आला पानी आजादी-ए-हिंद के असूल के लिए वक्फ हो चुकी है, इसलिए मेरी जिंदगी आराम और दुनियाबी ख्वाहिशत बाय से कशिश नहीं है।

आपको याद होगा कि जब मैं छोटा था, तो बापूजी ने मेरे यज्ञोपवीत के वक्त ऐलान किया था कि मुझे खिदमते वतन के लिए वक्फ कर दिया गया है, लिहाजा मैं उस वक्त की प्रतिज्ञा पूरी कर रहा हूँ उम्मीद है आप मुझे माफ कर देंगे।

(भगत सिंह और उनके पिता किशन सिंह में कभी भी सहमति न रही पिता का हृदय पुत्र को किसी भी कीमत पर क्रांति में झोंककर गंवाना नहीं चाहता था, जबकि पुत्र पतंगे की भांति क्रांति की ज्वाला में जलने के लिए बेताब था।)

भगतसिंह जैसे यशस्वी लेखक थे, वैसे ही ओजस्वी वक्ता भी थे, भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त द्वारा 8 अप्रैल, 1929 को केंद्रीय असेम्बली में 'पब्लिक सेफ्टी बिल' के विरोध स्वरूप फेंके गये बम के मुकदमें में 4 जून, 1929 को सेशनजज, दिल्ली के सामने उन्होने एक संयुक्त वक्तव्य दिया था, स्थानाभाव की विवशतावश इस वक्तव्य के भी मात्र एक अंश के चुनिंदा अंशों को ही प्रस्तुत किया जा रहा है- "हम लोग संगीन जुर्मो के अभियुक्तों की हैसियत से यहाँ उपस्थित हैं और हम इस मौके पर अपने आचरण की सफाई देते हैं- हमने यह भी देखा कि किस तरह इस निरंकुश कानून द्वारा भूखी और असहाय् जनता को उसके मौलिक अधिकारों से बंचित किया गया और उससे अपनी आर्थिक दशाओं को सुधारने के सब साधन छीन लिए गये। किसी भी व्यक्ति की, जिसने मजदूर वर्ग के लिए इतना महसूस किया है, जितना हमने, मजदूरों की इतनी दुर्दशा देखकर भावनाएँ उठे बिना नहीं रह सकती हमारा यह बम उन लोगों के लिए खतरे की घंटी है, जो जनता की इच्छा की तनिक भी परवाह न करते हुए अपनी मनमानी कर रहे हैं यह नयी हलचल जो देश में पैदा हो गयी है और जिसकी हमने सूचना दे दी है, उन आदर्शों द्वारा प्रेरित हुई है, जिन पर गुरु गोविन्द सिंह, छत्रपति शिवाजी, मुस्तफा कमाल पाशा, रजा खाँ, वाशिंगटन, गैरी बाल्डी, लाफायत और लेनिन चले थे हम यह ऐतिहासिक सबक फिर तरोताजा करना चाहते हैं कि बेस्टाइल के कैद-खाने और अंधाधुंध वारण्ट से फ्रांस की क्रांति नहीं रुकी थी। साइबेरिया की खानों की दर्दनाक गुलामी रूसी विप्लव की चिनगारी नहीं बुझा सकी थी। खूंख्वार किराये के सिपाहियों की वजह से आयरलैंड की स्वतन्त्रता की हलचल ब्रिटिश सरकार द्वारा नहीं मिटाई जा सकी, तो क्या काला कानून और सेफ्टी बिल भारत में स्वतंत्रता की लपट को बुझा सकता हैं?

भगतसिंह के भाषण और लेखन दोनों ही हिम में आग लगा देने वाली बारूद से भरे होते थे। उनका प्रत्येक शब्द स्फुल्लिंग से कम नहीं है। उनके विचार राष्ट्रवादी तो थे ही, श्रमिक व शोषित समर्थक होने के कारण जनवादी भी कम न थे। यही कारण है कि वे राष्ट्रवादी दक्षिण पंथियों और जनवादी वामपंथियों दोनों को ही समान भाव से प्रिय थे। बीसवी सदी के पूर्वार्थ में भगतसिंह उसी भाँति युवकों के आदर्श के रूप में अवतरित हुए थे, जैसे उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में स्वामी विवेकानंद युवकों के आदर्श रहे थे।

संपर्क:
कामायनी, मो. कायस्थान,
पूरब पुर (पीलीभीत), उ.प्र.

1857 की स्मृति का अर्थ

–सीताराम येचुरी

भारत के पहले जंगे आजादी के ऐतिहासिक तथ्यों, हिंदू-मुस्लिम एकता और वर्गीय एकजुटता की लोकस्मृति आज की चुनौतियों का सामना करने के लिए आवश्यक है, क्योंकि आज जिन समस्याओं से हम जूझ रहे हैं उसमें 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के वक्त भुला दिए गए थे। भारतीय कॉम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के पोलित ब्यूरो वरिष्ठ सदस्य के विचार इस दृष्टि से इसलिए उपयोगी हैं कि उनसे जन संघर्ष की आवश्यक दिशाओं के संकेत मिलते हैं।

–संपादक

पहले भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की 150वीं सालगिरह मनाने के लिए भारत सरकार ने बड़ी धूम-धाम से एक कमेटी बनायी थी। शुरू से ही इस कमेटी में यह कमी मौजूद थी कि इसमें किसी नामी इतिहासकार को शरीक नहीं किया गया था। कमेटी की तरफ से गाहे-बगाहे कुछ विज्ञापन तो जरूर दिखायी पड़ जाते हैं लेकिन उनसे इस अवसर के वास्तविक अर्थ और महत्त्व पर ठीक से रोशनी नहीं पड़ती। इस कमी को फौरन दुरुस्त करना जरूरी है, क्योंकि इस अवसर पर मनाये जा रहे समारोहों का हमारे देश की मौजूदा सच्चाइयों के लिए बड़ा महत्त्व है और हमारे देश के लिए वे बहुत प्रासंगिक हैं। ध्यान देने की बात है कि 1857 की घटनाओं की पृष्ठभूमि सौ वर्ष पहले से ही बन रही थी।

आज से ढाई सौ वर्ष पहले, 2 जनवरी 1757 के दिन बंगाल के तत्कालीन नवाब सिराजुद्दौला के हाथों से निकलकर कलकत्ता दुबारा से रॉबर्ट क्लाइव के कब्जे में आ जाता है। इससे पहले 1756 में नवाब ने ईस्ट इंडियन कंपनी के कलकत्ता स्थित दुर्ग फोर्ट विलियम पर कब्ज़ा कर लिया था। इसके फलस्वरूप 1757 का निर्णायक युद्ध हुआ जो प्लासी की लड़ाई के नाम से याद किया जाता है और जिसने भारत में ब्रिटेन के औपनिवेशक राज की मज़बूत नींव डाल दी। अंग्रेजों ने सिराजुद्दौला को जिन हालात में परास्त किया था, वह आज हमारी ऐतिहासिक लोकगाथा का विषय है जिसमें नवाब के सिपहसालार मीर जाफ़र की गद्दारी को रेखांकित किया जाता है। इस युद्ध के अनेक साल बाद जवाहरलाल नेहरू को इस घटना को इन शब्दों में याद करना पड़ा, 'गद्दारी और जालसाजी की मदद लेकर ही अँग्रेज़ भारत में अपना राज कायम करने में सफल हो सके।'

प्लासी के युद्ध की एक सदी बाद, भारत की आज़ादी की पहली लड़ाई को कुचलने के बाद अँग्रेज़ों द्वारा 7 जनवरी 1858 के दिन मुगल सम्राट बहादुशाह ज़फ़ार पर मुक़द्दमा शुरू किया जाता हैं उस पर अभियोग है, बलवे की रहनुमाई का जो औपनिवेशिक हुक्मरानों के कानून के मुताबिक ब्रिटिश राजसिंहासन से गद्दारी हैं गद्दादी और जालसाज़ी की मदद से जिन अँग्रेज़ों ने 1757 में भारत में अपना राज कायम किया था, उन्होंने 1857 में अपने राज को मजबूत बनाने के लिए अपने राज के विरुद्ध विद्रोह करने वालों के खिलाफ़ बर्बर हत्याओं का सहारा लिया। इससे पहले वे मुग़ल सम्राट के ख़ानदान को जड़ से विनष्ट कर चुके थे और उन्होंने दिन-दहाड़े उसके दो पुत्रों तथा एक पोते के सर काट दिये थे। ख़ुद सम्राट को उन्होंने रंगून की मांडले जेल में डाल दिया जहाँ से चार साल बाद, 1862 में उनकी लाश ही बाहर आयी।

इस घटना के डेढ़ सौ साल बाद भी आपको इस बात पर गौर करना पड़ेगा कि साम्राज्यवादी हुक्मरान की बर्बरता में कोई ख़ास तब्दीली नहीं आयी है। इराक़ में सद्दाम हुसैन पर मुक़द्दमा चलाने का स्वांग रचा गया और उन्हें वहशियाना ढंग से फांसी के तख़्ते पर लटका दिया गया। उनके दोनों बेटों की हत्या पहले ही कर दी गयी थी। 1857 के बाद जिस तरह अँग्रेज़ों ने कपट, बर्बर दमन, हत्या और नरसंहार की मदद से अपने साम्राज्य को मज़बूत बनाया उसी तरह और उन्हीं साधनों की मदद से, आज अमरीकी साम्राज्यवादी दुनिया पर अपना गलबा कायम करने में मसरूफ़ हैं। अपने इस मक़सद में कामयाब होने के लिए वे किसी भी इंसानी कानून को पैरों तले रौंद डालेंगे और किसी भी

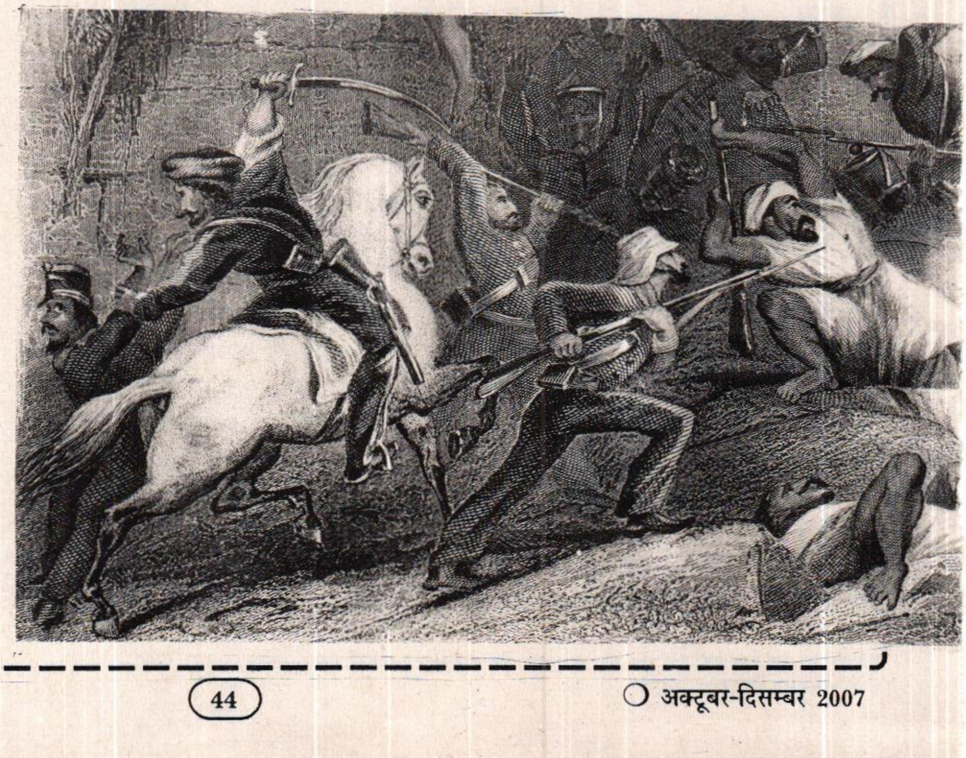

उसूल पर क़ायम रहने से इंकार कर देंगे।

रंगून जेल में बंदी बहादुरशाह ज़फ़र अंतिम दिनों में अंधे हो गये थे और कोयले का इस्तेमाल करते हुए अपना कलाम जेल की दीवारों पर लिखते थे। उन्होंने अपना यह मक़बूल शेर इसी तरह लिखा था:

है कितना बदनसीब ज़फ़र दफन के लिए
दो गज़ ज़मीन भी न मिली कू-ए-यार में।

कू-ए-यार अथवा याद की गली से उनकी मुराद अपने वतन हिंदुस्तान से थी, जहाँ दफ़्न होने की उनकी हसरत अधूरी ही रही।

अगर हम मौजूदा सियासी हालात की बात करें तो भी हमारा ध्यान इस घटना टक्कर की घटनाओं पर बरबस ही चला जाता हैं एक तरफ तो ज़फ़र अपने वतन में दफ़्न होने की नाकाम हसरत लिए इस दुनिया को अलविदा कहते हैं और दूसरी तरह आरएसएस और बीजेपी जैसे संगठन उन्हें और उनके पुरख़ों को बाबर की औलाद कहते हैं। इस तरह के ज़हरीले फिरक़ावाराना प्रचार की मदद से मुसलमानों के ख़िलाफ़ नफ़रत फैलायी जाती है कि बाबर ने 'हिंदुओं की भूमि' छीनकर उस पर मुगल साम्राज्य की स्थापना की थी और यह तथ्य आसानी से भुला दिया जाता है कि बाबर ने पानीपत की पहली लड़ाई में एक और मुस्लिम बादशाह, इब्राहीम लोदी को हराकर मुगल साम्राज्य की स्थापना की थी। ऐसा करते वक़्त इन फ़िरक़ापरस्त ताक़तों का ज़रा भी परेशान नहीं करता। सच बात तो यह है कि 1857 के अनुभव से अँग्रेज़ों ने यह नतीजा निकाला था कि अगर उन्होंने अपने विजातीय प्रशासन के विरुद्ध भारतीय जन के तरह-तरह के धार्मिक, भाषायी और जातीय समूहों की एकता का निर्माण होने दिया तो यहाँ उनका बने रहना असंभव हो जायेगा। 1857-59 के विद्रोह के दौरान मध्य भारत में मौजूद ब्रिटिश इतिहासकार टॉमस लोव ने लिखा है, 'अब भारत में रहना किसी ज्वालामुखी के मुहाने पर खड़ा होने के समान था जिसकी ज़मीन हमारे पैरों तले से तेज़ी से खिसक रही थी और खौलता हुआ लावा फूट पड़ने और हमें लील जाने को बेताब था।'

भविष्य में भारतीय जन की इस एकता को प्रकट होने से रोकने के इरादे से ही फूट डालो और राज करो की बदनाम नीति सामने आयी। इस नीति की कुछ देसी, अँग्रेज़ों भाषा में नेटिव, औलादें भी वजूद में आयीं। मुस्लिम लीग और आरएसएस ऐसी ही औलादें थीं और दोनों ने ही भारत में औपनिवेशिक राज को बनाये रखने में बख़ूबी अपनी ख़िदमात अंजाम दी थीं। लीग ने अँग्रेज़ों से आज़ादी के बाद इस्लामी राज की माँग की जिसके चलते आखिरकार देश का विभाजन हुआ और उसके भयंकर नतीजे हमारी जनता को आज तक परेशान कर रहे हैं। दूसरी तरफ आरएसएस हिंदू राष्ट्र की स्थापना की वकालत करता है जो उतना ही असहिष्णु और फासी चरित्रवाला हैं इस संगठन को जन्म से ही ऐसे संस्कार दिये गये जो उसे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की कामनाओं और एक धर्मनिरपेक्ष, आधुनिक और जनतांत्रिक गणराज्य की स्थापना की तमाम कोशिशों के सर्वथा प्रतिमुख खड़ा करते हैं। ऐसा संगठन आज की सच्चाइयों को हजम कर ही नहीं सकता। उसने ऐसे हालात और सूरत पैदा कील जिनके चलते महात्मा गांधी को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा और लाखों बेकसूर लोग फ़िरक़ावाराना फ़सादात में मारे गये। इससे बेपरवाह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसकी राजनीतिक शाखा भारतीय जनता पार्टी जैसे यह साबित करने पर तुली है कि उनका तो वजूद ही सांप्रदायिक विभाजन पर टिका है।

बीजेपी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की पिछले दिनों संपन्न बैठक का यही और सिर्फ़ यही संदेश है। प्रखर हिंदुत्व उनकी चुनावी रणनीति का सर्वप्रमुख आधारस्तंभ है और उनकी कार्यनीति में एक अशुभ चेतावनी निहित है। 150 साल पहले अँग्रेज़ों ने देखा था कि भारत की विराट विविधता में निहित एकता उसकी स्वतंत्रता और संपन्नता को सुनिश्चित करती है। लिहाज़ा उन्होंने इस एकता को सामने आने से रोकने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया ताकि वे अपना राज क़ायम रख सकें, उसे और मज़बूत बना सकें। आज के भारत में हमारी प्रगति और संपन्नता के लिए नितांत महत्वपूर्ण भारतीय जनता की समृद्ध विविधता में इस एकता की स्थापना को रोकने की कोशिश सांप्रदायिक ताक़तें कर रही हैं ताकि वे हिंदू राष्ट्र की स्थापना के अपने राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ सकें। इसलिए हमारे देश में इन फ़िरक़ावाराना साज़िशों को नाकाम बनाना बेहद ज़रूरी है, तभी हमारा देश एक अधुनिक राष्ट्र और इक्कीसवीं सदी में एक बड़ी आर्थिक शक्ति बन सकेगा और ज्ञानवान समाज का निर्माण किया जा सकेगा।

इसलिए आज हमें उन्हीं ताक़तों से लड़ना है जिन्होंने अतीत में तरह तरह के उपायों से इस देश को गुलाम बनाया था और जो आज हमारी जनता को अपनी स्वतंत्रता तथा संपन्नता को समृद्ध करने की राह पर आगे बढ़ने से रोकने की कोशिश कर रही है। इसलिए इस साल का अनिवार्य कार्यभार है कि अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता और आर्थिक संप्रभुता की रक्षा के लिए साम्राज्यवाद से संघर्ष किया जाये और उन सांप्रदायिक शक्तियों को भी नाकाम बनाया जाये जो हमारे आधुनिक भारतीय गणतंत्र की एकता और अखंडता को ही नष्ट करने पर तुली हुई हैं।

250 साल पहले प्लासी की लड़ाई हुई और 150 साल पहले भारतीय स्वतंत्रता संग्राम; साठ साल पहले हमारा देश ब्रिटिश उपनिवेशवाद से आज़ाद हुआ। इन तीनों अवसरों को याद करना ज़रूरी है और ज़रूरी है इनसे सही सबक़ हासिल करना ताकि 2007 में हम आधुनिक भारतीय गणराज्य को मज़बूत बना सकें।

नाटक और रंगमंच के आइने में 1857

–देवेन्द्र राज अंकुर

1857 के जनसंग्राम में शहीद हुए लोगों के किस्सों की लोकस्मृति के बावजूद भारतेंदु-युग और उसके बाद भी ऐसे ही नाटक लिखे जाते रहे जिनमें प्राचीन भारत के मृत वीर नायकों को ही रचना के केंद्र में रखा गया ऐसा क्यों हुआ? इस प्रश्न के उत्तर श्री अंकुर के इस लेख में हमें मिलते हैं। इस प्रश्न की जांच-पड़ताल के क्रम में इस छोटे से आलेख में ऐतिहासिक अनुशीलन और विश्लेषण पर आधारित नये निष्कर्ष दिये गये हैं। इन दिनों देवेन्द्र राज अंकुर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक हैं। –सं.

खुशी की बात है 2007 का साल 1857 की क्रांति की 150वीं जयंती के रूप में मनाया जा रहा है और इस अवसर पर साहित्य की सभी विधाओं में इस घटना ने किस तरह से हस्तक्षेप किया इसका आकलन करने की दिशा में एक शुरुआत हुई है यदि सच्चाई को ध्यान में रखा जाय तो आश्चर्य होता है कि इतनी बड़ी घटना को लेकर हिंदी साहित्य की किसी भी विधा में आज तक सीधे-सीधे कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। अपवाद स्वरूप मंगल पांडे की जीवनी या कि 20वीं शताब्दी में वृंदावनलाल वर्मा द्वारा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई पर एक उपन्यास उल्लेख किया जा सकता हैं जबकि इसके समानांतर उर्दू और अँग्रेज़ी साहित्य से जुड़े तत्कालीन संस्मरणों, अनुभवों, जीवनियों और दूसरे विवरणों में इस घटना का बार-बार ज़िक्र आता है इतना ही क्यों, हमारे अपने लोकगीतों और लोकभाषाओं में भी मौखिक रूप में ही सही इस घटना से जुड़ी बहुत सह-स्रोत सामग्री अनायास ही उपलब्ध हो जाती है। लेकिन जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है हमारी हिंदी भाषा के लिखित साहित्य में इस घटना का कहीं कोई नामोनिशान नहीं मिलता।

आख़िर इस अनुपस्थिति के क्या कारण हो सकते हैं? सबसे पहला कारण तो इसी तथ्य में खोजा जा सकता है कि हमारी परंपरा में कभी भी इतिहास को इतिहास के रूप में लिपिबद्ध करने का चलन नहीं रहा है। यदि आरंभ से ही ऐसा हुआ होता तो फिर अलग से इस पर विचार करने की ज़रूरत न पड़ती। यही कारण कि आजतक हम लोग भरतमुनि, भास, शूद्रक और यहां तक कि कालिदास जैसे रचनाकारों के विषय में भी समय को लेकर निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। और यदि किसी हद तक इतिहास साहित्य रचना की दुनिया में आया भी है तो ज़्यादा से ज़्यादा एक मिथक, अतिशयोक्ति अथवा फ़ंतासी के रूप में ही। यह तथ्य सुदूर अतीत की ऐतिहासिक घटनाओं के लिए तो किसी हद तक सार्थक जान पड़ता है लेकिन महज़ 150 बरस पहले की घटना को लेकर साहित्य और वह भी विशेष रूप से नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में इतनी उदासी क्यों? इसका एक दूसरा कारण भी दीख पड़ता है और उसे इस तरह से व्याख्यायित किया जा सकता है कि जब-जब नाटककारों, रचनाकारों ने तात्कालिक इतिहास को अपने लेखन का विषय बनाना चाहा तब-तब उन्होंने अपने समकालीन समय से संगति बिठाने के लिए अपनी स्रोत सामग्री भी सूदूर अतीत की मिलती जुलती घटनाओं के माध्यम से व्यंजित करने की कोशिश की, अथवा ऐसी कथाओं को अपनी रचनाओं का आधार बनाया जो अपनी अपील में सार्वजनिक, सार्वकालिक और शाश्वत हो। इस दृष्टि से भारतेंदु के नाटकों में भारत दुर्दशा, नील देवी और अंधेरी नगरी का नाम लिखा जा सकता है। ठीक ऐसा ही विचार जयशंकर प्रसाद के नाटकों-चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी इत्यादि के बारे में व्यक्त किया जा सकता है, जिनमें उन्होंने अँग्रेज़ी सत्ता के ख़िलाफ देवासियों को अपने अतीत की गौरवमयी गाथा के माध्यम से उन्हें स्वयं अपनी अस्मिता की पहचान करायी। यह काम बहुत से परवर्ती नाटककारों यथा जगदीश चंद्र माथुर, मोहन राकेश, सुरेंद्र वर्मा तथा भीष्म साहनी जैसे लोगों ने अपने अलग-अलग नाटकों के माध्यम से किया।

लेकिन सवाल फिर भी अपनी जगह वैसे ही बना रहा है कि 1857 से लेकर 19वीं शताब्दी के अंत तक नाटक और रंगमंच के रचनात्मक संसार में इस घटना की विशेष रूप से, इसी घटना के रूप में, कहीं कोई प्रतिछाया दिखायी क्यों नहीं पड़ती जबकि इसके विपरीत लोकगीतों अथवा लोकभाषाओं में 1857 की राजनैतिक क्रांति की झलक बार-बार दिखायी पड़ती है। जैसा कि हम पहले भी उल्लेख कर चुके हैं इसका सीधा-सीधा कारण यही है कि ये सारी आशु अथवा मौखिक रचनाएँ हैं जो उस जनमानस के भीतर से पैदा हुईं जिसने स्वयं उस क्रांति में बढ़चढ़कर हिस्सा लिया था। यह एक तथ्य है कि ऐसे सभी लोग समाज के निचले वर्ग से जुड़े हुए थे और उन्होंने उस क्रांति के अच्छे बुरे जो भी परिणाम रहे हों उन्हें स्वयं अपने अनुभव के स्तर पर भुगता था। अत: यह स्वाभाविक ही था कि गीतों-बोलियों और लोकनाट्यों में उस क्रांति से जुड़े वीर नायकों की गाथाओं का अपने आप जन्म होता चला गया। चाहे वह कुवंर वीरपाल सिंह, चंद्राल सिंह हों, रानी लक्ष्मी बाई हों, बिरसा मुंडा हों और यहाँ तक कि मंगल पांडे हों। स्वत: स्फूर्त रचनाशीलता के मौखिक होने के कारण ऐसे साहित्य को ब्रिटिश शासन द्वारा किसी तरह

की सेंसरशिप का भी ख़तरा नहीं था क्योंकि उसकी रचना प्रक्रिया व्यक्तिगत स्तर पर न होकर सामूहिक अभियान के रूप में होती थी और वो सदा वाचिक ही रही। इसके विरोध में हम जिस साहित्य के आईने में इन 1857 की छवियों को देखने की आशा कर रहे हैं उनके रचनाकार समाज के संभ्रांत वर्ग से अथवा ज़्यादा से ज़्यादा मध्यम वर्ग से संबद्ध थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र के पिता गोपालदास, स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, पं. प्रताप नारायण मिश्र, शिव प्रसाद सितारे हिंद अर्थात् तत्कालीन किसी भी जाने पहचाने रचनाकार, साहित्यकार का नाम लें वे लोग समाज के उसी वर्ग का हिस्सा थे जिसने कहीं न कहीं उस क्रांति में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अँग्रेज़ों का साथ दिया। इसलिए सीध-सीधे वे लोग उन घटनाओं का उल्लेख अँग्रेज़ों के विरोध में तो कर ही नहीं सकते थे। कहा तो यहां तक जाता है कि उन दिनों में अंग्रेज़ों ने अपने हथियार असबाब आदि रखने के लिए भारतेंदु हरिश्चंद्र परिवार की कोठील का भी इस्तेमाल किया था। ऐसा नहीं कि इस दौड़ में अंग्रेज़ी सत्ता के ख़िलाफ़ नाटक लिखे ही नहीं गये। 1876 में ड्रामेटिक परफ़ॉमेंस एक्ट लागू कर दिया जो आज तक अपने उसी मूल रूप में लागू हैं इसी के साथ अलग-अलग भाषाओं में प्रह्लाद नाटक, कीचक वध, कुछ पारसी नाटकों के नाम भी सुनायी पड़ते हैं। लेकिन सच्चाई अंततः यही है कि इनमें से किसी भी नाटक की कहानी का 1857 की घटनाओं से कोई लेना-देना नहीं है। इस सच्चाई को हिंदी साहित्य में तो स्वीकार किया जा सकता है लेकिन अगर हम उर्दू, अरबी और फ़ारसी के तत्कालीन साहित्य को उलट-पलट कर देखें तो वहां इस समय की घटनाओं के बेशुमार उल्लेख दिखायी पड़ते हैं। कहीं इसका कारण यह तो नहीं कि अंग्रेज़ों के शासन से पहले जिन शासकों की सत्ता यहां मौजूद थी उन्हीं को सीधे सीधे तौर पर अँग्रेज़ों से जूझना पड़ा और वही लोग उसके भुक्तभोगी भी बनें इसलिए उस बेचैनी, अपने हक के छिन जाने, तमाम तरह के बर्बर अत्याचार की पृष्ठभूमि में गोरे लोगों को फिरंगी के रूप में देखने और मुल्क की आज़ादी के लिए तड़प में से यदि उस वक्त की घटनाओं के इर्दगिर्द रचनात्मक साहित्य का जन्म हुआ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

नौटंकी के अदाकार

दूसरी तरफ यह भी उतना ही सच है कि जब सचमुच की आज़ादी के वक्त देश का विभाजन हुआ तो यह जहां साहित्य में बहुत कुछ लिखा गया, वहां हिंदी साहित्य उससे अछूता न रहा। बहुत साल पहले सिक्का बदल गया शीर्ष से एक संकलन विभाजन से संबंधित कहानियों का आया था। यहां तक तक कि 1984 के दंगों को लेकर भी काला नवंबर नाम से हिंदी कहानियों का एक संकलन प्रकाशित हुआ है। लेकिन जहां तक नाटक और रंगमंच की बात है तो पिछली शताब्दी के आख़री दशक में पहली बार जिस लाहौर नहीं देख्या ओ जन्मया ही नहीं जैसा नाटक हमारे सामने आया और सही माइनों में यही अकेली नाट्य रचना है जो हिंदी नाटक और रंगमंच के इतिहास में किसी सचमुच की ऐतिहासिक घटना का पुनरावलोकन करती है। क्या नाटक जैसी विधा में ऐतिहासिक घटनाओं की अनुपस्थिति का यही कारण है कि एक जीवंत विधा के रूप में सचमुच में उन घटनाओं को दिखा पाना बहुत जोखिम और साहस का काम होता है? इधर हाल ही में रिलीज हुई परजानिया और ब्लैक फ्राइडे जैसी फ़िल्मों से भी यह बात काफ़ी हद तक सच साबित होती है। अतः अगर नाटक जैसा माध्यम भी अपने समय के इतिहास से परहेज़ करता है तो कोई आश्चर्य नहीं।

1857 की विरासत

–शिवकुमार मिश्र

सन् 2007 का वर्ष सन् 1857 की विरासत को एक बार फिर से याद करने का यादगार वर्ष है, यही नहीं, वह उस सारे घटनाक्रम को और उससे उपजे अलग-अलग तरह के, यहां तक कि परस्पर विरोधी निष्कर्षों एवं समूचे घटनाक्रम के निहितार्थों और फलितार्थों पर एक बार फिर से विचार करने का वर्ष भी है जो आज से एक सौ पचास साल पहले घटित हुआ था ओर अपने समय-संदर्भ में अभूतपूर्व माना गया था। अभूतपूर्व इस नाते कि सौ साल पहले भारत की धरती पर स्थापति हुई अँग्रेज़ों की राजसत्ता को, पहली बार भारतीयों की ओर से, एक सशस्त्र अभियान के तहत, जबर्दस्त चुनौती मिली थी। इस सशस्त्र अभियान की शुरुआत हुई थी अँग्रेज़ी फ़ौज की एक पलटन के हिंदुस्तानी सिपाहियों की तरफ से, अपने अँग्रेज़ों अफसरों के ख़िलाफ़ बग़ावत की शक्ल में, और जिसमें आगे चलकर ऐसे कुछ देशी राजा-नवाब भी शामिल हो गये थे, जो अंग्रेज़ों की साम्राज्य विस्तार नीति से असंतुष्ठ और आशंकित या तो अपनी रियासतें गंवा चुके थे या उसके प्रति भयभीत थे। ब्रिटिश राजसत्ता के बल पर, तथा कुछ दीगर कारणों के चलते, उपनिवेशवादी शासक अंतत: इस सशस्त्र अभियान को कुचलने में सफल तो हुए, परंतु बग़ावत की आग यक-ब-यक ठंडी नहीं हुई। हिंदी-उर्दू क्षेत्र के दूर-दराज़ के गांवों में आगामी दो वर्षों तक वह थोड़ी-बहुत सुलगती ही रही।

1857 से लेकर अब तक, इतिहासकारों, विद्वानों और विचारकों का एक अच्छा-ख़ासा तबक़ा 1857 की इस बग़ावत को फ़ौज के भारतीय सिपाहियों की एक पलटन के, कुछ तात्कालिक कारणों से उपजे असंतोष की अभिव्यक्ति मानता आया है। ऐसे इतिहासकारों, विद्वानों ओर विचारकों में, देशी-विदेशी, सरकारी-गैरसरकारी, दोनों तरह के लोग हैं। उनके अनुसार यह बग़वत महज़ की सीमित 'सिपाही-विद्रोह' थी, 'बलवा' थी। वे इसे एक स्वत: स्फूर्त घटना मानते हैं, पिछड़ी-प्रतिगामी मानसिकता से उपजी, जिसका कोई दूरव्यापी प्रभाव नहीं था। उनका यह भी मानना है कि जिन भारतीय फ़ौजियों ने बग़ावत पर उतरे थे। फ़ौज में इस्तेमाल होने वाले कारतूसों में गाय और सूअर की चर्बी होने की बात ने उनकी धर्म-भावना को आहत किया था अंग्रेज़ सरकार द्वारा पारित ऐसे कुछ कानूनों से भी वे विक्षुब्ध थे, जो सवर्गों के रूप में उनकी उँची हैसियत तथा विशेषाधिकारों को कम करते हुए उन्हें निम्न वर्णों की समकक्षता में लाने वाले थे।

ऐसे इतिहासकारों और विचारकों के अनुसार 1857 की बग़ावत सामंती चरित्र वाली बग़ावत थी, जिसका लक्ष्य चले आते सामंती तंत्र को बरक़रार रखना था। उनके अनुसार, बाग़ी सिपाहियों की तरह इन सामंतों के पास भी न कोई विचारधारा थी, ना ही भविष्य की कोई योजना या रचनात्मक स्वप्न।

जहाँ तक बग़ावत में हिंदू-मुसलमानों की साझा शिरकत की बात है, इस सोच के इतिहासकारों और विद्वानों के अनुसार, इसके पीछे हिंदू-मुस्लिम एकता या सांप्रदायिक सद्भाव जैसी कोई भावना नहीं थी।

जिन इतिहासकारों, विद्वानों और विचारकों के ये विचार तथा अभिमत हैं, उनके पास अपने विचारों, अभिमतों और निष्कर्षों को पुष्ट करने वाले प्रभूत तथ्य भी हैं। ये तथ्य शाही फ़रमानों के रूप में, बाग़ी फ़ौजियों के बायानों के रूप में, जनता के लिए जारी की गयी विज्ञप्तियों के रूप में, अंग्रेज़ सरकार को सामंतों, राजा-नवाबों द्वारा लिखे गए पत्रों के रूप में, कहने का मतलब नाना रूपों में। ये इतिहासकार और विद्वान यह भी मानते हैं कि बग़ावत का असफल होना लगभग निश्चित था।

मात्र इतना ही नहीं, इस नज़रिए से जुड़े लोगों के अनुसार 1857 की बग़ावत की असफलता सुनिश्चित तो थी ही, वह आवश्यक भी थी। भावी भारत के लिए शुभ। सरकारी इतिहासकार श्री सुरेन्द्र नाथ सेन लिखते हैं–''1857 की लड़ाई अपने वर्ग-स्वार्थों के लिए सामंतों की लड़ाई थी। ये सामंत यहाँ पिछड़ी हुई सामाजिक व्यवस्था क़ायम रखना चाहते थे। इसके विपरीत अंग्रेज़ शासक यहाँ प्रगतिशील सभ्यता के प्रतिनिधि थे। यदि 1857-58 में भारतीय पक्ष जीतता तो इतिहास की गति उलट जाती और भारत पिछड़ा हुए देश बना रहता।''

जैसा हमने कहा है, 1857 पर इस तरह के विचारों का सिलसिला बहुत लंबा है।

उसकी एक ताजा कड़ी लखनऊ से प्रकाशित 'तद्भव' प्रत्रिका के 15वें अंक में प्रकाशित श्री वीरेनद्र यादव का आलेख है। बार-बार उद्धत किये गये तथ्यों को आधार बनाकर लिखा गया यह आलेख निचोड़ है उस सोच का जो विचारों के उपर्युक्त प्रवाह में मौजूदा है और सुरेन्द्रनाथ सेन का अभिमत जिसका साक्ष्य है। श्री यादव लिखते हैं-''सचमुच कैसा होता यदि 1857 में बाग़ियों की जीत होती? दिल्ली में मुग़लशाही की स्थापना होती और नाना साहब अपने राज्य में पेशवाई स्थापित करते। निश्चित रूप से यह दृश्य हिंदू-मुस्लिम एकता की मिसाल न कायम करके 'सभ्यताओं के संघर्ष' का होता। यह राष्ट्रवाद की प्रसव-पीड़ा न होकर धार्मिक राज्य की वापसी होती। जर्जर सामंती-व्यवस्था द्वारा अपनी खोयी हुई शान की वापसी के इस अंतिम प्रयास की असफलता से जिन नयी शक्तियों के उदय और नये समाज की स्थापना का पथ प्रशस्त हुआ, वहीं से आधुनिक राष्ट्रवाद की राह फूटती थी। अच्छा ही हुआ 1857 की कोख बंजर रही वरना जिस विकलांग राष्ट्रवाद का जन्म होता वह विनायक दामोदर सावरकर के 'स्व-धर्म' और 'स्व-राज्य' के रास्ते हिंदू राष्ट्रवाद तक पहुंचता।'' श्री यादव प्रश्न उठाते हैं- ''प्रश्न यह है कि आधुनिक राष्ट्रवाद की पूर्व पीठिका क्या है? वर्णाश्रमी, पितृसत्तात्मक, सामंती आधार या कि धर्म, वर्ण, जाति व लिंग की असमानता से मुक्त समान नागरिकता का सिद्धान्त? 1857 और 1947 की विच्छिन्नता के सूत्र यहीं अंतर्निहित है। इसलिए 1857 की विरासत से मुक्त होकर ही 1947 के आधुनिक राष्ट्रवाद की विरासत को संभाला जा सकता है।''

श्री यादव के उपर्युक्त मंतव्य पर संप्रति हम इतना ही कहेंगे कि सवाल न तो सर्व-सहमति के किसी राष्ट्रवाद से चकाचौंध होने का है, और ना ही किसी 'ऐतिहासिक भूल' को दुहराने का। न तो अपनी सोच, और उसके अनुरूप तथ्यों की अपनी जांच-परख को, इतिहास तथा अपने से भिन्न सोच और तथ्यों की जांच-परख को मिथक क़रार देने का। ज़रूरत है 1857 के घटनाक्रम और उसकी अंतर्वस्तु को समग्रता में, उसके विकासशील संदर्भों में ओर उसकी समूची अंतर्विरोधी जटिलता के साथ पढ़ने और तदुपरांत किन्हीं वस्तुनिष्ठ निष्कर्षों तक पहुँचने की। उम्मीद थी कि श्री यादव ऐसा कर सकेंगे, परंतु वे ऐसा नहीं कर सके।

रामविलास शर्मा समेत विद्वानों, इतिहासकारों और विचारकों का एक अच्छा ख़ासा समूह है जो अपने तर्कों और तथ्यों के आधार पर 1857 की बग़ावत को भारत का पहला स्वाधीनता संग्राम मानता हैं अपनी पुस्तक 'समाजवाद ही क्यों' में जयप्रकाश नारायण 1857 के वीरों का आदरपूर्वक स्मरण करते हैं और अपनी 'आत्मकथा' में जवाहरलाल नेहरू 1857 के राष्ट्रीय और जनधर्मी चरित्र को रेखांकित करते हुए उसका संबंध भारतीय जनता की मुक्ति की आकांक्षा से जोड़ते हैं।

1857पर सबसे ताज़ा, पहले प्रकार के विचार-प्रवाह में उठाये गये मुद्दों से मुठभेड़ करता हुआ आलेख श्री ज्योति बसु का है। अपने आलेख में ज्योति बसु ने 1857 के विद्रोह को आधुनिक भारत के इतिहास में 'मील का पत्थर' तो माना ही है, यह भी लिखा है कि यह विद्रोह ''भारत में अंग्रेज़ों के लिए पहली राष्ट्रीय चुनौती की ओर इंगित करता है। इसने भारतीय राष्ट्रवादी राजनीति के विकास को नया हौसला दिया। इसने ब्रिटिश भ्लारत में महत्वपूर्ण संवैधानिक बदलावों की पीठिका तैयार की। आज डेढ़ सौ साल बाद जब हम उस समय की घटनाओं की याद करते हैं, यह विद्रोह हमें राष्ट्र निर्माण की अपनी परियोजना को पूरा करने के लिए प्रेरणा का नया स्रोत मुहैया कराता है।''

इतिहास साक्षी है कि बग़ावतें और क्रांतियां, महत् अभियान और जनआंदोलन, जब भी और जहाँ भी हुए हैं, उनके पीछे भले ही, सतह पर दिखायी देने वाले तात्कालिक कारण होते हों, प्राय: वे इन कारणों की उपज नहीं हुआ करते। उनके लिए मेघखण्ड आकाश में बहुत पहले से एकत्र होते रहते हैं, और अचानक कुछ ऐसा घटित होता है कि बिजली की एक कौंध के साथ के धाराधर बरसने लगते हैं।

यही नहीं, इतिहास इस बात का साक्षी भी है कि किसी विद्रोह, अभियान या आंदोलन के तात्कालिक कारण जो भी हो, उनके सूत्रधार कोई भी हों, और उनके लक्ष्य कुछ भी हों, एक बार असंतोष का दावानल क्रांति या विद्रोह के रूप में भभक उठा, आंदोलन की शक्ल पा गया, असंतोष के न जाने कितने आयाम, न जाने कहाँ-कहाँ से उसमें जुड़ने लगते हैं, जो न केवल उसके जनाधार को व्यापक और विशाद करते हैं, उसके चरित्र को ही गुणात्मक रूप से बदल देते हैं। ज़रूरी नहीं कि वह अपने सूत्रधारों के दशारों पर ही चले ओर उनके अपने लक्ष्यों के अनुरूप चले। प्राय: ही वे अपने प्रवर्त्तकों या सूत्रधारों की इच्छा और सोच के विपरीत वृहत्तर रूप और संदर्भ पा जाते हैं। ऐसा उस स्वाधीनता आंदोलन में भी हुआ है जिसकी परिणति 1947 की स्वाधीनता में हुई, ऐसा विश्व के दीगर महत् अभियानों में हुआ है और यही 1857 के उस उद्वेलन का सच भी है, जो एक सीमित फ़ौजी बग़ावत से शुरू होकर एक 'राष्ट्रीय विद्रोह' में बदल जाता है, दुर्भाग्य से जिसकी नोटिस न लेने का नतीजा ही वे मंतव्य तथा निष्कर्ष हैं, ज़िनका उल्लेख हम कर चुके हैं।

बग़ावत की आग बड़े नगरों में भले ही बुझा दी गयी हो, 1857 के दो साल आगे तक वह हिंदी-उर्दू क्षेत्र के दूर-द्राज़ के गांवों में सुलगती रही। हैरानी होती है इस समझ पर कि बग़ावत एक उन्माद, एक आकस्मिक या एक क्षणिक विस्फोट भर थी। ऐसा मान लेना 1757 से लेकर 1857 तक के अंग्रेज़ी-राज के शोषण और दमन-चक्र को, उसकी बेतहाशा आर्थिक लूट को, उसके स्वेच्छाचार को भुला देना है। अंग्रेजों ने भूमि के नये-नये बंदोबस्तों के चलते ग्रामीण जनता को राजस्व के बोझ से

इस क़दर लादा है, जिनकी मिसाल नहीं है। बाग़ी सिपाही उन्हीं किसानों के बेटे थे जो ब्रिटिश राज के दमन और शोषण-चक्र के शिकार होकर अपने गांव-घर से उजड़ कर पेट की आग बुझाने के लिए अंग्रेज़ों की फौज में भर्ती हुए हुए थे। ये सारे के सारे बाग़ी सवर्ण या ऊंची जातियों के नहीं थे। तथ्य यह भी बताते हैं कि बाग़ी फौजियों के साथ बग़ावत में किसान, दस्तकार, दलित जातियों के वे तमाम लोग भी शामिल थे, जो असंतोष के ज्वालामुखी को सीने में लिए किसी ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में थे कि अपने आक्रांताओं से प्रतिशोध ले सकें।

यही सही है कि बाग़ियों के सामने आधुनिक राष्ट्र-राज्य का आदर्श नहीं था, ना ही आधुनिक स्तर की जनतांत्रिक चेतना, वैसी कोई व्यवस्था, परंतु वे विचारधारा विहीन थे, उनके पास कोई स्वप्न नहीं था, वे पिछड़ी समाज-व्यवस्था या सामंती-तंत्र को बरक़रार रखना चाहते थे, यह बात सही नहीं है। इसके साक्ष्य हैं कि बाग़ियों ने जिस क्रांतिकारी परिषद का गठन किया था, जिस संविधान को लागू किया था, अधिकार और कार्यों का जो अंटवारा किया गया था, उसमें बादशाह तक को दूसरे सदस्यों की तरह एक ही मत का अधिकार था। सदस्यों की निर्वाचन पद्धति भी जनतांत्रिक थी। पूरे संविधान पर ग़ौर करें तो स्पष्ट होता है कि उसके ज़रिए सामंतवाद मज़बूत नहीं, कमज़ोर हुआ था। समाज के सारे तबक़ों को समान न्याय, समान सुविधाएँ देने की बात सामंती तंत्र को कमज़ोर करने वाली बात है, उसे मज़बूत करने वाली नहीं।

एक बात और भी, जिस पर ध्यान देना ज़रूरी है। इतिहासकार एम.एस. जैन, 'आधुनिक भारत का इतिहास' शीर्षक अपनी पुस्तक में एकदम सही लिखते हैं- ''किसी भी क्रांति का स्वरूप केवल उस क्रांति को आरंभ करने वाले लक्ष्यों के द्वारा निर्धारित नहीं होता। निर्धारक तथ्य यह है कि राष्ट्रीय स्मृति में उस क्रांति की क्या छाप रह जाती है, अथवा वह आने वाली घटनाओं को किस तरह प्रभावित करती है।''

1857 की बग़ावत के पीछे जो भी शुरुआती करण हों, उसके जो भी लक्ष्य या उद्देश्य हों, उसमें शामिल बाग़ी सिपाहियों की सोच और उनके क्रियाकलाप तथा उसमें भागीदार राजा-नवाबों का चरित्र और उनके कार्यकलाप कुछ भी हों, बग़ावत के मैदान में उतर आने के बाद वे वैसे ही नहीं रह गये थे, बग़ावत का स्वरूप और चरित्र ही विशाद और व्यापक नहीं हुआ था, उसमें शिरकत करने वालों की छवि भी बदली थी। 1857 राष्ट्रीय स्मृति में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ पहले सशस्त्र भारतीय प्रतिरोध के रूप में अंकित है, इस विश्वास के साथ अंकित है कि उपनिवेशवादी शासक अपराजेय नहीं हैं, उनके छक्के छुड़ाके जा सकते हैं, उनसे टक्कर ली जा सकती है। 1857 का महाविद्रोह स्वाधीनता संग्राम में हिंदू-मुसलमानों की एकजुटता की मिसाल के रूप में राष्ट्रीय स्मृति का हिस्सा रहा है। लोकगीतों और लोकगाथाओं की एक पूरी की पूरी श्रृंखला है जिसमें इन वीरों और वीरांगनाओं के साहस, शौर्य और जीवट् के क़िस्से टंके हुए हैं, जिनमें इनकी शहादतें प्रेरणा के अजस्र स्रोतों के रूप में मौजूद हैं। पूरे स्वाधीनता-संग्राम में जिस रानी की छवि स्वाधीनता सेनानियों की प्रेरणा का स्रोत बनी है वह और कोई नहीं, 'खूब लड़ी मरदानी वह तो झांसी वाली रानी'-वीरांगना लक्ष्मीबाई की छवि है, कुंवर सिंह, तात्या हजरत महल की छवि है। करोड़ों कंठों से बहादुरशाह ज़फ़र की यह नज़्म गूंजी है, उसका वह दर्द गूंजा है जो उसकी लिखी इन पंक्तियों में छलक-छलक उठा है-''है कितना बदनसीब ज़फ़र दफ़न के लिए/दो गज़ ज़मीन भी न मिली कूए-यार-में।'' यह सही है कि मंगल पांडे और भगत सिंह में बहुत अंतर है-व्यक्तित्व का, सोच का, क्रियाकलापों का। यह भी सही है कि उनकी शहादत के संदर्भ अलग हैं। किंतु एक बात, जो दोनों में समान है वह यह कि दोनों ही ब्रिटिश राज के दमन-चक्र के शिकार हुए। राष्ट्रीय स्मृति में भगत सिंह, यदि अपने विशिष्ट संदर्भ में एक शहीद के रूप में जीवित हैं, तो मंगल पांडे का नाम भी उसमें इस नाते कहीं न कहीं मौजूद है कि ब्रिटिश राज के स्वेच्छाचार का शिकार वह भारत का पहला शहीद था। उसकी अभ्यर्थना करना या न करना या न करना अलग बात है परंतु उसकी शहादत का अवमूल्यन भी सही नहीं कहा जायेगा।

रानी लक्ष्मीबाई के साथ अंग्रेज़ों से लड़ते हुए जो अन्य लोग शहीद हुए थे, उनमें उनका पठान तोपची गुलाम गौस खां तथा दलित जाति की वीरांगना झलकारी बाई भी थी। युद्ध के मैदान में इन सामंतों का वर्ग-चरित्र नहीं, इनके व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य उजागर हूआ है। बाग़ी सैनिकों की कोई विचारधारा नहीं थी, उनमें देशभक्ति का भाव नहीं था, वे राष्ट्रीय चेतना से शून्य थे, बग़ावत में दिखायी पड़ने वाली हिंदू-मुस्लिम एकजुटता महज अवसरजन्य एकजुटता थी, इस तरह की बातें विद्रोह के क्रमश: प्रशस्त हुए लक्ष्यों का अनादर करती हैं, उन साक्ष्यों की उपेक्षा करती हैं जो इश्तिहारों में, गीतों और कविताओं में, शाही बयानों और फ़ौजियों के अख़बारों में इन सारी बातों का प्रतिवाद करते हुए मौजूद हैं।

यदि यह सब 'मिथ' है, तो पूछने का मन होता है कि इतिहास क्या है? इतिहास कोई तैयार माल नहीं होता। जनता के क्रियाकलाप ही इतिहास बनाते हैं।

कहा जाता है कि 1857 में बाग़ी जीत गये होते तो दिल्ली में मुग़लशाही और नाना साहब के राज्य में पेशवाई स्थापित होती और परिदृश्य हिंदू-मुस्लिम एकता का नहीं 'सभ्यताओं के संघर्ष' का होता। हम न तो भविष्यद्रष्टा हैं, ना ही भविष्यवक्ता, किंतु 1857 के घटनाक्रम के बीच से जो साक्ष्य उभरते हैं, उनसे यही द्योतित होता है कि प्रजातंत्र की एक सोच बाग़ियों के पास थी और उसके अनुरूप एक ऐसी व्यवस्था की परिकल्पना जिसके अंतर्गत किसी को विशेषाधिकार मिले बिना सारी जनता के कल्याण का उद्योग हो। जहाँ तक 'सभ्यताओं

के संघर्ष' का प्रश्न है–इतिहास इस बात का साक्षी है कि समूचे मुस्लिम शासन में, धर्मांध सुल्तानों और बादशाहों के शासन में भी, हिंदू-मुसलमानों के बीच भेदभाव भले रहे हों, उनकी अपनी मनोभूमि में एक-दूसरे के ख़िलाफ़ कड़वाहट भी हो, परंतु इस पूरे दौर में सांप्रदायिक स्तर के संघर्ष या धर्म-रक्षा के युद्ध नहीं हुए। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सांपद्रायिक स्तर के तनावों की शुरुआत वस्तुत: अँग्रेज़ी राज में हुई। 1857 में अंग्रेज़ बग़ावत को कुचलने में सफल जरूर हुए परंतु उन्होंने यह सबक भी सीखा कि यदि भारत में मज़बूती के साथ लंबे समय तक राज करना है तो उस हिंदू-मुस्लिम एकजुटता को तोड़ा जाय जिसकी ताक़त विद्रोह के दौर में वे अनुभव कर चुके थे। 1857 से लेकर 1947 तक, जब तक उनका शासन रहा, वे ''बांटो और राज करो'' की अपनी नीति पर अमल करते रहे। सांप्रदायिक राजनीति का जो विष-वृक्ष उन्होंने रोपा उसी का परिणाम था देश का विभाजन। हम इस वृत्तांत को विशद नहीं करना चाहते, किंतु नवजागरण के पूरे इतिहास को देखा जाये तो स्पष्ट होगा कि सामाजिक-धार्मिक स्तर पर सुधार-आंदोलनों के अपने सकारात्मक पहलुओं के साथ नवजागरण काल में ही उस धार्मिक पुनरुत्थानवाद के बीज पड़े और अंकुरित हुए-आगे स्वाधीनता आंदोलन में भी संक्रमित होते गए जो देश-विभाजन का कारण भी बने, और आगे के स्वाधीन भारत के लिए एक चुनौती। सांप्रदयिकता कभी सीधे धर्म या संस्कृति से संबद्ध नहीं रही, उसका संबध बराबर राजसत्ता के लिए संघर्ष से रहा है। धर्म और संस्कृति का तो इस्तेमाल किया गया है–हिंदू और मुसलमान–दोनों पक्षों के द्वारा, लक्ष्य तो राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति ही रहा है।

बहरहाल, अपने विषय पर आयें और देखने तथा जानने की कोशिश करें कि 1857 के समूचे घटनाक्रम के बीच आख़िर विरासत के रूप में क्या कुछ सहेजा और संरक्षित किया जा सकता है अथवा क्या 1857 की विरासत को भूल जाने या भुला देने में ही हमारे वर्तमान और भविष्य का कल्याण है?

विरासत 1857 की होय या 1947 की, अथवा कोई भी, विरासत कोई बंधी-बंधायी गठरी नहीं होती कि आंख मूंद कर सिर पर ढोते हुए चल दिया जाये या उठाकर उसे कूड़ेदान में फेंक दिया जाये। विरासत भूलने या भुला देने की चीज़ भी नहीं होती। पुराणपंथियों की बात जाने दें जो विरासत को जांचती-परखती है, उसके उसी अंश को सहेजती-संदर्भ में उसके सरोकारों के अनुरूप होता है और आगे ले जाने की क्षमता रखता है। शेष, जो रूढ़ और सीमाबद्ध होता है, उसे वह इतिहास के खाते में छोड़ देती है। सही कहें तो विरासत को अर्जित किया जाता है, कमाया जाता है। जो पीढ़ी जितनी जागरूक होती है और जिसका विवेक जितना प्रखर हाता है वह उतनी ही मात्रा में अपने समय और अगले समयों में विरासत का विनियोग उसे संवारने में करती है। ग्रहण और त्याग की यह चली आती परंपरा है, और विरासत के बारे में यही सही रुख़ है।

इसी नाते, सवाल न तो 1857 की विरासत को भूल जाने या भुला देने का है, ना ही 1947 की विरासत को आंख मूंद कर ढोने और संभालने का। सवाल, जैसा कि हम बार-बार कहते आये हैं, विरासत को थाहने-परखने और उसके उस अंश को जानने-पहचानने का है, हमारे अर्जित विवेक की कसौटी पर जो हमारे लिए, अगली पीढ़ियों के लिए सार्थक और सारवान बने रहने की क्षमता है। और इसी नाते हम पुन: दुहरायेंगे कि जरूरत 1857 के घटनाक्रम को अथवा 1857 की विफलता के बाद नवजागरण तथा उसी कोख से जन्मे स्वाधीनता आंदोलन के घटनाक्रम का, उसकी समग्रता में और उसकी अंतर्विरोधी जटिलताओं के साथ पढ़ने और विचार करने की है। अब तक हमने 1857 को जितना पढ़ा और समझा है, हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि बग़ावत अपने पूरे दौर में वही नहीं रही, जैसी वह आरंभ में थी। उसके स्वरूप और चरित्र में गुणात्मक बदलाव आया और बदलाव के इन्हीं संदर्भों के साथ वह राष्ट्रीय स्मृति का हिस्सा बनी। यही नहीं, 1859 के बाद भी बदलाव के इन्हीं सकारात्मक पहलुओं ने उपनिवेशवाद-साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ हमारे संघर्ष में कर्मठता के नये आयाम भी जोड़े हैं। ये इतिहास के तथ्य हैं मिथक नहीं।

अपने विचारधारागत शुद्धतावाद के चलते एक लंबे अर्से तक अपनी राष्ट्रीय विरासत के प्रति हमने उपेक्षा बरती है और हिंदू पुनरुत्थानवादियों के हाथों उसे सौंपे रखा है। हमने भक्ति आंदोलन और उसके आगे नवजागरण के विवेकानंद जैसे मनीषियों के विचारों को भी समुचित तवज्जों नहीं दी। परंपरा के प्रति अपने दृष्टिकोण को हम सुव्यस्थित नहीं रख सके। हमें इसका ख़मियाज़ा भी उठाना पड़ा है। कालांतर में अपने विचार-दर्शन की बुनियाद पर ही हमने परंपरा और विरासत को समझा, अपने दृष्टिकोण को दुरुस्त किया, विरासत को थाहने-परखने की बात की और उसके जीवंत पहलुओं की रक्षा और संवृद्धि के प्रति सतर्क हुए। इसके सकारात्मक नतीजे भी हमें मिले, हमारे विरोधियों को जिनसे परेशानी हुई है। विरासत और परंपरा के इसी रुख़ पर क़ायम रहते हुए हम उन तमाम चुनौतियों को झेल सकते हैं, उन पर विजय पा सकते हैं जो नवसाम्राज्यवाद, सांस्थानिक पूँजीवाद तथा धार्मिक पुनरुत्थानवाद ने इस नयी सदी में हमारे सामने पेश कर दी हैं।

–नया पथ से साभार

1857 और बुद्धिजीवी समुदाय

डॉ. शाहिद जमील

उन्नीसवीं सदी (और बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों) का भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय 1857 के विद्रोह को कुल मिलाकर या तो शत्रुतापूर्ण नज़रिये से देखता था या बिल्कुल ख़ामोश रहकर ऐसी स्वतंत्र कार्यसूची का पालन कर रहा था जिसका अवामी सरोकारों या सेकुलर राष्ट्रवाद से कुछ भी लेनादेना न था। बौद्धिक समुदाय के बीच 1857 के शत्रु अंग्रेज़ों के सहयोगी वर्गों से आये थे और सीधे तौर पर उनके कृपापात्र थे। उन्हें अपनी राजभक्ति पर कोई शर्म या ग्लानि न थी, बल्कि वे इसी के आधार पर सामाजिक नेतृत्व पाने की महत्त्वाकांक्षा रखते थे और राज के पक्ष में जनमत निर्माण में संलग्न रहते थे। दूसरा समुदाय उन लोगों का था जो समाज सुधार, धार्मिक सुधार, जाति-सुधार, 'अस्मिता-निर्माण' के अभियान में लगे थे: 1857 उनकी चेतना में हस्तक्षेप नहीं करता था, वह एक हारी हुई लड़ाई थी जिसकी कोई प्रासंगिकता उनके किसी काम की न थी। बरतानवी सामराज का सीधा प्रतिरोध उनके बस का न था, न ऐसी कोई उनकी योजना थी। सांस्कृतिक पुनरुत्थान, एक नये अतीत का आविष्कार, वर्तमान की चुनौतियों से मुंह फेरकर प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहास में गौरवशाली अध्यायों की खोज और 'चरित्र-निर्माण' ही इन आंदोलनों के लिए राष्ट्रवाद का पर्याय थे। बल्कि बहुत से बुद्धिजीवी राजभक्ति को एक सकारात्मक मूल्य की तरह ओढ़कर अंग्रेज़ी राज को जनहितकारी और 'मुगल काल' या 'मराठा राज' के मुकाबले दैवी वरदान की तरह पेश करते थे। इस प्रक्रिया में वे थोक भाव से इतिहास के सांप्रदायिकीकरण को भी एक सांस्कृतिक कर्म की तरह करते थे और ख़ुद अपनी ही खोजी हुई और मूलतः कल्पित धारणाओं के शिकार थे। बंगाल के 'नवजागरण' के ज़्यादातर 'अग्रदूत' इस काम में हमेशा अग्रणी रहे। जिसे हिंदी साहित्य में 'भारतेंदु युग' कहा जाता है वह उस दौर की साहित्यिक और सामाजिक विभूतियों द्वारा अंग्रेज़ी राज की दलाली और उत्तर भारतीय मध्यवर्ग के खुले सांप्रदायिकीकरण का युग ही था। यह कहा जा सकता है कि 1857 के बाद की आधी सदी से भी ज़्यादा का समय मोटे तौर पर बुद्धिजीवियों की दग़ाबाज़ी (Trahison Des Clescs) का दौर था।

लेकिन तब भी उपनिवेशवाद और उपनिवेशवाद का प्रतिरोध इस युग की प्रमुख पहचान थी। हिंदुस्तानी अवाम का कोई भी हिस्सा औपनिवेशिक शासन के प्रभावों से अछूता न था। 'कोउ नृप होउ' हमहिं का हानी' का विचार कभी भी सच न था-न तुलसीदास के युग में, और न ही 19वीं सदी में। बरतानवी हुकूमत की शुरुआत से लेकर उन्नीसवीं सदी के मध्य तक एक भी साल ऐसा नहीं गुज़रा जब कहीं राज ख़िलाफ़ और राज के समर्थक तत्वों के ख़िलाफ़ हथियारबंद लड़ाई न छिड़ी रही हो। दर्जनों किसान और आदिवासी विद्रोह हुए, जगह जगह छोटे-बड़े राजाओं और ज़मींदारों ने बग़ावतें कीं । बुद्धिजीवी वर्ग एक तरफ़ प्रतिरोध की इन वारदातों और दूसरी तरफ़ बरतानवी सामराज की नितियों का सावधान आकलन करते हुए मौक़े और महल के हिसाब से अपना रवैया तय करता था। वतनपरस्ती या जनहित को वर्ग-हित के आड़े नहीं आने दिया जाता था।

1857 के दौरान और उसके बाद के साठ साल तक बुद्धिजीवियों ने एक वर्ग के बतौर ख़ुद को अंग्रेज़ी राज की ढाल का काम करते हुए पाया बेशक जन-विद्रोहों और आंदोलनों की भनक उनहें रहती थी और ब्रिटिश शासन की शोषणकारी और दमनकारी भूमिका और संसाधनों की लूट के प्रति बुद्धिजीवी सजग थे, पर जन-क्रांति के ख़ौफ़ से वह अपनी बेचैनी को स्पष्ट राजनीतिक या इंकिलाबी ढंग से व्यक्त नहीं कर सकते थे। 1950 के बंग-भंग, पहली रूसी क्रांति, 1914 से छिड़े पहले विश्वयुद्ध और 1917 के बोल्शेविक इंकिलाब के दौर में बहुत से झटके लगे, तब भी शासक वर्ग में शामिल होने की होड़ में बुद्धिजीवी तबका कुल मिलाकर उपनिवेशवाद से अपनी असहमति को उदारवादी ढांचे में ही रखता था, और सामाजिक परिवर्तन की किसी क्रांतिकारी योजना के बजाय पुनरुत्थानवाद की आरामदेह सड़क पर चल रहा था। संक्षेप में, बुद्धिजीवी तबक़ा अपने वक़्त की समाज व्यवस्था में अपने वर्ग हितों की हिफ़ाज़त करते हुए राष्ट्रवाद के ऐसे मॉडल की हिमायत करता था जो उपलब्ध पूंजीवाद और सामंती रवायतों को चुनौती देने के बजाय उन्हीं की सरहदों में आगे का रास्ता तलाश करे।

जिसे वामपंथी शब्दावली में 1947 का ऐतिहासिक 'पूँजीपति-भूस्वामी' गठजोड़ कहा जाता है, उसकी जड़ें उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध ही में हैं, और उसी वक़्त से 1857 के प्रति बुद्धिजीवी वर्ग वैमनस्य का रवैया रखता आया, क्योंकि ज़्यादातर बुद्धिजीवी खुद ज़मींदार या व्यापारी वर्गों से आये थे। 1857 आखिरकार एक ऐसी अवामी बग़ावत थी जिसमें लोग मैदान में अपने हथियार और अपनी जान लेकर उतर आये थे-और उस वक़्त के हर राजभक्त और, अपने हिसाब से 'देशभक्त' बाबू के लिए इस से ज़्यादा डरावनी चीज़ कुछ नहीं थी। यहां

तक कि गांधी, जिन्हें अवसर 'राष्ट्रीय आंदोलन में जनता को (शायद कान पकड़कर) खींच लाने' का श्रेय दिया जाता है, खुद विरोध या प्रतिरोध के रूप में सुनिश्चित करने में अवाम को कोई भूमिका नहीं देना चाहते थे। वह संपूर्ण बग़ावत के विचार से ही असहमत थे, सिर्फ़ सिविल नाफ़रमानी (सविनय अवज्ञा) का नियंत्रित रूप ही उन्हें मंजूर था।

1857 के बारे में सैयद अहमद ख़ां के विचार मशहूर हैं और हर रंग का इतिहासकार उन्हें उद्धृत करता रहता है। उनका मानना था कि आधुनिक और वैज्ञानिक शिक्षा पश्चिमी सभ्यता की देन है और इस नेमत को ब्रिटिश शासकों के साथ सहयोग करके ही हासिल किया जा सकता हैं आधुनिक उपनिवेशवाद की अधीनता में ही आगे का रास्ता छिपा है। इसी तरह, जैसाकि उत्सा पटनायक ने 1857 पर अपने ताज़ा आलेख में बताया है, बंगाल के ज़मींदार वर्ग और बंगाली 'नवजागरण' की ऐतिहासिक कमज़ोरियां और 'कम्प्राडोर' प्रवृतियां ज़मीन के उस सीाई बंदोवस्त (पर्मानेंट सेटल्मेंट) की उपज हैं, बंगाल के ज़मीन के उस स्थाई बंदोबस्त (पर्मानेंट सेटल्मेंट) की उपज हें, जिसके फलस्वरूप किसान भिखमंगा हो गया और ज़मींदार वर्ग अचानक बेतहशा अमीर होता चला गया। वह लिखती हैं। 'वे (ज़मींदार और भद्रलोक) कंपनी बहादुर के इतने कृतज्ञ थे कि 1857 के महान विद्रोह के दौरान ब्रिटिश हुकूमत के साथ वफ़ादार बने खड़े रहे। फ्रांसिस और कॉर्नवालिस की कल्पना कि ऐसा अभिजात वर्ग औपनिवेशिक शासन की हिफ़ाज़त में एक सुदृढ़ राजनीतिक दीवार का काम करेगा, किसानों के शोषण में हाथ बंटायेगा और बदले में उसे 'सभ्य' समाज में दाख़िला दिया जायेगा, यथार्थ रूप ले चुकी थी। ज़मींदारों और अमीर भद्रलो की संतानें इंगलैंड जाती थीं और एक ऐसा मुल्क उन्हें 'तहज़ीब' सिखा रहा था जिसने अपनी तमाम आर्थिक ताकत दूसरों को गुलाम बनाकर और गुलाम लोगों पर बेतहाशा अत्याचार करके हासिल की थी। यहाँ तक कि रमेशचंद्र दत्त जेसे संवेदनशील लेखक भी स्थायी बंदोबस्त ओर कॉर्नवालिस की प्रशस्ति करते नहीं अघाते।' सच यही है कि समाज सुधार के इतने उपक्रमों के बावुजूद बंगाली भद्रलोक ने कभी किसान या किसान सक्रियता से हमदर्दी व्यक्त नहीं की जो 1857 की बुनियाद थी।

रमेशचंद्र दत्त और बंक्रिम के उपन्यास मुस्लिमों के ख़िलाफ़ हिंसा भड़काने वाले आवेश से भरे हैं (ठीक उसी तरह जैसे सावरकर की 1857 पर लिखी किताब हिंसा और क्रुरता मात्र का जश्न मनाती है)। इन बंगाली उपन्यासों में इस्लाम और मुस्लिमों के प्रति जो नफ़रत है वह सिर्फ़ पुनरुत्थानवादी आग्रह के कारण नहीं, राष्ट्रवाद की विल्कुल निम्नकोटि की अवधारणा की देन भी है। तथाकथित हिंदी नवजागरण के तहत रची गयी ढेरों कृतियां-कविताएं, नाटक, लेख, प्रचारात्मक साहित्य, और साहित्य के 'इतिहास'–इसी तरह के भावों से लबालब हैं। भारतेंदु से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक बल्कि छायावादियों तक यही अटूट सिलसिला हैं बंकिम या शिवप्रसाद 'सितारे-हिंद' के बारे में कहा जा सकता है कि वे ब्रिटिश राज ने नौकर थे और समर्थक भी, पर सुधार आंदोलनों का हाल इनसे भी अजीब है। सिाल के लिए दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज को लें। यें हिंदू समाज की भीतरी समस्याओं से भी उलझे हुए हें और राष्ट्र की पहचान धर्म के भीतर से ही निकालते हैं, न कि हिंदुस्तानी समाज की वास्तविक बनावट से और औपनिवेशिक परिस्थिति के प्रतिरोध से। समाज सुधार आंदोलन के लगभग सभी कर्णधारों-विवेकानन्द, विद्यासागर, यहाँ तक कि फुले-के बारे में यह कहा जा सकता है कि अतीत से प्रेरणा लेते हुए भी यह सब के सब 1857 और उसकी धरोहर से साफ़ तौर पर किनाराकशी कर जाते हैं। यह भी ऐसे दौर में जब 1857 की यादें और वारदातें बड़े पैमाने पर लोक साहित्य और लोकस्मृति में, लोकभाषाओं में और गैर-आंग्ल, ग़ैर हिंदी स्रोतों में सजीव रूप में उपस्थित हैं।

1857 के बाद बुद्धिजीवियों की औपनिवेशिक शासन के साथ भागीदारी का नतीजा यह भी हुआ कि मध्यवर्ग के ज्यादातर किस्से ने सरकार की विभाजनकारी नीतियों को किसी न किसी शक्ल में अपना लिया, सरकारी मर्दुमशुमारी और पृथक जनमत की ब्रिटिश राजनीति में सहयोग दिया, जाति और धर्म के आधार पर लगल अलग शिक्षण संस्थाएँ बड़े पैमाने पर खोली गयीं, जिनमें आर्थिक सहायता देकर बड़े-बड़े दलालों, प्रतिक्रियावादी और अंग्रेज़ों के वफ़ादार राजे-रजवाड़ों और सेठ-साहूकारों और तरह-तरह के राजभक्तों ने दानवीरता और देश सेवा के लिए प्रशस्ति पायी। एक नयी तरह की ज्ञान परंपरा की नींव पड़ी, जिसमें ब्रिटिश तथा जर्मन प्राच्यविदों, संस्कृतज्ञों और उपयोगितावादियों की धारणाओं को बिना विचारे भारतीयता की मूल परिभाषा का हिस्सा बना लिया गया।

यह सब 1857 के उद्देश्यों और लोक आकांक्षाओं के विपरीत ही गया। बुद्धिजीवी वर्ग ने राष्ट्रीय इतिहास की रचना और व्याख्या इस तरह की कि 1857 के अवामी पक्ष और लोकप्रिय विमर्श पर या तो पर्दा डाल दिया गया या उसे तिरसकारपूर्ण तरीक़े से एक कोने में खिसका दिया गया। 1920 के दशक में भगत सिंह जैसे कम्युनिस्ट वामपंथियों और क्रांतिकारियों ने 1857 के सशस्त्र प्रतिरोध और सांप्रदायिक एकता की परंपरा को उसी संपूर्णता में पुनर्जीवित किया। इसी दौर से 1857 की लड़ाई को मध्यवर्ग के बीच भी वास्तविक सम्मान मिलना शुरू हुआ।

यह कोई आकस्मिक हृदय-परिवर्तन या प्रबोधन नहीं था। 1917 की रूसी

क्रांति की ख़बर एक ताक़तवर लहर की तरह भारत भर में फ़ैली। अवाम और बुद्धजीवि दोनों ने देखा कि निहायत पिछड़े हुए योरोपीय देश में किसानों, मजदूरों और सैनिकों ने मिलकर हुकूमत का न सिर्फ़ तख़्ता पलट दिया, बल्कि एक नया निज़ाम स्थापित किया जिसके तहत सदियों से चली आ रही सामंती और पूंजीवादी उत्पीड़न की स्वायत्तों को समूल उखाड़ कर फेंक दिया गया और यह भी देखा कि इतिहास के वास्तविक निर्माता वही अवाम हैं जिन्हें बुद्धजीवी ज़लील, पिछड़ा और शक्तिहीन मानते आये थे; कि दुनिया किसान और मज़दूर और सिपाही और शूद्र और आदिवासी के बग़ैर नहीं बदली जा सकती, कि जनता से बचकर न साम्राज्यवाद से आज़ादी संभव है, न आधुनिक भारत का निर्माण। ये काम सिर्फ़ बाबू साहबों के बल पर नहीं हो सकते। यह महज़ इत्तिफ़ाक़ नहीं है कि इसी दौर में अनेक जगहों पर किसान आंदोलन शुरू हुए और मज़दूर आंदोलन का भी आधार मज़बूत हुआ। इन बातों को आज 2007 में याद करने की जितनी ज़रूरत है उतनी शायद पहले कभी न थी। 1857 में सामराजी गुलामी के दौरान भारतीय किसान जिस

भयंकर संकट का सामना कर रहे थे—जिसने उन्हें खुलकर बग़ावत में कूदने और सत्तावन की लड़ाई को एक महान संग्राम का रूप देने के लिए प्रेरित किया-लगभग उसी पैमाने पर तीव्रता का संकट आज फिर दरपेश है। न सिर्फ़ अमरीकी साम्राज्यवाद पूरी दुनिया पर क़ाबिज़ होने के लिए जगह-जगह अभूतपूर्व ख़ूरेज़ी कर रहा है, बल्कि अमरीकी नेतृत्व में तथाकथित विकसित देशों का गठजोड़ तीसरी दुनिया की कृषि पर हमलावर है। तीसरी दुनिया की खेती पर यह हमला तथाकथित वैश्वीकरण की शक्तियों द्वारा तीसरी दुनिया की जनता पर हमला है और इसका मुख्य निशाना भारत जैसे देश का किसान, उसकी ज़मीन और उसके निर्णय का अधिकार है। तीसरी दुनिया के बौद्धिकों, ख़ासकर हिंदुस्तानी बुद्धिजीवियों के सामने फिर ऐसा मोड़ है कि वे अपनी अतंरात्मा में झांकें और देखें कि वे इस चुनौती का मुक़ाबला कैसे करें।

संपर्क : सी-6, पथ सं.-5,
आर. ब्लॉक, पटना-1

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की जन्म-तिथि
5 सितंबर को शिक्षक दिवस के अवसर पर

शिक्षकों के लिए आवश्यक सूत्र

T - Trained – शिक्षक को ट्रेंड होना चाहिए।
E- Educated – एडुकेटेड—पढ़ा लिखा होना चाहिए।
A - Artist – आर्टिस्ट— कलाकार के रूप में अर्थात् शिक्षक को पढ़ाने की कला वैसी चाहिए जिससे विद्यार्थी का ध्यान शिक्षक के प्रति हो जाए।
C - Charactor – कैरेक्टर— चरित्र। शिक्षक का चरित्र अच्छा होना चाहिए।
H - Honesty – ऑनेस्टी— ईमानदार। शिक्षक को ईमानदार होना चाहिए।
E - Eager – इगर— उत्सुक। शिक्षक जो पाठ पढ़ाने जा रहे हैं उसमें उन्हें अच्छी तैयारी कर जाना चाहिए। यदि नहीं जानतें हों तो जानने की जिज्ञासा होनी चाहिए।
R - Regularity – रेगुलरीटी अर्थात शिक्षक को पंक्चुअल होना चाहिए। समय पर विद्यालय जाकर अपना पाठ पढ़ाना चाहिए।

शुभकामनाओं सहित

स्वामी विवेकानन्द सेवाश्रम
मीठापुर बी एरिया, पटना-1

राम नारायण प्रसाद सिंह
सचिव, स्वामी विवेकानन्द सेवाश्रम,
मीठापुर 'बी' एरिया, पटना-1
फो. : 0612-2222957
मो. : 9430605335

सन् सत्तावन की क्रांति में पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका

डॉ. धर्मेंद्रनाथ 'अमन'

देशी अखबार ख़बरें पहुँचाने की आड़ में देशी लोगों में बहुत दीदादिलेरी से विद्रोह की भावनाएँ भड़का रहे हैं। यह कार्य अत्यंत तत्परता और चालाकी के साथ किया गया है। कभी-कभी अँग्रेज़ी अख़बार के जो समाचार अहानिकारक दिखाई देते हैं जब उनका अनुवाद देशी पत्रों में छापा जाता है वह खतरनाक किस्म का होता है।

—लार्ड कैनिंग*[1]

पत्र-पत्रिकाएँ सामाजिक चेतना के अग्रदूत होते हैं। उनसे जन साधारण का मानसिक पोषण होता है। यह ग़लत बातों के आलोचक और सही बातों के प्रशंसक होते हैं। किसी व्यक्ति, समूह, वर्ग अथवा सरकार के अनुचित कार्यों की कड़ी निंदा करते हैं तथा पीड़ितों के वृत्तांत समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। ये प्रहरी भी हैं और प्रवक्ता थी। प्रगति की दिशा निर्धारक के रूप में यह जन चेतना को दिशा-बोध कराते हैं। समय की नाड़ी पहचानने वाले अख़बार पत्रिकाएँ समाज की भावनाओं और माँगों की अभिव्यक्ति करते हैं। क्रांति की पृष्ठ-भूमि तैयार करने में इनकी विशेष भूमिका होती है।

सन् 1857 ई० में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध जो जन-क्रांति हुई उस संघर्ष के लिए वातावरण तैयार करने में भारतीय प्रेस की विशेष भूमिका रही। इस बात को ब्रिटिश शासकों ने की स्वीकारा है। आर.जे. लौग ने सन् 1859 ई० में ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स में जो रिर्पोट प्रस्तुत की थी उसमें स्पष्ट शब्दों में कहा है देशी प्रेस को साधारणतया 'सुरक्षाप्रनलि'(Safety Valve) कहा जासकता है जो ख़तरे की चेतावनी देता है। यदि यूरोपीय शासकों ने जनवरी 1857 में दिल्ली के देशी अख़बारों की ओर ध्यान दिया होता तो उन्हें यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता कि भारतवासी किस हद् तक विद्रोह के लिए कमर कस चुके थे और उन्हें ईरान तथा रूस सहायता मिलने की भी आशा थी।

उस समय का पत्र-पत्रिकाओं के संबंध में उपलब्ध तथ्यों से भारतीय पत्रकारिता के इतिहासकार जे. नटराजन का यह विचार ग़लत सिद्ध हो जाता है कि 'हम कह नहीं सकते कि इस विद्रोह में हिंदुस्तानी समाचार पत्रों की थोड़ी सी भी भूमिका रही हो।'

आज जो जानकारी मौजूद है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय की पत्र-पत्रिकाओं ने अपने पाठकों को न केवल सामाजिक घटनाओं के बारे में ही बताया, बल्कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चेहरे से नक़ाब हटाकर उसका असली और घृणित रूप पाठकों को दिखलाया उस समय पत्र-पत्रिकाओं के ग्राहक कम होते थे, परंतु प्रभाव क्षेत्र बहुत विस्तृत होता था। एक ख़रीदता था, इसे पढ़ते थे, बीस सुनते थे और बात सैंकड़ों में फैल जाती थी। धरों, बाज़ारों, धर्मस्थानों, राजदरबारों तक ख़बर पहुँच जाती थी।

यूरोपीय शासकों के साथ छापा ख़ाना भारत में पहुँचा। सन् 1550 में पुर्तगालियों (पादरियों ने धर्म प्रचार के उद्दश्य से) ने गोवा में दो छापे ख़ाने स्थापित किये। एक पुर्तगाली ने तमिल और मलियाली लिपिका टाइप तैयार किया। भारत में सन् 1557 में पहली पुस्तक मलियाली में छापी गई। हिंदुओं ने भी अपनी पुस्तकें छापने का निश्चय किया। सन् 1762 में काठियाबाड़ निवासी भीमजी पारिख ने इंग्लैंड से मुद्रण विशेषज्ञ हेनरी बोल्स को बुलाकर मुद्रण कार्य आरम्भ किया। सन् 1772 में मद्रास में और सन् 1779 ई० में कलकत्ता में सरकारी प्रेस स्थापित हुआ। दक्षिण भारत के कई नागरों में छापाख़ाने स्थापित हो चुके थे। ये मुद्रणालय देशी भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित कर रहे थे। धीरे-धीरे मुद्रण की तकनीक उत्तरी भारत में भी फैलने लगी। कलकत्ता सरकारी प्रेस के अधिकारी विलकिन्स ने जो टाइप ढालने में दक्ष थे फ़ारसी लिपि कर टाइप बनाया तथा यह कार्य उन्होंने पंचानन को सिखाया जिसने

नागरी टाइप बनाया। इस फ़ासी और नागरी टाइप का प्रयोग 18वीं शताब्दी के अंतिम दशक और 19वीं शति के प्रारंभिक दशक में हुआ था।

अब तक प्राप्त जानकारी के अनुसार भारत में अँग्रेज़ी पत्रकारिता का आरंभ 29 जनवरी 1780 में हुआ जब जेन्स आगस्ट हिकी थे 'हिकनीज़ बंगाल गज़ट ऑफ़ जनरल एडवर्टाइज़र्स' प्रकाशित करना शुरू किया। भारत में पत्रकारिता के इस जनक ने घोषणा की थी। मेरे इस साप्ताहिक पत्र के स्तंभ यद्यपि समस्त राजनीतिक और व्यावसायिक वर्गों और मत-मतांतरों के लिए खुले रहेंगे, तथापि वे किसी के भी प्रभाव और दबाव से मुक्त रहेंगे। लेकिन उसे सरकार के विरूद्ध आवाज़ उठाने की सज़ा भुगतनी पड़ी। पत्र के प्रकाशन के दो वर्ष पश्चात् ही उसे बंदी बनाया गया उसके अख़बार को ज़ब्त कर लिया गया। सन् 1785 में 'दि एशियाटिक भिस्लेनी' त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ लगभग उसी समय साप्ताहिक समाचार पत्र 'दि कलकत्ता गज़ट' भी जारी हुआ जो 1815 में 'गवर्नमेंट गज़र' बन गया लेकिन 7 वर्ष बाद ही इसका अख़बारी रूप समाप्त हो गया। सन् 1780 में मद्रास और 1789 में बंबई से अँग्रेज़ी समाचार पत्र छपने शुरू हुए। बंगाल का प्रथम उदारवादी पत्र था 'बंगाल गज़ट' जिसका प्रकाशन सन् 1816 में राजा राम मोहन राय की 'आत्मीय सभा' के कुछ उत्साही सदस्यों ने किया था। देशी भाषा में छपने वाला प्रथम पत्र 'दिग्दर्शन' था जिसका प्रकाशन 23 मई 1818 को हुआ था यह ऐसे समाचार पत्र था जिसे प्रथम देशी भाषा पत्र बंगला में हरूचन्द्र राय ने निकाला रामपुर के ईसाई पादरियों ने धर्म प्रचार के लिए निकाला था। क्रिश्चियन मिशन ने अँग्रेज़ी में 'फ्रेंड आफ़ इण्डिया' नामक एक पत्र जारी किया। इसी वर्ष गंगाधर भट्टाचार्य ये 'बंगाल समाचार' का प्रकाशन शुरू किया। बंगाल में एक उदारवादी पत्र 'केलकटा जर्नल' जेम्स सिल्क बकिंघम ने अक्टूबर सन् 1818 में शुरू किया। सन् 1821 में ताराचंद्र दंत और भवानी चरण बंधोपाध्याय ने बंगाल

भाषा में साप्ताहिक पत्र 'संवाद कौमुदी' निकाला लेकिन दिसंबर 1821 में भवानी चरण ने संपादक पद से त्याग पत्र दे दिया तो उसका भार राजा राम मोहन राय ने संभाला। अप्रैल 1822 में राजा राममोहन राय ने फ़ारस में एक साप्ताहिक अख़बार 'मिरात-उल-अख़बार' नाम से शुरू किया जो भारत में पहला फ़ारसी अख़बार था। साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार को राजा राममोहन राय के धार्मिक विचार और इंग्लैड की आयलैंड विरोधी निति को आलोचना पसंद नहीं आई। परिणाय स्वरूप सरकार ने प्रेस की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने के लिए अध्यादेश जारी किया गया जिसके विरोध में राजा राममोहन राय ने मिरात-उल-अख़बार का प्रकाशन बंद कर दिया।

पत्रकारिता की यह मानूसन जो बंगाल की खाड़ी से शुरू हुई उसने केवल बंगाल को ही नहीं, भारत के अन्य भागों में वर्षा की। सन् 1822 में फ़र्दूं जी मर्ज़बान ने 'बांबे समाचार' शुरू किया। सन् 1823 में कलकत्ते से समाचार अँग्रेज़ी, व बंगाली, ओर एक फ़ारसी अख़बार छपता था। कलकत्ते से ही हिंदी का प्रथम समाचार पत्र 'उदंत मार्तण्ड' 30 मई 1826 में आरंभ हुआ यद्यपि यह पत्र केवल 1 वर्ष 7 महीने ही चल सका (अंतिम अंक 11-12-1827 को निकला) लेकिन यह हिंदी पत्रकारिता में मील का पत्थर है। सन् 1813 में कलकत्ते से ही हरिदत के प्रार्थना पत्र पर इजाज़तनामा मिला। मुंशी सदासुख और मनीराम ठाकुर के संपादन में जाते-जहाँ नुमा अख़बार निकला। इसी वर्ष (जामे-जहाँ नुमा के प्रकाशन के 15 दिन पश्चात् राजा राम मोहन राय, द्वारका नाथ टैगोर ने बंगदूत (अख़बार शुरू किया जिसके संपादक ये नील रतन हलधर) 30-7-1829 को राजा राम मोहन राय इस पत्र से अलग हो गए।

सन् 1833 में आकाश से वाजिद अली ख़ाँ का अख़बार 'जुब्दातुल अख़बार' प्रकाशित हुआ जो न केवल अँग्रेज़ी शासन, बल्कि पाश्चात्य जीवन शैली के ख़िलाफ़ था और सरकार की आलोचना करता था। जून 1833 में 'माहे-आलम अफ़रोज़' जारी हुआ। यह भी सरकार का विरोधी था 1834 में प्रजा मित्र नामक अख़बार निकला कलकत्ते से ही 2 अगस्त 1835 को 'सुलतान-उल-अख़बार जारी हुआ। इसके संपादक रजब अली हुसैनी लखनवी थे जिनकी बेलाग-लपेट के खरी और निर्भीक आलोचना लोगों में राष्ट्रीय गौरव की भावना और सरकार के प्रति विरोध का अहसास फैला रही थी। यह पत्र अँग्रेज़ी अख़बारों की घटिया रिर्पोटिंग और गिरी हुई भाषा का कड़ा जवाब देता था। इसके पहले ही अंक में बंगाल में एक अँग्रेज़ व्यापारी द्वारा एक हिंदू लड़की के बालात्कार और अदालत के पक्षपातपूर्ण रवैए को ख़बरों में प्रस्तुत किया गया था। नवाब रांसउद्दीन ख़ाँ (लुहारू के नवाब) की फांसी का समाचार इस पत्र के 11 अक्टूबर 1835 के अंक में बहुत प्रमुख ठंग और कड़ी टिप्पणी के साथ दिया गया था। उन गवाहों और जासूसों को पुरस्कार और सम्मान दिये जाने का पर्दाफ़ाश किया था तथा कटु आलोचना भी की थी।

1826 से 1856 तक हिंदी पत्रकारिता के प्रयोग-काल में समाजोन्मुखी पत्रकारिता का आरंभ हुआ। सन् 1857 की आज़ादी की लड़ाई की पृष्ठभूमि में हिंदी पत्र- पत्रिकाओं का विशेष योगदान रहा है। इस विस्फोट ने सदियों से सोई भारतीय चेतना में नव जागरण का संचार किया। सन् 1857 से पहले अँग्रेज़ों द्वारा संचालित अँग्रेज़ी पत्र और भारतीयों के अँग्रेज़ों तथा देशी पत्रों में दूरी बहुत कम थी लेकिन इस घटना के पश्चात् भारतीयों के पत्र सरकार के विरूद्ध बोले तथा आंदोलनकारियों के प्रति सहानुभूति दिखाने लगे जबकि अँग्रेज़ों के पत्र सरकार से मिलकर सरकार की दमन नीति का समर्थन करने लगे। दिल्ली भारत की परंपरागत राजधानी ही नहीं थी, अपितु उर्दू भाषा का केंद्र थी। यहाँ सैयद औलाद अली के संपादन में 'सिराज-उल-अख़बार प्रकाशित हुआ जो बहादुरशाह 'ज़फ़र' के दरबार का रोज़नामचा था इसमें दिल्ली के मुग़लिया दरबार और लाल किले संबंधी समाचार छपते थे। यह पत्र शुरू में उर्दू और फ़ारसी में प्रकाशित होना था, परंतु 1857 की जंग शुरू होने के पश्चात् इसका उर्दू प्रकाशन बंद कर दिया गया। इसके अतिरिक्त दिल्ली से 'सादिक-उल-अख़बार', करीय-उल-अख़बार वहीद-उल- अख़बार, जिया-उल-अख़बार अख़बारे-देहली, खुलासा-तुल-अतराफ़ तथा भिज़ाई, मोहंम जी, किरान उस-साज़देन, पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही थी *21

जिन देशी और क़लमी अख़बारों ने विद्रोह की आग को भड़काने में सहायता की उनमें फ़ारसी के अख़बार दरबारे-मुअल्ला, अख़बारे-दारूल ख़िलाफ़ा शाहजहानाबाद, अख़बार लश्कर हैदरी ख़ाँ, अख़बार गुलाम क़ादिर ख़ाँ, अख़बार डयोढ़ी आसफ़-उद्दोला (लखनऊ), अख़बार डयोढ़ी सआदत अली ख़ाँ और अख़बार लखवा जी उल्लेखनीय हैं। लखनऊ ने मुद्रण और पत्रकारिता के क्षेत्र महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। नसीर उद्दीन हैदर बादशाह ने लखनऊ में पहला प्रेस लगवाया था। सन् 1850 ई० में यहाँ 13 छापाख़ाने में थे।

देहली से ही सन् 1844 से 1856 तक सादिक-उल-अख़बार के नाम से कई अख़बार निकले जिसमें सैयद जमील-उद्दीन ख़ाँ 'हिज्र' द्वारा संपादित तथा 1856 में गौरव खुदा बख़्श संपादित यह अख़बार बहुत मशहूर थे।

25 जुलाई 1856 को लखनऊ के याक़ूब अन्सारी फ़रंगी महली ने तिलिस्में-सामरी अख़बार निकाला यह बहादुर शाह ज़फ़र के समर्थक थे। अँग्रेज़ी शासन का विरोध करने वाले अन्य अख़बार थे 'अहसन-उल-अख़बार' 'सिराज-उल-अख़बार', 'आईना-ए-सिकन्दर', 'दूरबीन' आदि। गुलराने नौबहा इनमें सबसे आगे था इसके सम्पादक अब्दुल क़दीर की निडर लेखनी से जो व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं उसको आफार बनाकर गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने इस पत्र का इजाज़तनामा रद्द कर दिया और प्रेस का सब सामान भी ज़ब्त कर लिया गया था। 'गुल्राने-नौबहार' की तरह अन्य फ़ारस और देशी भाषाई पत्रों के साथ सरकार कड़ाई से पेश आई।

सन् 1850 में लाहौर से 'कोहे-नूर' समाचार पत्र प्रकाशित हुआ। इसी वर्ज़ गुजराँवाला से 'गुलज़ारे-पंजाब' और सियालकोट से खुर्शीद-आलम' जारी हुए। पंजाब में समाचारपत्रों पर सेंसर लागू कर दिया गया। मुल्तान के देशी समाचारपत्रों का प्रकाशन रोक दिया गया। सियालकोट के पत्र 'चश्मा-ए-फैजद्व' के संपादक को आज्ञा दी गई कि वह अपने पत्र को लाहौर स्थानांतरित करे जबकि लाहौर में दो पत्र पहले ही छपते थे। इस पत्र पर सरकार की कड़ी नज़र थी। पेशावर के

अख़बार 'मुर्तज़ाई के संपादक को कैद् करके उनका अख़बार बंद कर दिया गया।[30]

अज़ीम उल्लाह ने ब्रिटिश सरकार का विरोध किया। उसने 'पयामे-आज़ादी' नामक पत्र निकाला जिसके संपादक बहादुरशाह ज़फ़र के धेवते प्रिंस बेदार बख्त् थे। यह पत्र साप्ताहिक था इसका प्रकाशन उर्दू, हिन्दी में दिल्ली और मराठी में झांसी से होता था। अँग्रेज़ इस अखबार से इतने नाराज़ थे कि दिल्ली के पतन के साथ ही जो नगर में क़त्ले'आम हुआ उसमें मिर्ज़ा बेदारबख्त् की धार्मिक भावना को ठेस पहुँचाने के लिए इनके शरीर पर सूअर की चर्बी मली गई फिर गोली मार दी गई थी। जिस परिवार में इस समाचार पत्र की एक थी प्रति मिल जाती थी उसे गोली मार दी जाती थी।

सन् 1837 से मिर्ज़ापुर (बनारस) से ख़ैर ख्वाहे-हिन्द और देहली से सैयद-उल-अख़बार तथा नूर मश्रिकी प्रकाशित हो रहे थे। दिल्ली के यूरोपीय वासियों का मनपसंद अखबार था 'दिल्ली गज़ट' दिल्ली से उस समय एक दर्जन से भी अधिक अखबार छपते थे जिनमें सब से अधिक लोकप्रिय अखबार था मौलबी मोहम्मद बाकिर हुसैन का 'देहली उर्दू अख़बार' जो नवाब शम्स-उद्दीन ख़ाँ (लुहास राज्य के शासक) की फांसी के पश्चात् प्रतिक्रिया स्वरुप अन्य स्थानीय अख़बारों के साथ शुरु हुआ। दिल्ली में लिथोग्राफी प्रेस 1837 में स्थापित हुआ उसके बाद से ही उर्दू समाचार पत्रों का जन्म हुआ। इनकी भाषा जनता की समझ में आती थी इसीलिए जन आक्रोश की आग और तेज़ी से भड़की।

यह अखबार 28 फरवरी 1837 को देहली अख़बार के नाम से शुरु हुआ और 3 मई 1840 तक उसी नाम से प्रकाशित हुआ तत्पश्चात् नाम में थोड़ा परिवर्तन करके इसका नाम 'देहली उर्दू अखबार' रख दिया गया। इस पत्र में दो दुनियाओं की फलक थी एक डूबती हुई दूसरी उभरती हुई जुलाई 1857 में बहादुर शाह ज़फ़र की इच्छानुसार 'अक्षबार-उल-ज़फ़र' रख दिया गया। 20 सितंबर 1857 को दिल्ली पर अँग्रेजों का पुन: कब्ज़ा हो जाने के बाद मौलाना बाकिर को गोली मार दी गई और उनके पुत्र मौलाना मोहम्मद हुसै 'आज़ाद' के नाम गिरफ्तारी का वारंट जारी कर दिया गया। इस प्रकार अख़बार-उल-ज़फ़र पराजय की गर्द में स्मृति का हिस्सा बन गया। मौलाना बाकिर ने ही एक और अखबार मज़हरुल-हक़ निकाला था जो मुसलमान धर्म के शिया संप्रदाय की भावनाओं और विचारों को व्यक्त करता था। यह अखबार 1848 में बंद हो गया था।

भारत में पत्रकारिता का उदय ब्रिटिश शासन की 'प्रशंसा' या 'समर्थन' के लिए नहीं हुआ था, न ये जनता को सरकार का ख़ैरख़्वाह बनाने के लिए हर उचित या अनुचित सरकारी कार्य की हाँ में हाँ मिलायें। वास्तव में भारत में पत्रकारिता का स्वरूप ही विद्रोहात्मक था। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले पहले पत्र 'हेकीज़ बंगाल गज़ट' को दो वर्ज़ बाद इसके प्रेस को ज़ब्ज कर लिया गया और संपादक जेम्स ऑगस्टस हेकनीज़ को कैद कर लिया गया। अठ्ठारहवी सदी में सब पत्र अँग्रेज़ी भाषा में छपते थे, लेकिन इन समाचार पत्रों के अँग्रेज संपादक ईस्ट इण्डिया कंपनी की नीति और कार्यों के ज़बर्दस्त आलोचक थे। 1794 में सर जॉन शोर ने तो कह ही दिया था 'कलकत्ता के अखबारों ने जो रवैया अख्तियार कर रखा है उसका जारी रहना बहुत ख़तरनाक होगा। पाँच वर्ष बाद वेल्ज़ली ने भी घोषणा की कि मैं बहुत जल्द संपादकों के पूरे वर्ग के लिए एक कानून बनाने वाला हूँ। वेल्ज़ली के बनाये कानून के अनुसार जब तक कोई अफ़सर पत्र का मुआईना न करके उस समय तक देश के एक भी समाचार पत्र का प्रकाशन नहीं हो सकता। इस कानून तोड़ने वाले अँग्रेज़ संपादक को इंग्लैंड भेज दिया जाता था। इस क़ानून के साथ ही कलकत्ते में एक सेंसर विभाग स्थापित कर दिया गया। कंपनी के वित्तीय मामलों संबंधी समाचारों को प्रकाशित करने पर प्रतिबंध लगा दिया। इसी प्रकार जहाज़ों के आने-जाने, कंपनी की राजनीतिक गतिविधियों और अधिकारियों के प्रशासन संबंधी मामलों की ख़बरें छापना क़ानून के विरुद्ध घोषित कर दिया गया। सन् 1801 में कलकत्ते से 'गवर्न्मेंट गज़ट' जारी करने का उद्देश्य उन अख़बारों के प्रभाव को कम करना था जो कानून और सेंसर की पाबंदियों को नहीं मानते। सन् 1811 में अख़बारों पर और अधिक पाबंदियाँ लगा दी गईं। लार्ड हेस्टिंगज़ के समय में अखबारों को कुछ श्वांस लेने का अवसर मिला सेंसर का विभाग समाप्त कर दिया गया। 1823 में जो प्रेस क़ानून बनाया गया उसके तहत सरकार से लाइसेंस प्राप्त किये बिना कोई व्यक्ति अख़बार, किताब, इश्तिहार नहीं छाप सकता। छापाखाना लगाने के लिए भी सरकार से लाइसेंस प्राप्त करना आवश्यक था। राजा राम मोहन राय ने उच्च न्यायालय में अपील की। लेकिन फ़ैसला उनके विरुद्ध हुआ तो प्रोटेस्ट उन्होंने अपना अख़बार बंद कर दिया। सन् 1825 में एक नये क़ानून के अनुसार सरकारी कर्मचारियों को समाचार पत्रों के सम्पादन और स्वामित्व से अलग रहने को कहा गया। सर चार्ल्स मटकाफ़ गवर्नर जनरल को अपने पद से हटना पड़ा क्योंकि प्रेस की स्वतंत्रता उसका अक्षम्य अपराध था सरकारी कर्मचारियों को अख़बार के संपादक या स्वामित्व की ज़िम्मेदारी उठाने की इजाज़त मिल गई। सन् 1857 में अखबारों पर पाबंदियाँ लगादी गईं 1857 की जंगे-आज़ादी शुरु होने से पहले ही अँग्रेज़ों को इसकी आहट सुनाई देने लगी थी। अँग्रेज इतिहासकार मारग्रीय बार्न्स ने अपनी कृति दि इण्डियन प्रेस-विद्रोह और उसके पश्चात्' में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि कल्मी अखबार बहुत उत्तेजना भड़का रहे है इनका क्षेत्र की बहुत विस्तृत है लेकिन यह अखबार जब तक सरकार के नियंत्रण से बाहर रहे जबतक इनपर पाबंदी लगाने के लिए प्रेस एक्ट लागू नहीं हुआ।

सेना के कुछ अफ़सरों द्वारा एक भारतीय स्त्री का खून हो गया। वध करने वाले ने बयान दिया यह 'बे इरादा' हुआ है और मजिस्ट्रेट ने अपराधी का इसी आधार पर छोड़ दिया।

सन् सत्तावन की जंगे-आज़ादी शुरु होने के पश्चात् भी इन पत्रकारों ने मशाल जलाए रखी और क्रांतिकारियों की स्वतंत्रता युद्ध में योगदान की भरपूर प्रशंसा की। क्रांतिकारियों की पराजय के उपरान्त इन लोगों के साथ सरकार ने क्या-क्या किया सोचकर भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। आज इन लोगों की दास्तानें अभिलेखागारों के बस्तों में दब पड़ी हैं। स्वतंत्र भारत में इन जियाले सरस्वती-पुत्रों के कारनामों को विस्तृत नहीं होने देना चाहिये। इन्होंने आंधियों में स्वतंत्रता के चिराग़ को जलाए रखा।

संपर्क : बी- 139, मयूर बिहार
फेज- II दिल्ली-91
फोन-011-22779740

लोक-चेतना में अठारह सौ सत्तावन

—खगेन्द्र ठाकुर

खुदाबख़्श खां लाइब्रेरी के जर्नल से खगेन्द्र ठाकुर ने ऐसे लोकगीतों के उद्धरण दिये हैं, जिनकी चर्चा आम तौर पर हिंदी में नहीं होती। इस दृष्टि से इस आलेख का विशिष्ट महत्त्व है। —सं.

सन् 1857 की लड़ाई को दबा कर विजयी अँग्रेज़ ज़्यादा मजबूती से सत्ता पर काबिज हो गये। मजबूती का एक कारण यह भी था कि कंपनी का शासन समाप्त करके इंग्लैंड की राजसत्ता ने भारत को अपने अधीन कर लिया। हिंदी साहित्य में आधुनिकता के प्रवर्तक भारतेंदु ने लिखा:

कठिन सिपाही द्रोह अनल जन जन बल नासी।
जा भय सिर न व्याप सकत कहुं भारत वासी।।

भारतीय समाज और राजनीति में जब से दलितवाद और पिछड़ा वर्गवाद की भूमिका ज़्यादा प्रभावशाली हो गयी है, वे राजसत्ता पर भी पहुंच रहे हैं, तबक से अपने प्रभाव को स्थायी बनाने के लिए इन वर्गों से आये विद्वान और बुद्धिजीवी दलितवादी और पिछड़ा वर्गवादी राजनीतिक स्वार्थ से प्रेरित होकर भारतीय इतिहास का पुनर्लेखन करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस स्वार्थ का शिकार 1857 का स्वतंत्रता संग्राम भी हो रहा है। लेकिन अभी मैं उनके खंडन-मंडलन की ओर नहीं जा रहा हूँ। यहाँ मैं उनसे इस बात पर गौर कने का आग्रह कर रहा हूँ कि भारतेंदु ब्राह्मण नहीं थे, वैश्य थे और अँग्रेज़ों का साथ देने वाले सेठ अमीचंद के खानदान की पांचवीं पीढ़ी में हुए थे। वैश्य थे और अँग्रेज़ों का साथ देने वाले सेठ अमीचन्द्र के खानदान की पांचवीं पीढ़ी में हुए थे। भारतेंदु इस बात के लिए शर्मिंदा थे, तभी तो वे कलकत्ता छोड़ कर बनारस आ बसे थे। कलकत्ता के समाज में उसकी प्रतिष्ठा वापस की। 1857 की लड़ाई के समय भारतेंदु सात-आठ वर्ष के थे। उनकी स्मृति में वह संघर्ष था और उनके रूपों में लेखन में उतरा है। जो पद उद्धृत है, उसमें कई बातें ध्यान देने लायक हैं। एक तो यह कि सिपाही-द्रोह (या विद्रोह) की आग बड़ी कठिन थीं उसका इतनी कठोरता और निर्ममता से दमन किया गया कि भारतेंदु को लगा कि जन-बल नष्ट हो गया। यहां 'जन-बल' ध्यान देने योग्य है। भारतेन्दु यह बता रहे हैं कि उस 'द्रोह' में 'जन-बल' का उपयोग किया गया था। मुझे लगता है कि हिंदी-कविता में 'जन-बल' का प्रयोग पहल बार हुआ है, तो भारतेंदु की कल्पना नहीं, यथार्थ-बोध का इजहार है।

दूसरी बात ध्यान देने लायक है 'भारतवासी' का इस्तेमाल। यह भी मेरे जानते हिंदी-कविता में पहली बार आया है। भारतवासी सिर उठाना चाह रहे हैं, लेकिन दमन के भय से वे साहस नहीं कर रहे। लेकिन मैं कहना चाहता हूँ कि भारत की जनता को भारतेंदु जातियों के टुकड़ों में नहीं, भारतवासी के रूप में रूप में देख रहे हैं, वह भी 1857 के प्रसंग में और अंग्रेज़ी सत्ता के खिलाफ। अन्यत्र भी भारतेंदु ने 'भारत दुर्दशा' और 'भारत भाई' का जिक्र किया है।

आबहु रोबहु सब मिलि भारत-भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखि जाई।।

इसमें व्यक्त पीड़ा और बेचैनी नयी राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति है। भारतेंदु वास्तव में 'भारत के इंदु', थे 'वैश्य कुल शिरोमणि' नहीं, उनके सामने ऐसी जातीय लाचारी नहीं थी। भारतेंदु से पहले भारतभाई के रूप में देशभक्त जनता का आह्वान कविता में नहीं मिलता है।

1857 को दबा देने के बाद दंभ के साथ एक अँग्रेज़ अधिकारी ने उस संघर्ष के नायम बहादुर शाह ज़फ़र को एक शेर लिख भेजा था—

दमदमे में दम नहीं खैर मांगो जान की।
ऐ ज़फ़र ठंडी पड़ी अब तेग हिंदुस्तान की।

उसने समझा था कि अब हिंदुस्तान की जनता कभी ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ नहीं उठेगी। ब्रिटिश इतिहासकार जॉन स्ट्राची ने भी इसी दंभ के साथ कहा था कि अब भारत एक राष्ट्र के रूप में उठ कर खड़ा नहीं हो सकेगा। 'भारतवासी' को बांटने और तोड़ने की जो साजिशें अँग्रेज़ों ने कीं उन्हीं के आधार पर स्ट्राची ने उपर्युक्त घोषणा की थी। लेकिन इससे यह तो स्पष्ट है कि उन्होंने 1857 के विद्रोह को राष्ट्रीय संघर्ष ही माना था। यदि वह संघर्ष विजयी होता, तो अँग्रेज़ी सत्ता समाप्त हो गयी होती और भारत के समाज और राजनीति का स्वरूप सर्वथा भिन्न हुआ होता। ज़फ़र ने अँग्रेज़ अधिकारी के शेर का जवाब इस तरह दिया था—

गाजियों में बू रहेगील जब तलक ईमान की,
तख्ते लंदन तक चलेगी तेग हिंदुस्तान की।

1908 में जब लंदन में 1857 की विजय की पचासवीं सालगिरहा मनायी जा रही थी, भारतीय क्रांतिकारी मदन लाल धींगरा ने हॉल में गोली चला कर ज़फ़र के कथन को सार्थक किया।

1857 के विद्रोह के कारण क्या थे, उसके नेता कौन थे, उसका सामाजिक आधार क्या था, आदि प्रश्नों पर लगातार अनुसंधान हो सकते हैं, होने चाहिए, लेकिन इक्कीसवीं सदी में, संसदीय जनतंत्र के दौर में, वैज्ञानिक तकनीकी क्रांति की महान् उपलब्धियों की रोशनी में, डॉ. अंबेडकर की अध्यक्षता में तैयार किये गये संविधान के प्रचलन के दौर में, भारतीय राजनीति और उत्पादन व्यवस्था एवं बाजार तंत्र पर पिछड़ी हुई सामाजिक शक्तियों का प्रभुत्व कायम हो जाने के बावजूद इतिहास और समाज विकास को इस तरह देखना जैसे यह पुष्यमित्र और मनुस्मृति के प्रभुत्व का जमाना हो, अत्यंत दुखद और आश्चर्यजनक है। यह संभव है कि अभी बहुत-सी बातें बहुतों को नहीं मालूम हैं, लेकिन इससे 1857 के संघर्ष का चरित्र नहीं बदल जाता। वह संघर्ष बेशक अंग्रेज़ी सत्ता को भारत में समाप्त कर देने के लिए था। देश के सामंत और रजवाड़े अँग्रेज़ी सत्ता के पक्ष में थे, झांसी की रानी, तात्या टोपे, नाना साहब और कुंवर सिंह तथा राणा माधव सिंह जैसे कुछ और लोगों को छोड़ कर। इनके बारे में भी यह बात है कि उनकी रियासत छीन ली गयी थी, इसलिए वे अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ थे और किसी दबाव के कारण वे लड़ाई में शामिल हुए । रामशरण जोशी ने एक लेख में लिखा है कि एक मात्र कुंवर सिंह अपनी मर्जी से लड़ाई में कूदे। लेकिन मैं बताना चाहता हूँ कि उन्हीं दिनों गया जिले में किसानों का संघर्ष छिड़ गया था और किसानों का एक बड़ा जत्था कुंवर सिंह से जाकर

मिला और लड़ाई में उनकी अगुआई करने का आग्रह किया। लेकिन वे तैयार नहीं हो रहे थे, फिर किसानों के दबाव और अपने भाई अमर सिंह के कहने पर राजी हुए। अभी मैं इस संबंध में दस्तावेज़ी सबूत नहीं दे रहा हूं, लेकिन इसके सबूत हैं। कुंवर सिंह लड़ाई में शालि हुए और डुमरांव के राजा अंग्रेज़ों के साथ रहे। एक लोकगीत इस तरह से है–

भोजपुर में डुमरांव बसेले, उहो बाड़े फिरंगियां नूं
सब विसेन मिली घुस लुकइले, बाबू लड़ेले अकेलू नूं।

(खुदाबख्श खां लाइब्रेरी जर्नल से)

यह है लोक-स्मृति की अभिव्यक्ति लोकगीत में। लोक-स्मृति में अंग्रेज़ों के चाटुकार भी हैं और विद्रोही भी। डुमरांव राजा को 'फिरंगिया' कहा गया है। भोजपुर के गाँवों की उस लड़ाई के समय क्या स्थिति थी, इसका चित्रण भी रामदुलारा नाम के एक कवि ने लोकभाषा में किया है–

जब बढ़ल कुंवर दल लछमनपुर से आगे
पथ गांव-गांव तरनाई जागल अनुरागे
जागल बहार वा गांव बेहोरेनपुर में
संग लागल सुरंमनपुर, गउरा अगराईल
आते करजा जे दादा के गुरुद्वारा
जहां समाधि कवि देव राम दुलारा।।

ये पंक्तियाँ बता रही हैं कि कुंवर दल के अभियान के साथ-साथ गाँव-गाँव में तरुणाई जाग उठी। एक नयी उमंग हर तरफ जोर मारने लगी। ऐसी कविता स्वयं प्रमाण है, 1857 के साथ जन-जागरण फैलने का। स्वतंत्रता की राष्ट्रीय चेतना लोक चेतना बन गयी थी। लोक चेतना की स्वाभाविक और अनायास अभिव्यक्ति लोकगीतों में होती है। अत: लोकगीतों में व्यक्त भावना सामाजिक चेतना में गहरे पैठी हुई होती है। इस चेतना और भावना को ऊपरी तौर पर या हल्के ढंग से लेना या समझना गलतफहमी का शिकार बना सकता है।

तात्या टोपे की वीरता का चित्रण करते हुए यह गीत ध्यान देने योग्य है। इस गीत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी रचना 1857 के एक समकालीन कवि हरफूल ने की। यह कवि ब्रजप्रदेश का रहने वाला था। गीत इस प्रकार है–

हाथ में नग्न खड्ग मारिब कूं एक पग
तन-मन देस मूं समरपित कीनो है।
आगे बढ़ि पीछे हटि धाई को मिचक्का करि
टूक-टूक छिन में 'विढम' दल कीनों है।
सेंधिया सों औघड़ हरामखोर ओर नाहिं
मिलिगौ फिरंगिया ते सांसाधात दीनो है।
मैंने हरिफूल धन्नि तातिया से वीर तैने
सीस को उतारी मैं सुजस जगलीनो है।

मैथिली में जो एक लोकगीत इस प्रसंग में मिला है, वह तो अद्भुत है, इस अर्थ में कि इसमें किसी नायक की वीरता का वर्णन नहीं, बल्कि जन-चेतना और संकल्प की अभिव्यक्ति है। गीत इस प्रकार है–

गरजब हम मेघ जहाँ, बरिसब हम पानि जहां,
उड़ाय देव हम लंदन के हुंकार से।
बिजली जकां कड़कि-कड़कि
आन्हीं जकां तड़कि-कड़कि
भगा देव गोरा के टंकार से कुहुकब हम
कोइल जहाँ, नाचव हम मोर जकां
मना लेब माता के बीना के झंकार से।

तात्या टोपे ने अपना जीवन देश को समर्पित कर दिया था। इस मैथिली गीत में लंदन को हुंकार में उड़ा देने की घोषणा है। इसका अर्थ और परिणाम सवतंत्रता के अलावा और क्या हो सकता है? मैथिली गीत की पंक्ति 'भगा देव गोरा के टंकार से' पर गौर करना चाहिए। गोरों को भगा देने का अर्थ अंग्रेज़ी सत्ता से भारत को मुक्त करने का संकल्प ही तो है। गीत का सौंदर्य इस बात से और बढ़ जाता है कि अँग्रेज़ों से लड़ाई तो है बिजली की कड़कक की तरह, आँधी की तड़क की तरह और जनमन में अँग्रेजों से भक्ति की बात आती है, तो फिर कोयल की तरह कुहुकने, मोर की तरह नाचने की भावना मन में उठने लगती है। भारत माता को वीणा की झंकार से मना लेने का विश्वास भी है। इस गीत में राष्ट्रीय स्वतंत्रता जन-चेतना में लहराती हुई दिखायी पड़ती है। इस बात का अर्थ और महत्त्व ठीक से समझ में आयेगा, जब हम यह समझेंगे कि भारत पर अँग्रेज़ों का साम्राज्यवादी शासन था, यानी पूरे इंग्लैंड का पूरे भारत पर शासन था। भारत की समस्त जनता इंग्लैंड के अधीन थी। भारतीय समाज के हर तबके के लोग इंग्लैंड के गुलाम के गुलाम थे। अत: अंग्रेज़ों को भारत से भगाने का मतलब था भारत की समस्त जनता के लिए स्वतंत्रता हासिल करने का संघर्ष। ऐतिहासिक सामाजिक और राजनीतिक रूप से स्वतंत्रता समस्त भारतीय जनता की जरूरत थी, भारतीय समाज में ऊँच-नीच वाली व्यवस्था के बावजूद। अत: आज जो कुछ पिछड़ा वर्गवाद या दलितवाद के आधार पर स्वतंत्रता को। कभी-कभी तो ऐसा महसूस होता है कि ऐसे लोग अपनी संकीर्ण व्याख्या के जरिये एक तरफ अमानुषिक और भेदभावपूर्ण जाति-प्रथा को मजबूत बना रहे होते हैं, तो दूसरी तरफ वे साम्राज्यवाद का समर्थन करते हुए लगते हैं।

1857 की क्रांति की आग बंगाल में भी फैली थी। इस संबंध में एक लोकगीत है, जिसमें छत्तीसगढ़ के शहीद नारायण सिंह की वीरता का वर्णन तो है ही, इस संघर्ष के व्यापक प्रभाव का भी चित्रण है उसमें। गीत की पंक्तियाँ इस तरह हैं–

धधके लगिस वीर बंगाल
दिल्ली के रंग होंगे लाल
माचिस रकत होले फाग
आज़ादी के पहिली राग
कांपिस अंग्रेज़ी शासन
डोलिस लंदन के आसन
टूट परिस जब हमर जवान
भागिस फिरंगी लेके प्रानश

इसकी भाषा हिंदी-उर्दू का जन-प्रचलित रूप है, एकदम आमफहम बोलचाल की भाषा। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस गीत में किन लोगों की भावना व्यक्त हुई है। दूसरी बात यह कि लड़ाई सिपाहियों तक सीमित नहीं है, आम जनता की स्वातंत्र्य चेतना सिपाहियों के साथ लहर मार रही है। तीसरी बात यह कि लंदन का आसन डोल रहा था। यह कोई स्थानीय लड़ाई नहीं थी। 1857 के संघर्ष की ये विशेषताएं बुद्धिजीवियों और विद्वानों की खोज का परिणाम नहीं हैं, बल्कि लोकस्मृति में रची-बसी चेतना से जुड़ी हुई हैं।

1857 का विद्रोह विफल हो गया, दबा दिया गया, लेकिन लोगों का आक्रोश शांत नहीं हुआ, अँग्रेज़ी सत्ता के प्रति जन-असंतोष नहीं दबा, भारत में अँग्रेज़ी लूट को समाप्त करने की भावना खत्म नहीं हुई। इसी मनोदशा ने विभिन्न लोकगीतों में अभिव्यक्ति पायी। अत: इनका ख़ास महत्त्व है।

संपर्क : राजीव नगर,
रोड नं.-24, पटना-23

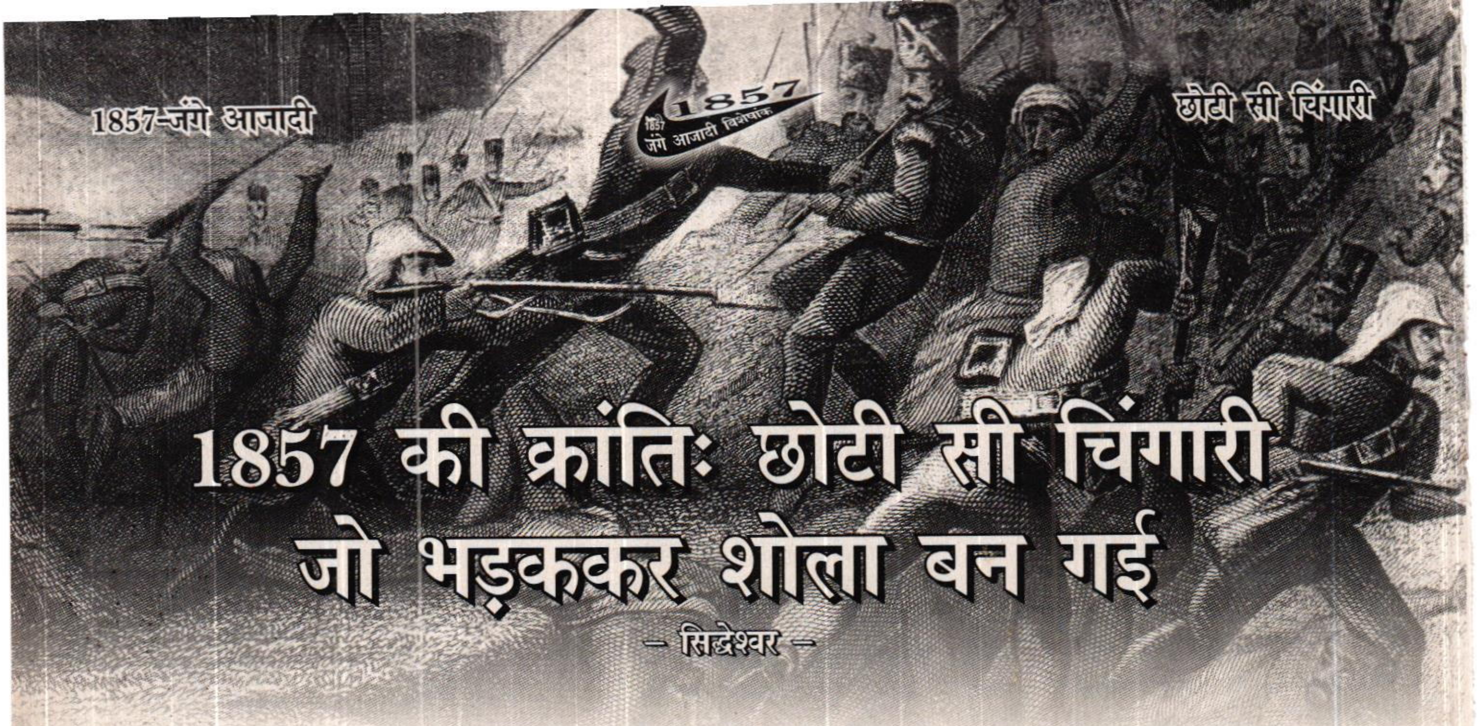

1857 की क्रांतिः छोटी सी चिंगारी जो भड़ककर शोला बन गई

– सिद्धेश्वर –

1857 के सिपाही विद्रोह के नाम से पहचाने जाने वाले स्वतंत्रता संग्राम की इस क्रांति को साझा शहादत की मिसाल भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें पूरे देश के सभी जाति धर्मों एवं समुदाओं के लोगों ने शिरकत की थी। दरअसल अँग्रेजी हुकुमत के खिलाफ इस क्रांति की शुरूआत कोलकाता से 16 किलोमीटर दूर बैरकपुर छावनी से उस समय हुई जब 29 मार्च, 1857 को वहाँ की 34वीं इन्फैंटी के सिपाही मंगल पाण्डे ने रंगून से आए गाय व सूअर के चर्बी युक्त कारतूसों को चलाने से साफ इनकार करते हुए अँग्रेजी सेना से विद्रोह का बिगुल बजा दिया। इसके बाद अँग्रेजी हुकुमत ने 8 अप्रैल 1857 को सिपाही मंगल पांडे को इस विद्रोह के कारण फाँसी दे दी। इस घटना के बाद पूरी बैरकपुर छावनी को इस लिए सील कर दिया गया ताकि मंगल पांडे को फाँसी दिए जाने की बात अन्य छावनियों के सैनिकों को पता न चल सके अपने एक साथी सैनिक की इस तरह हुई मौत के बाद अन्य सैनिकों में असंतोष की भावना न पनप सके। लेकिन मई माह में ही मेरठ छावनी में तैनात सैनिकों को भी पता चल चुका था किरंगन से गाय व सूझर की चर्बी युक्त ऐसे कारतूस आए हैं, जिनको चलाने से पूर्व मुँह में काटना होता है। बस क्या था इस बात को जानकारी लगते ही 9 मई, 1857 को मेरठ छावनी के 85 सैनिकों को बगावत के आरोप में गिरफ्तार कर उन्हें दस-दस साल के कारावास की सुना दी और उन्हें कारागार में डाल दिया। इस घटना के अगले ही दिन यानी 10 मई 1857 को मेरठ छावनी की तीन रेजीमेटों के सिपाहियों ने अँग्रेजी हुकुमत के खिलाफ बिगुल बजा दिया। मेरठ से शस्त्रागार को लूटने के बाद इन सैनिकों ने कहर किए अपने सैनिक साथियों को कारागार से मुक्त कराने के लिए दिल्ली की ओर चलने का मन बना लिया और वे प्रस्थान कर गए। 11 मई, 1857 को इन क्रांतिकारियों ने दिल्ली पहुँचकर वहाँ अपना कब्जा जमा लिया तथा अपना नेता अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह ज़फर को मानते हुए बादशाह-ए-हिंदुस्तान के रूप में उसकी ताजपोशी कर दी।

कोलकाता के बैरकपुर छावनी से उठी यही छोटी सी चिंगारी बाद में एका-एक भड़ककर शोला बन गई और पूरे देश में आजादी की इस जंग में लोगों ने अपनी आहूति देना प्रारंभकर दिया, क्योंकि क्रांतिकारियों की यह जंग किसी राजा के राजमहल या सत्ता को साहिल करने के लिए नहीं, बल्कि आजादी हासिल करने के लिए लड़ी जा रही थी। इतिहास बताता है कि 30 मई 1857 को हिंडन के तट पर अँग्रेजी सेना तथा क्रांतिकारियों के बीच जमकर युद्ध हुआ। क्रांतिकारियों की ओर से इस युद्ध का नेतृत्व वलिदाद खाँ ने किया। क्रांतिकारी इतनी वीरता से लड़े कि शाम चार बजे तक ही आखिर इस मोर्चे से अँग्रेजी सेना को पीछे हटना पड़ा साथ ही इस युद्ध में अँग्रेजी सेना के कैप्टन एन्ड्रयूज और इसके खास सार्जेन्ट मारे गए, जिनकी कब्र आज भी जी.टी. रोड के किनारे बसे हिंडन बिहार में बनी हुई है।

हालांकि यह बात सही है कि अँग्रेजी हुकुमत ने आजादी के इस प्रथम स्वतंत्रता संग्राम को कुचल दिया था, लेकिन क्रांतिकारियों का यह संग्राम विश्व के इतिहास में आज भी अपना एक अगल

स्थान रखता है। इस क्रांति के बाद से ही ईस्ट इंडिया कंपनी के सभी अधिकारों को ब्रिटेन ने अपने हाथों में ले लिया तथा कंपनी के सभी अधिकारों को समाप्त कर दिया। 1857 का यह विद्रोह पूरे भारत में लहर पैदाकर ही। इसने सन् 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन 'की पृष्ठभूमि तैयार' की। यह विद्रोह अँग्रेजों की उपनिवेशवादी प्रयासों के खिलाफ था। किंतु आश्चर्य तो तब होता है जब आज हम खुद-ब-खुद पश्चिमी सभ्यता का उपनिवेश बनते जा रहे हैं जिसे आजादी के प्रति विश्वासघात कहना उचित होगा। आजाद भारत में एक ओर जहाँ जमींदारी प्रथा को समाप्तकर भूमि किसानों को वापस सौंपी वहीं आज हमने भूमंडली करण की आड़ में स्थापित हो रहे नव साम्राज्यवाद को खुशी-खुशी अपना रहे हैं जिसके परिणाम स्वरूप जीवन के हर क्षेत्र में सामंतवाही प्रवृत्तियों का बोलबाला बढ़ रहा है। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि 1857 की क्रांति से हमने सीख नहीं ली और ना ही भविष्य की क्रांति के लिए हम दीवाना हा पा रहे हैं। कृपया संलग्न पृष्ठ की सामग्री को यहाँ जी

कहा जाता है कि 10 मई 1857 को जब मेरठ में सिपाही विद्रोह हुआ था तो विद्रोह सैनिकों व ग्रामीणों ने जेल में बंद अनेक कैदियों को मुक्त करा लिया। इनमें रामदयाल भी शामिल था। जेल से मुक्त होते ही रामदयाल भोजपुर पहुँचा। फिर रामदयाल ने एक क्रांति दल बनाया तथा अपने डिग्री देने वाले साहुकार को मार डाला। इसके बाद उसने विद्रोह के लिए अन्य लोगों को भड़काना शुरू कर दिया। उसके बाद जो भी अँग्रेज मिल उसे मौत के घाट उतार दिया गया। एक दिन अँग्रेज और क्रांति कारियों की सेना के बीच जमकर संघर्ज़ हुआ जिसमें रामदयाल शहीद हो गए। इस प्रकार धीरे-धीरे देश भर में चारो ओर अँग्रेजी हुकुमत का विरोध किया जाने लगा। झांसी से जहाँ रानी लक्ष्मीबाई ने मोर्चा संभाल रखा था, वहीं कानपुर से नाना साहब, लखनऊ से तात्या टोपे तथा बिहार से कुंवर सिंह ने अँग्रेजी सत्ता के विरोध में बिगुल बजाया था।

बिहार के भागलपुर जिलांतर्गत बिहपुर के वीर एजा चौधरी झब्बन सिंह ने अँग्रेजों के दांत खट्टे किए। बिहपुर रेलवे स्टेशन से डेढ़ किलोमीटर उत्तर और स्वराज्य आश्रम से एक किलोमीटर दूरी पर स्थित 'गण शहीद' के तक रीबन 20 एकड़ में फैले मैदान में राजा चौधरी झब्बन सिंह ने अपने सैनिकों के साथ अँग्रेजों से लोहा लेते हुए वीरगतिकों प्राप्त हुए। इसी प्रकार देवघर के रोहिणी गाँव में 12 जून 1857 की शाम भारतीय सैनिकों ने विद्रोह तेवर दिखाए। तीन विद्रोह हुआ। विद्रोह बांका-कटोरिया होते हुए सड़क मार्ग द्वारा शाघाटी जाने के दौरान उन्होंने सिऊड़ी से बिहन आ रहे डाक थैलों का लूट लिया। इतिहास कार डॉ. के.के. दत्त लिखते हैं कि विद्रोही बैंसी वरोहिणी होते हुए वे नवादा पहुँचे और 8 सितंबर 1857 को गया पहुँचकर जेल के 400 कैदियों को मुक्त करा लिया। साधुवेश में राष्ट्रप्रेमी गाँव-गाँव में जाकर जहाँ जन ज़ागरण फैला रहे थे वहीं अलीतकी खाँ जैसे देश प्रेमी हिंदुओं को गंगाजल व मुसलमानों की कुरान की शपथ दिलाकर अँग्रेजों को देश से निकालने का प्रण करवा रहे थे। के विद्रोह में अयोध्या के तिलोई गाँव के सीताराम पांडे के सुपुत्र अनंती राम ने भी 1857 के विद्रोह में क्रांतिकारियों का साथ दिया जिसके चलते उसे भी गोली मारने का आदेश जारी किया गया और वह अँग्रेज सैनिक की गोली के शिकार हुए। 1857 के विद्रोह में हिंदू और मुसलमान ने एक अटूट एकजूटता दिखाई।

सिपाही विद्रोह के दौरान भारतवासियों के हिल में दहशत बिठाने के लिए अँग्रेज हुकुमत के द्वारा भीशण, दमन का दौर चलां बनारस से इलाहाबाद तक गंगा तट के दोनों किनारों के प्रत्येक पेड़ पर क्रांतिकारियों की लाशों उल्टा लटका दी गईं। अकेले लखनऊ में 26270 भारतीयों, ने अपने प्राणा खोए। सचमुच मंगल पांडे की ललकार, मेरठ विद्रोह और रानी

लक्ष्मीबाई के बलिदान की घटनाओं ने प्रत्येक भारतीय जनमानस की आत्मा को झकझोर दिया था।

कुछ आरजू नहीं है, है आरजू बस तो ये, रख दे कोई जरा-सी, खाक-ऐ-वतन कफन में।

यह भावना भी शहीद अशफाक उल्ला खाँ की। आजादी के ही वाने देश भक्त यही कल्पना करते थे। आज हम उन्हीं कारण आजादी का सुख भोग रहे हैं लेकिन शहीदों को खास मौकों पर ही याद किया जाता हैं नहीं तो हम उन्हें भुला ही चुके हैं। वतन पर मरने वालों का यही बाकी निशां होगा की उक्ति मुरादाबाद के लिए महान स्वतंत्रता सेनानी नवाव मज्जू खाँ ने अपने को भारत माँ की बलिवेदी पर न्योछाबर कर दिया था, आखिर उसे आज क्या हम याद करते हैं?

1857 की दस्तक ने मुर्छित भारत के प्राणों में नवचेतना का ऐसा संचार किया कि जिस साम्राज्य को बनाने में अँग्रेजों को 1757 के पलासी युद्ध से लेकर 1857 तक सौ साल लगे थे, वह नब्बे साल यानी 1947 में ही उखड़ गया। स्वाधीनता की दहलीज पर पहुँचकर 'बापू' हमें स्वाधीनता आंदोलन की मूल प्रेरणाओं के में नव निर्माण की परार्डेडियाँ खोजते छोड़कर चले गए और आज स्वाधीन भारत की 60 वर्ज़ लंबी यात्रा के बावजूद एक विश्वहित भ्रष्ट समाज जीवन के रूप में हमारी छवी है। न्यायपालिका, विधायिका और कार्यमालिका आदि सब संवैधानिक संस्थाएँ आपस में टकरा रही हैं। भारतीय राजनीति आज जाति, क्षेत्र और संप्रदाय की संकीर्या दलदल में बुरी तरह फँसी हुई है। आज जब हम जंग-ए-आजादी 1857 की 150 वीं वर्ज़गांठ मना रहे हैं हमें यह सोचने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है कि क्या 1857 की क्रांति चेतना राष्ट्र के प्राणों में प्रवाहित हो सकेगी? जाति और संप्रदाय की रक्षा की वह छटपटाहट जिसने बंगाल नेटिव इन्फैंट्री के जवानों को अपनी ब्रिटिश निष्ठा त्याग कर संघर्ष और आत्म बलिदान के पथ पर बढ़ने को बाहय कर दिया था, फिर से पुनरूज्जीवित हो सकेगी? ऐसा लगता है कि स्वाधीन भारत 1857 की विफलता के बाद ब्रिटिश उपनिवेशवादियों द्वारा निर्मित संस्थाओं के जाल में फंसा रह गया और आज की दुर्दशा को प्राप्त हो गया। इसलिए आज जरूरत इस बात की है कि भारत आत्मालोचन करे और सृजन के लिए नए रास्ते और नई रचनाओं की तलाश करे।

–संपर्क:
'दृष्टि', यू-207 शकर पुर,
विकास मार्ग, दिल्ली-92
दूरभाष: 011-22530652,22059410

1857 की जन क्रांतिः साझी शहादत की मिसाल

– सिद्धेश्वर –

देश के प्रथम स्वतंत्रता संघर्ष '1857 की जन क्रांति' हिंदू-मुस्लिम की साझी शहादत की मिसाल थी। यह हिंदू-मुस्लिम एकता की ऐसी मिसाल थी जो सदियों तक आने वाली पीढ़ियों को प्रेरित करती रहेगी। भले ही हिंदू ओर मुसलमान 'धर्म' और 'दिन' के झंडे तले गोलबंद हुए थे, फिर हिंदू और मुसलमानों ने एक जुट होकर विदेशी शक्ति को खदेड़ने की कोशिश की। क्रांतिकारियों ने जितने में इश्तहार जारी किए, सभी में हिंदू और मुसलमानों से एकजुट होकर ब्रिटिश ताकत को खदेड़ने की अपील की गई थी। दरअसल भारतीय सैनिकों ने उन दिनों भारतीय जीवन पद्धति को नष्ट कर देगी। इस घटना के संदर्भ में यदि हम मौलाना अबुल कलाम आजाद के लेखन पर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि हिंदू-मुस्लिम भाईचारों की भावना सिर्फ सेना तक सीमित नहीं थी बल्कि नागरिकों में भी ऐसी भावना जोर पकड़ चुकी थी। हालांकि यह भ सच है कि ब्रिटिश अधिकारीयों ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच दृष्ट पैदा करने की भरपूर कोशिश की लेकिन इन दोनों समूदायों के बीच तब टकराव की एक भी मिसास नहीं मिलती है। भारत ने सचमुच 1857 की इस अग्नि परीक्षा का सामना एकीकृत और अटूट समुदाय के रूप में किया था जिसका आज सम्मान किए जाने की आवश्यकता है।

हिंदू-मुस्लिम एकता और उदार राष्ट्रीयता की दृष्टि से अप्रतिम 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के नायकों में मंगल पांडे, नाना साहब, लक्ष्मीबाई, आदि ने सराहनीय योगदान किया। यह आजादी की और अपनी मंजिल खुद तय करने की जंग भी जो तमाम धर्म, जाति की तमाम दीवारों को पार कर गई। आज के युवाओं को उन जंग-ए-आजादी के मतवासों की कुर्बानियों को याद कर उनके पद चिह्नों पर चलना चाहिए। स्वतंत्रता संग्राम की इस पहली लड़ाई में आंदोलन के हर सिपाही के पीछे किसान, हस्तकार और शिल्पकार मजदूर यानी हर धर्म ओर विश्वास के लोग थे, क्योंकि उनके मूल्यों आस्थाओं और परंपराओं के लिए जबर्दस्त खतरो पैदा हो गया था। इसलिए सन् अटठारह सौ सत्तावन का एक महान संदेश 'सर्वधर्म समेभाव है, सेकुलरिज्म है', हरअसल भारत की ताकत और किस्मत विविधता में एकता के उसके आदर्शों में निहित है। 1857 की इस गंगा-ए-आजादी ने अनंतकाल से चली आ रही भारत की एका का प्रदर्शन किया। इस दृष्टि से देखा जाए तो उस काल खंड का वास्तविक इतिहास स्वाभिमान जाग्रत करने वाला है। चंद्रशेखर आजाद, भगत सिंह और ऊधम सिंह जैसे स्वाभिमानी साहसी शहीदों की बलिदान प्रेरणा का उत्सह इसी प्रथम जंग-ए-आजादी में है।

इसी प्रकार 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में घोड़े पर बैठकर सैनिकों का नेतृत्व करने वाले अस्सी वर्षीय वीर कुंवर सिंह का पराक्रम अविस्मरणीय है। अपने गोली लगे हाथ को अपनी ही तलवार से काटकर गंगा मैया को भेंट कर देने वाले इस क्रांतिवीर की गाथा भोजपुरी के यशस्वी कवि चंद्रशेखर मिश्र द्वारा 'कुंअर सिंह' शीर्षक से रचित एक रचना में देखने को मिलती है। इस रचना का भाव औदात्य इसे महाकाव्योजित गरिमा प्रदान करता है।

नि:संदेह 1857 के इस विद्रोह को जनक्रांति की संज्ञा दे सकते हैं जिसमें हिंदू और मुस्लिम भारतीय समाज के दो प्रमुख धार्मिक समुदायों की अद्वितीय एकता मुखरित हुई हालांकि यह भी सच है कि इसने समाज के सभी वर्गों को कमोवेश उद्वेलित किया था। भारतीय जन की अंतर्निहित शक्ति आंदोलित हुई थी और गाँव-कस्बे से लेकर शहरों में अपने-अपने ढंग से मुक्ति की चेतना का संचार हुआ था। 1857 के विद्रोहों का स्वरूष और चरित्र राष्ट्रव्यापी इस माने में था कि इस विद्रोह उत्तर भारत के साथ-साथ दक्षिण भारत के आम-आदमी से लेकर किसान-मजदूरों तथा आदिवासियों ने अँग्रेजी हुकुमत के खिलाफ न केवल आवाज उठाई थी, बल्कि हथियार भी उठाए थे। इस संदर्भ में 1766-67 के मिदनापुर विद्रोह, 1769-99 का जोरहट विद्रोह, 1776-89 के चिटगाँव का चकमा आदिवासी विद्रोह, 1788-89 का वीरभूम व विष्णुपुर विद्रोह, 1799 के मिदनापुर आदिवासी विद्रोह, 1744 का विजयनगरम विद्रोह, 1797 के केरल में कोट्टायम विद्रोह 1808-09 के त्रावणकोर का वेलूथंवी

विद्रोह 1806 का वैल्लोर सिपाही विद्रोह, 1788 का खासी विद्रोह, 1789 का भिवानी विद्रोह, 1800-02 का पलामू विद्रोह, 1824-28 का भिवानी, हिसार व रोहतक विद्रोह, 1830-31 का मैसूर में किसान विद्रोह 1830-33 के विशाखापटनम का किसान विद्रोह, 1833का संबलपुर का गौंड विद्रोह, 1844 का सूरत का नमक आंदोलन, 1848 का नागपुर विद्रोह, 1849-78 का नगा विद्रोह, 1855-56 में संथाल विद्रोह, 1834 में मुंडा विद्रोह, 1831-32 में कोल विद्रोह, 1824 में गूजर विद्रोह आदि का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। इसने स्वतंत्रता संग्राम के लिए उर्वरक भूमिका निभाई।

मार्क्सवादी चिंतक एवं सुपरिचित राजनीतिज्ञ ई.एम.एस. नंबुदिरीपाद की पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फ्रीडम स्ट्रगल' के अनुसार 1857 से काफी पहले दक्षिण भारत के विभिन्न क्षेत्रों में स्वतंत्रता-संघर्ष हो चुके थे। नंबूदिरीयाद ने बताया है कि किस प्रकार त्रावणकोर, तंजोर, अरकोट, मैसूर, पुडूक्कोट्टी, शिवगंगा, मलाबार, डिंडीगुमल, कोयंबटूर आदि स्थानों मुक्ति संघर्ष हुए। इसी प्रकार 1857 में ही तत्कालीन पंजाब के लाहौर, फिरोजपुर, पेशावर, कुरुक्षेत्र, करनाल, भटिंडा, लुधियाना, संगरूर, अंबा, जैसे क्षेत्रों में भी लोगों ने धर्म व जाति से ऊपर उठकर विद्रोह किया। सिक्खों की लुधियाना रेजिमेंट व झांसी में तैनात 12वीं रेजिमेंट ने बनारस व झांसी में विद्रोह किया। इसी प्रकार महाराष्ट्र भी इन मुक्ति-संघर्षों से अछूता नहीं रहा।

यह कठोर सत्य है कि 1857 की घटना से एक वशहत राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ जिसने तेजी से उभरते हुए नवशिक्षित वर्ग में राष्ट्रीय गौरव व चेतना को जन्म दिया यदि ध्यान से देखें तो 1857 का विद्रोह राजनीतिक से ज्यादा सांस्कशतिक था, क्योंकि यह विद्रोह विदेशियों द्वारा भारतीय संस्कशति और धर्म के क्षेत्र में हस्तक्षेप के विरोध में था। वनवासी-आदिवासी विद्रोह, फकीर सन्यासी विद्रोह, कोल विद्रोह, खासी विद्रोह आदि में लोगों ने अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक स्वाधीनता के लिए आंदोलन किया। झांसी में लक्ष्मीबाई के श्वशुर-कुल के अमूल्य पुस्तकालय का विनाश आखिर किस आंदोलन का प्रतीक था। 1857 के विद्रोह को किसानों का विद्रोह इस माने में कहा जा सकता है कि चाहे मंगल पांडे हो या वीर कुंवर सिंह, सभी मूलतः किसान थे।

हम सब इस बात से अवगत हैं कि 1857 की क्रांति के बीच ही अँग्रेजों की व्यापारिक आकांक्षाएँ राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं के रूप में परिणत हो भारत में अपना खेल खेलती रहीं, किंतु हमारी सांस्कृतिक चेतना ही हमारी स्वांतत्र्य चेतना के रूप में व्यक्त हुई और इसके परिणामस्वरूप स्वतंत्रता का यह जंग एक अखिल भारतीय और राष्ट्रीय रूप से सका जिसमें राजे- महाराजाओं से लेकर किसान-मजदूर, साहित्यकार, गीतकार तथा देश के आम-आदमी ने अपनी-अपनी भागीदारी थी। स्वातंत्र्य चेतना ने जन-चेतना बनकर सारे भारत के जन-सामान्य को उद्वेलित किया। यानी भारत की समग्र चेतना ही एकजुट होकर लड़ रही थी, कहीं राजनैतिक विद्रोह के रूप में, कहीं सैनिक विद्रोह के रूप में, कहीं ग्रामवासियों और वनवासियों के संगठन के रूप में, कहीं क्रांतिकारी आंदोलन के रूप में और कहीं लेखन और पत्रकारिता के रूप में। इसलिए 1857 के इस जंग-ए-आजादी को हम साझी शहादत की मिसाल कह सकते हैं।

1857 की जनक्रांति एक ऐसी क्रांति थी जो न केवल सैनिक विद्रोह था, बल्कि वह इस देश की प्रत्येक जनता के मन में अँग्रेजों के प्रतिव्याप्त घृणा और विक्षोभ की अभिव्यक्ति थी। इस स्वातंत्र्य समर ने संपूर्ण देश में राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता की इच्छा को जो संस्कार दिया वह आगे की परिस्थितियों में बड़ी ही तीव्रता के साथ अपने चरमोत्कर्ज़ पर पहुँचा। इस लड़ाई में सभी का वस एक ही मकसद था कि देश को गुलामी की बेड़ी से कैसे मुक्त किया जाए। देश के तमाम लोगों की एकता के कारण ही आजादी हासिल की उठी चिनगारी पूरे देश में शोला बनकर फैल गई।

स्वतंत्रता संग्राम की इस पहली लड़ाई में जहाँ राजस्थान के राजघरानों, सैनिक छावनियों में अँग्रेजों के प्रति असंतोज़ था और क्रांतिकारी जोध सिंह, नाना साहब, सलुंबर, कोठारिया, बनेड़ा, साभोद के सामंतों सहित जोघपुर, के शासकों ने अँग्रेजों विरुद्ध

बिगुल बजाया, वहीं गुजरात के कानदास महेंडु अजित सिंह गेलवा, नागाजी चारण, बाँकीदास आशिया आदि ने उल्लेखनीय योगदान किया। इसी प्रकार महाराष्ट्र के मराठों ने जहाँ बाबा मदमन जी महादेव गोविंद रानाडे, सदाशिव काशिनाथ छत्र, कृष्ण शास्त्री चिपठूणकर, दादोबा पांडुरंग, भाऊ नाथ छत्रे, कृष्णाशास्त्री चिपठूणकर, दादोबा पांडुरंग, भाऊ दाजी रनाड जगन्नाथ शंकरशेठ, पेशवर नाना साहब, तात्या टोपे आदि ने सिपाहियों के मन में देशभक्ति के संस्कार दिए वहीं वनवासियों में भीमा नायक, रवाज्या नामक, टंटूया भील बिज़निया, दापिया, रघुनाथ सिंह मण्डलोई, उड़ीसा के सुरेन्द्र साम, बंगाल के बाछाजतीन, महाराष्ट्र के बासुदेव बलवंत फड़के, आंध्रप्रदेश के अल्लरी सीताराम राजू, बिहार व झारखंड के ताना भगत, तिलका माँझी, सिद्धो-कान संथाल, बिरसामुंडा, रघुनाथ शह-शंकर आदि आजादी की लड़ाई में अपना सब कुछ खो दिया, लेकिन स्वतंत्रता की प्रेरणा लोगों के दिलों में भर दी।

1857 के विद्रोह की उत्पात के बारे में ब्रिटिश इतिहासकार जे०ए०बी० पामर और जॉन के ये के अनुसार चर्बी लगी कारतूस का अविष्कार जेम्स पी०ली० नामक एक व्यक्ति ने किया था। वे भारत स्थित राय फल इंस्ट्रक्शन डिपो, के कमांडर कैप्टन राइट के हवाले से बताते हैं कि जनवरी, 1857 के तीसरे सप्ताह के अंत में एक खलासी मजदूर ने एक ब्राह्मण सैनिक से अपने लोटे से पानी पिलाने की प्रार्थना की। उस ब्राह्मण ने खलासी के दलित होने के कारण पानी पिलाने से इन्कार कर दिया।

इसी प्रकार बिहार के बाबू कुंवर सिंह के साथ विद्रोह में सब कुछ न्योछाबर करने वाले क्रांति-वीर बाबू निशान सिंह की गाथा रोहतास की पोर-पोर में आज भी रची-बसी है। वीर सपूत अँग्रेजों को भगाने का संकल्प से कुंवर सिंह के साथ हो लिए और उन्हें इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी। 25 जुलाई, 1885 को दानापुर छावनी के सैनिक विद्रोह कर कुंवर सिंह से लड़ाई की कमान थामने का आग्रह करने जब आरा को चले, तब इस दौरान बाबू निशान सिंह बरादी, जगदीशपुर के हरिकिशन सिंह ने विद्रोही सैनिकों का नेतृत्व कराया। 'करो या मरो' का मिजाज लिए उग्र सैनिकों का मनोबल बढ़ाते हुए अँग्रेजी हुकुमत के कोपभाजन बने। उनकी जमींदारी जब्त किए जाने के बाद भी वीर कुंवर सिंह का साथ उन्होंने नहीं छोड़ा। दिसंबर 1857 में अँग्रेजों के साथ कानपुर की लड़ाई में कुंबर सिंह और निशान सिंह की वीरता से लखनऊ के नवाब ने काफी प्रभावित होकर 1230 रुपए की पुरस्कार राशि के साथ आजमगढ़ के शासन का फरमान जारी किया। आजमगढ़ किले पर कब्जा कर कुंवरसिंह निशान सिंह के नेतृत्व में छोड़ स्वयं वे जगदीशपुर की ओर प्रस्थान कर गए। 26 अप्रैल 1858 को कुंवरसिंह के निधन के बाद निशान सिंह जब अँग्रेजों की नजरों से बचने के लिए कैमूर पहाड़ी के खरीघाट की एक गुफा में रहने लगे तो 5 जून 1858 को सासाराम के मजिस्ट्रेट कौल ने उन्हें पकड़ लिया और मात्र दो दिनों में मुकदमें की औपचारिकता पूरी कर 7 जून 1858 को राजद्रोह के आरोप में सासाराम के गोरक्षणी में तोप के मुँह पर बाँधकर निशान सिंह को उड़ा दिया गया।

इसी प्रकार 1857 के विद्रोह में मातादीन भंगी का योगदान भी सराहनीय था जिसने 10 मई 1857 को मेरठ छावनी में सैनिक विद्रोह का बिगुल बजाया था। लोचन मल्लाह की कानपुर में 1857 की क्रांति में अहम भूमिका थी। वीरांगना महाबीरी देवी ने 22 महिलाओं की टोपी बनाकर बल्लभ-गंड़ासों से अँग्रेजों को मौत के घाट उतारा। इसी तरह नन्हीबाई, जो भगतन परिवार में एक वेश्या की कोख से जन्म लिया था, ने अपनी अपार धन-संपत्ति को देश की खातिर बेचकर क्रांतिकारियों की मदद की, क्योंकि एक वेश्या होने के नाते स्वतंत्रता के मायने वह बखूबी जानती थी। उत्तर प्रदेश के जौनपुर जनपद के मछली शहर के निवासी बाँके चमार ने प्रमुख बागी नेता हरिपाल सिंह के साथ रहकर स्वतंत्रता आंदोलन में अनेक अधिकारियों को मौत के घाट उतारकर दलित, समाज में वीरता और बहादुरी तथा दलित क्रांतिकारी होने का सबूत पेश किया।

इसी प्रकार सीधो और कान्हू के नायकत्व में हुआ संथालों का विद्रोह जनजातियों के प्रमुख संघर्षों में से एक कहा जाता हैं मसलन 1857 के विद्रोह में सभी समुदायों के रोग शामिल थे, क्योंकि स्वतंत्रता संग्राम की इस पहली लड़ाई में भारत के विभिन्न समुदायों को बड़े और व्यापक स्तर के मुद्दे पर एक होने का अवसर भी दिया था। पारंपरिक प्रबुद्धजनों, सामंतों और मौलानों, वनवासियों से लेकर किसानों, मजदूरों तथा दलितों के सभी तबकों की भागीदारी थी। इसलिए 1857 का यह साझा विद्रोह उन लोगों के लिए प्रेरणा स्रोत है, जो विभिन्न सांस्कृतिक परंपराओं का समावेश करते हुए लोकतांत्रिक राष्ट्र की अवधारणा विकसित करना चाहते हैं और उन लोगों को 1857 से परेशानी होती है जो लोकतंत्र और समन्वित राष्ट्रीयता के स्थान पर अपनी-अपनी फेंटेसी का नस्लवाद स्थापित करना चाहते हैं।

संपर्क : 'दृष्टि', यू-207,
शकरपुर, विकास मार्ग,
दिल्ली-92

सन् सत्तावन की जंगे आज़ादी की वीरांगनाएँ

–डॉ. आरती श्रीवास्तव

कैसी विडंबना है कि जिस देश में शक्ति की पूजा देवी के रूप में होती हो वहाँ नारी को अबला कहकर पुकारा जाय और उसे गृहस्थी के कार्यों के ही योग्य समझा जाय उसका कार्य-क्षेत्र घर की चाहरदीवारी तक ही सीमित कर दिया जाय। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में नारी की कहानी कितनी सीमित है कि उसे अबला माना गया है-

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी ।।

जय शंकर प्रसाद जैसे महाकवि ने नारी को साक्षात श्रद्धा कहा है-

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत पग नग तल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुंदर समतल में ।।

पितृ सत्तामूलक समाज में स्त्री जाति को अबला माना जाता है उपरोक्त महान कवियों ने नारी की वर्तमान दशा का चित्रण किया है; लेकिन वंदे मातरम् गाने वाले इस देश में मातृ शक्ति को सदैव वंदनीय माना गया है। धर्म और वाङ्मय के अनुसार दुर्गा को युद्ध की अधिष्ठात्री देवी माना गया है। इतिहास साक्षी है कि आसुरी शक्तियों से युद्ध करने के लिये देवता भी शक्ति रूपा देवी की आराधना करते हैं। देवियों को इसीलिये सौम्य और रौद्र रूप धारण करने वाली माना गया है। हमारे देश के इतिहास के पन्नों पर ऐसी कई महिलाओं के नाम जाज्वल्यमान नक्षत्रों की भाँति दिखाई पड़ते हैं जिन्होंने जब शासन की बागडोर सँभाली तो अपनी योग्यता से जनता के मानस पटल पर अमिट छाप छोड़ी और जब रणचण्डी के रूप में खड्ग् संभाला तो खड्ग् के प्रहारों से शक्ति रूपा की वह छवि दिखलाई कि लोकगीतों, लोककथाओं, साहित्य और इतिहास में अमर हो गई। दुर्गावती, पद्मिनी, करणावती, चाँदबीबी, रज़िया सुल्ताना, कित्तूर की रानी चिन्नमा की सुकीर्ति गाथा आज भी जन-जन की स्मृतियों में सुरक्षित हैं। स्वतंत्रता संघर्ष में भी महिलाओं के योगदान को कौन नज़रंदाज कर सकता है।

सन् सत्तावन् की क्रांति अर्थात भारत की प्रथम जंगे आज़ादी में भी भारत माँ की अनेक पुत्रियाँ स्वतंत्रता की भावना से अनुप्राणित होकर विदेशी आतताई शान से जूझीं। कुछ ने तो युद्धक्षेत्र में वीरगति प्राप्त की और कुछ की ब्रिटिश शासन के अधिकारियों ने यातनाएँ देकर शहीद कर दिया। किसी को गोली मार दी गई, किसी को फांसी पर लटका दिया गया, किसी को धधकती आग में जलाया गया और कुछ को आजीवन बंदी बना कर रखा गया। कई नाम ऐसे हैं जो बहुचर्चित हैं। लेकिन असँख्य नाम ऐसे हैं जिनके संबंध में लोग कम ही जानते हैं या जिनकी मूक शहादत का लोगों को पता ही नहीं ये वह वीरांगनाएँ हैं जो स्वातंत्रीय प्रासाद की आधार-शिलाएँ बन गईं ऐसी सभी पुण्य आत्माओं को शत-शत् प्रणाम।

रानी लक्ष्मीबाई

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता की अवतार, देख मराठे पुलकित होते जिसकी तलवारों के वार।

महाराष्ट्र कुल देवी उसकी थी आराध्य भवानी थी,
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

22 वर्षीया रानी लक्ष्मीबाई ने अपनी वीरता से अँग्रेज़ों को चकित कर दिया था बचपन से ही मनु (मणिकर्णिका) ने परंपरागत शिक्षा के साथ-साथ घुड़सवारी, बंदूक और तलवार चलाना तथा कुश्ती लड़ना सीखा था। 11 वर्ष की अवस्था में इसका विवाह झाँसी के विधुर राजा गंगाधर के साथ हो गया। तीन वर्ष के पश्चात् एक पुत्र की माता बनी, लेकिन बच्चा तीन महीने के बाद ही मर गया। राजा और रानी ने एक बच्चा (दामोदर राव) गोद लिया। राजा की मृत्यु के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार ने इस बच्चे को उत्तराधिकारी नहीं माना और झाँसी को हड़पने का प्रयास किया। रानी ने स्पष्ट कह दिया 'मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगी।' रानी लक्ष्मीबाई, नाना पेशवा, तात्याटोपे सभी क्रांति की योजना बना रहे थे। 5 जून को झाँसी में विस्फोट हुआ। क्रांतिकारी सैनिकों ने छावनी पर कब्जा कर लिया

और क़िले पर भी रानी का अधिकार हो गया। सब विश्वस्त स्त्री पुरुषों को कार्य विभाजन करके दायित्व सँभलवा दिया गया। हिंदू व मुसलमान सभी को ज़िम्मेदारी सौंपी गई। औरतों की एक सेना बनाई गई। मोतीबाई (नाटकवाली) गुप्तचर विभाग, मुंदरबाई झाँसी की रानी की अंगरक्षिका, सुंदर और काशीबाई कर्नल बनीं। रानी की इन महिला सैनिकों ने युद्ध के समय बहुत वीरता दिखाई।

टीकमगढ़ के दीवान नत्थे खाँ ने झाँसी पर हमला किया तो रानी ने उसे पराजित किया। सागर सिंह बागी को गिरफ्तार करके सेना का दायित्व दिया। झाँसी के सभी जातियों के मुखियों और चौधरियों का सहयोग प्राप्त किया गया। 23 मार्च 1858 में युद्ध आरंभ हो गया, कड़ा मुकाबला हुआ। कुछ देशद्रोहियों ने क़िले का फाटक खोल दिया। क़िले पर अँग्रेज़ों का अधिकार होने से पूर्व ही रानी क़िले से बाहर निकल गई। झलकारीबाई ने रानी का भेष धारण कर अँग्रेजों को भ्रमित किया। वॉकर को रानी को पकड़ने के लिये भेजा गया था, लेकिन वह रानी से घायल होकर वापस भाग आया। घोड़े पर बैठकर और अपने दत्तकपुत्र दामोदर राव को पीठ पर बाँधकर रानी 24 घंटे में 102 मील की लंबी यात्रा करके काल्पी पहुँचीं। राव साहब और अन्य सरदारों की रंगरेलियों के परिणामस्वरूप काल्पी पर भी अँग्रेजों का अधिकार हो गया, अब रानी की सलाह पर क्रांतिकारियों ने ग्वालियर की ओर प्रस्थान किया। ग्वालियर पर क़ब्ज़ा करने में रानी पेश-पेश थी, लेकिन यहाँ भी क्रांति नेताओं में दूरदर्शिता और अनुशासन की कमी थी। राव नाना पेशवा अपना गद्दी-आरोहन समारोह मनाने का आनंद ले रहे थे। रानी सबको चेतावनी दे रही थी लेकिन वह अकेली क्या करती? अँग्रेजों ने धावा बोला रानी का मोर्चा मज़बूत था तथा उसके जियाले विश्वस्त सैनिक भी जान देने को तैयार थे, लेकिन यहाँ पर भी धोखा हुआ ग्वालियर की पुरानी-सेनाएँ अँग्रेजों से जाकर मिल गईं। रानी ग्वालियर से निकली, दोनों हाथों से तलवार घुमाती हुई वह ब्रिटिश सेना के घेरे को तोड़कर तात्या की सेना से मिलना चाहती थी, पर उसका घोड़ा नया और अड़ियल था वह नाले पर रुक गया। रानी ब्रिटिश सैनिकों से घिर गई और उसका घोड़ा दो टाँगों पर खड़ा हो गया। रानी के सिर पर एक ब्रिटिश सैनिक की तलवार पड़ी, दाईं आँख बाहर निकल आई। एक वार सीने पर हुआ रक्त बहुत निकल चुका था। रानी ने अपने वफ़ादार सैनिकों से कहा 'मेरा शरीर अँग्रेज़ों के हाथों में न पड़े' वह रानी को बाबा गंगादास की कुटिया पर ले आये। रानी की वहीं चिता बनाकर अंतिम संस्कार कर दिया गया।

मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेईस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी।
हमको जीवित करने आई, बन स्वतंत्रता नारी थी,
दिखा गई वह सिखा गई वह जो भी सीख सिखाती थी।
बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

बेगम हज़रत महल

शाने अवध बेगम हजरत महल का जन्म फैज़ाबाद के एक निर्धन परिवार में हुआ था। लखनऊ में आकर शाहे अवध वाजिद अलीशाह के संगीत-प्रशिक्षालय 'परीखाने' में दाखिल हुईं। उसका नाम उमराव बेगम था। शरीर से सुगंधि निकलती थी। इसकी सुंदरता और गुणों के कारण वाजिद अली शाह का दिल जीत लिया और यह उनकी बेगम बनी, बेटा पैदा हुआ तो वाज़िद अलीशाह के पिता ने इसको 'इफ्तरवासउन्निसा' ख़िताब दिया और पोते (रमज़ान अली) का नाम बिरजीस कद्र रख दिया। सन् 1847 में वाजिद अली शाह जब तख़्ते शाही पर बैठे तो बेगम को 'हज़रत महल' ख़िताब मिला। जब अँग्रेज़ो ने वाजिद अली शाह को बंदी बनाकर अवध को अपने अधिकार में कर लिया और पूर्व शाहे अवध को बंदी बनाकर कलकत्ता ले गये, तो बेगम हजरत महल लखनऊ में ही रुक गईं।

7 मई 1857 को ही लखनऊ में विद्रोह हो गया था। लेकिन ज़ोर पकड़ा 30 मई के पश्चात् और बेगम हज़रत महल इसकी प्राण बनीं। लखनऊ नगर में फैली अराजकता को रोकने के लिये राजगद्दी पर एक व्यक्ति का होना आवश्यक समझा गया। बेगम हजरत महल को संरक्षिका और उनके पुत्र बिरजजीस क़द्र को शाहे-अवध घोषित किया गया। बेगम लखनऊ के चारों तरफ़ सुरक्षा के लिए दीवार बनवाना चाहतीं थीं जिसके लिये उन्होंने 5 लाख रुपये भी दिये थे। 20 जुलाई से 10 अगस्त और 10 सितंबर को बेली गारद (रेज़ीडेन्सी) पर ज़ोरदार हमले किये गये। हजरत महल मौलवी अहमद उल्लाह शाह को सेनापति बनाना चाहतीं थीं मगर ऐसा हो न सका।

बेगम ने प्रशासन को सँभालते ही ताल्लुकेदारों और ज़मींदारों को हुकुमनामे भिजवाये। कचहरियाँ और टक्सालें क़ायम हुईं। शहन्शाहे-हिंदुस्तान बहादुरशाह ज़फ़र से बिरजीस क़द्र की ताज़पोशी का इज़ाज़तनामा मँगवाया गया/लोग हजरत महल के स्वभाव की प्रशंसा करते थे। जब 22 सितंबर 1857 को अँग्रेज़ों ने आमबाग़ पर हमला किया तो क्रांतिकारियों का हौसला बढ़ाने के लिए बेगम साहिबा स्वयं मोर्चों पर गईं। बेगम हज़रत महल क़ैसरबाग़

लखनऊ में तब तक रही जबतक अँग्रेज़ों का वहाँ पहुँचना बिल्कुल निश्चित न हो गया। 16 मार्च को इन्होंने अपना आवास छोड़ा। कुछ दिन लखनऊ में विभिन्न स्थानों पर रहीं। आख़िर लखनऊ छोड़कर थराऊँ होते हुए ख़ैराबाद पहुँचीं। बिठाली की कोठी में रहीं। बहराइच होते हुए बूँदी पहुँची, वहाँ की क़िलेबंदी की 48 महीने यहाँ रुकीं, चारों तरफ छावनियाँ बनाईं। 6000 लोग तैनात किये। साथ, में यात्रा करने वाले और 1500 घुड़सवार और 500 क्रांतिकारी सैनिक थे। अँग्रेजों ने दिसंबर में हमला किया और बेगम साहिबा ने कड़ा मुकाबला किया। जब अँग्रेजों का सैनिक दवाब बढ़ने लगा तो ये नेपाल के जंगलों में चलीं गईं। नेपाल के राजा ने नेपाल राज्य छोड़ने को कहा। क्रांतिकारी सैनिकों में से बहुत से मृत्यु का शिकार बने। जो बचे वे इधर-उधर हो गये। आख़िर नेपाल के राजा ने औरतों और बच्चों को काठमांडू में रहने की इजाज़त दे दी।

नेपाल में बेगम हज़रत महल 20 वर्ष तक जीवित रहीं। 7 अप्रैल 1879 को उनका देहांत हुआ और अपनी मस्जिद के परिसर में दफ़न कर दीं गईं। आज वहाँ उनका मक़बरा बना हुआ है। नवाब वाज़िद अलीशाह का निधन सन् 1887 में हुआ। बिरजीस कद्र, उनके पुत्र खुर्शीद और पुत्री जमाल आरा को कलकत्ता आने की आज्ञा मिली लेकिन बिरजीस कद्र को कलकत्ते में खाने में ज़हर दे दिया गया।

बेगम ज़ीनत महल

बहादुरशाह ज़फ़र (दिल्ली के अन्तिम मुग़ल सम्राट) की ये चहेती बेगम थी। यह अपने बेटे को उत्तराधिकारी बनवाने के लिये पहले अँग्रेज़ों से निवेदन करती रही, जब ब्रिटिश अधिकारी नहीं माने तो उन्होंने ब्रिटिश विरोधी तत्वों से सहयोग प्राप्त करना चाहा। जब क्रांति सैनिक 11 मई 1857 को दिल्ली पहुँचे, तो लालक़िले का राजघाट फाटक का ताला (कहा जाता है) बेगम ज़ीनत महल के इशारे पर ही खुलवाया गया था। दिल्ली के पतन के बाद जब बहादुरशाह ज़फ़र और बेगम

बेगम ज़ीनत महल

ज़ीनत महल को अँग्रेज़ों ने बंदी बना लिया, तो बेगम ने 1 लाख रु. मूल्य का घर मेजर हडसन को भेंट किया था ताकि बादशाह को जानबख़्शी की जाय। मुकदमे के बाद ज़फ़र को आजीवन कारावास मिला और रंगून में क़ैद किया गया जहाँ बादशाह ज़फ़र की पक्षाघात से 1862 में मृत्यु हो गई। बेगम ज़ीनत महल का भी 17 जुलाई 1886 में देहांत हो गया।

रानी अवंती बाई लोधी

लार्ड डलहौज़ी की बेदख़ली से रामगढ़ की रानी अवंती बाई नाराज़ थीं, क्योंकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार ने राजा लक्ष्मण सिंह के बेटे विक्रमजीत सिंह को गद्दी न देकर राज्य हड़प लिया था। शाही परिवार को पेंशन दे दी गई लेकिन रानी अवंती बाई ने जुलाई 1857 में क्रांति का झण्डा उठाया और सेना का संचालन करते हुए सुहागपुर पर अधिकार कर लिया। कैप्टन वाशिंगटन को रानी ने करारी हार दी। वह हड़बड़ाहट में अपनी छोटा बच्चा छोड़कर भाग गया। रानी ने वह बच्चा वाशिंगटन को भिजवा दिया। रानी ने अंग्रेज सेना को दो बार पराजित किया। अप्रैल 1858 में अँग्रेज़ों ने फिर हमला किया। रानी के सैनिकों की संख्या और युद्ध सामग्री कम हो रही थी। खाने का सामान भी कम था फिर भी हिम्मत बहुत थी। रीवाँ के भारतीय नरेश ने अँग्रेज़ों की सहायता की। रानी देवहार गढ़ के पर्वतीय क्षेत्र में युद्ध कर रही थी। जब जीतने की आशा नहीं रही, तो वह जंगलों की तरफ भाग गई और गोरिल्ला युद्ध करती रही। अँग्रेज सरकार को इसने बहुत परेशान किया परंतु जब सैनिक सामग्री आदि सबकुछ समाप्त हो गया तो अँग्रेज़ों के हाथों में पड़ने की बजाय रानी ने अपनी ही तलवार सीने में भोंककर वीरगति प्राप्त कर ली।

तुलसीपुर की रानी ईश्वरीबाई

गोण्डा (उत्तर प्रदेश) के निकट इस राज्य के राजा दृगराजसिंह को अँग्रेज़ विरोधी

कार्यवाही के कारण कम्पनी सरकार ने नज़रबंद कर दिया था। कैद में उसकी मृत्यु हो गई। रानी ईश्वरी बाई ने रियासत की बागडोर सँभाल ली। रानी के विद्रोह के कारण उसके राज्य को बलरामपुर राज्य में मिला दिया गया। रानी ईश्वरीबाई ने नाना धूंधूपंत, बेगम हज़रत महल और गोंडा के राजा देवीवख्श सिंह के साथ मिलकर देश की स्वतंत्रता के लिये कार्य किया। रानी ने बेगम हज़रत महल की उस समय मदद की जब वह लखनऊ से नेपाल जा रहीं थीं। रानी भी बाद में नेपाल के जंगलों में छुप गई।

चौहान रानी

चौहान रानी अनूप नगर के राजा प्रताप चंडीसिंह की पत्नी थीं। राजा की मृत्यु के पश्चात् अँग्रेजों ने उनकी रियासत हड़प ली थी। रानी ने सन 1857 की क्रांति में अनूप नगर पर पुन: अधिकार कर लिया। जब अँग्रेजों ने पुन: अनूपनगर पर अधिकार कर लिया, अँग्रेज़ सैनिकों को मार डाला और खज़ाना लूट लिया गया। जब अँग्रेजों ने पुन: अनूपनगर पर अधिकार कर लिया तो रानी कहीं अज्ञातवास करने लगीं।

जैतपुर की रानी

बुंदेलखण्ड की रियासत जैतपुर पर अँग्रेजों ने 24 नवंबर 1842 में अधिकार कर लिया था। राजा परीक्षित ने विरोध किया तो अँग्रेजों ने सेना की शक्ति से राजा को भगा दिया। उनका राज्य अँग्रेजों ने अपने समर्थन किसी और को दे दिया। राजा का प्राणांत हो गया। उसकी रानी ने 1857 में जब मालवा, शाहगढ़, बानपुर आदि क्षेत्रों में क्रांति की लहर देखी तो उसने भी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। तहसील के खज़ाने पर अधिकार किया। स्थानीय ठाकुरों ने उसका साथ दिया। अँग्रेज़ों ने जब आक्रमण किया तो चरखेरी राज्य की सेना ने अँग्रेज़ों का साथ दिया। रानी पराजित होकर टेहरी (पर्वतीय क्षेत्र) में चली गई।

रानी तेजी बाई

जालौन राज्य (उत्तर प्रदेश) के राजा गोपाल राव की पत्नी अँग्रेज़ों से नाराज़ थी, क्योंकि सन् 1842 में उसके राज्य को कम्पनी सरकार ने हड़प लिया था और उसे पेंशन दे दी गई थी। सन् 1857 की क्रांति में तात्या टोपे ने इसके पुत्र को राजगद्दी पर बिठा दिया और रानी ने नाना पेशवा की अधीनता स्वीकार कर ली थी। अँग्रेज़ों ने जब इस इलाके पर पुन: अधिकार कर लिया तो रानी को 12 वर्ष का कारावास मिला।

रानी माता तपस्विनी

यह रानी लक्ष्मीबाई की भतीजी थी। 7 वर्ष की अवस्था में विधवा हो गई थी। बचपन का नाम सुनंदा था ससुरालवालों ने नाम गंगाबाई रख दिया वह अपने पिता नारायण राव की मृत्यु के पश्चात् उनकी जागीर की देख-रेख करने लगीं और अँग्रेज़ विरोधी प्रचार करती थी। पूजा-पाठ के अतिरिक्त अस्त्रों-शस्त्रों का अभ्यास भी करती थी। कम्पनी सरकार ने इन्हें एक किले में नज़रबंद कर दिया। उन्हें वहाँ से मुक्त करा लिया गया। वह वहाँ से घर न जाकर नैमिषारण्य में साधना करने लगीं।

अँग्रेज समझे कि यह रानी अब राजनीति से अलग हो गई परंतु रानी माता ने अपने शिष्यों में अँग्रेज विरोधी भावना का प्रचार किया। सन् 1857 की क्रांति में इनके शिष्यों ने जनता में राष्ट्रीय जागृति की भावना फैलाई। रानी स्वयं घोड़े पर बैठकर युद्ध मोर्चों का निरीक्षण करतीं, क्रांति सैनिकों को उत्साहित करतीं थी। अँग्रेज़ों ने विजय प्राप्त करने के बाद रानी को पकड़ने का बहुत प्रयत्न किया। परंतु गाँव वाले उन्हें बचा लेते थे। रानी नेपाल चली गई और वहाँ से अँग्रेजों के खिलाफ प्रचार किया फिर कलकत्ता आई जहाँ उन्होंने महाशक्ति पाठशाला खोली और राष्ट्रीय भावना का प्रचार किया। वह स्वामी विवेकानंद से भी मिली। सन् 1902 में लोकमान्य तिलक उनसे मिलने आये। उनके शिष्य ने नेपाल में टाइल बनाने का एक कारखाना लगाया जहाँ चोरी छुपे हथियार बनते थे और बंगाल के क्रांतिकारियों को भेजे जाते थे। एक देशद्रोही ने अँग्रेज़ी प्रशासन को इसकी सूचना दे दी। सन् 1905 में रानी तपस्विनी ने बंग-अंग-भंग आंदोलन में भी योगदान दिया। सन् 1907 में उनका देहांत हो गया।

रानी द्रौपदी बाई

धार राज्य की रानी ने स्वयं तो क्रांति में भाग नहीं लिया लेकिन क्रांतिकारियों की सहायता की। सितंबर 1857 में क्रांतिकारियों और रानी के बीच एक समझौता हुआ। क्रांतिकारियों ने अँग्रेज़ों के घर फूँकने शुरू किये। वे डाक लूट लेते थें। कर्न डयूरेन्ड ने 22 अक्टूबर 1857 को धार ज़िले की घेराबंदी की, कड़ा संघर्ष हुआ। अँग्रेज़ों ने विजय प्राप्ति के पश्चात् किला ध्वस्त कर दिया। धार राज्य अस्थाई रूप से जब्त कर लिया गया।

कुमारी मैना नाना साहब की मुँहबोली बेटी थी कुमारी मैना और ये नाना साहब की सेना में सक्रिय थीं। जब नाना साहब का कानपुर पर कब्ज़ा हुआ तब अँग्रेज बच्चों और स्त्रियों को इसकी सुरक्षा में रखा गया। जब अँग्रेजों का कानपुर पर पुन: अधिकार हुआ तो इसे बंदी बना लिया गया। अंग्रेज इनसे नाना पेशवा संबंधी जानकारी चाहते थे। इसे एक बार आग में डाल-कर निकाला गया फिर भी जब इसने कुछ नहीं बताया तो इसे पुन: आग में डालकर जला दिया गया।

अज़ीज़न अपने समय की कानपुर की मशहूर नर्तकी थी आजीजन बाई इसके भाई को अँग्रेज़ों ने इटावा में गोली मार दी तब से ही यह क्रांति से लड़ गई थी। इसके यहाँ क्रांतिकारियों की बैठकें होने लगीं, इसने कानपुर की घुड़सवार सेना के अधिकारी सरवर खान को क्रांति आंदोलन से जोड़ा और क्रांतिकारियों का कानपुर पर अधिकार हुआ। यह छावनियों में जाकर नाच दिखाकर सिपाहियों से संपर्क करती और क्रांति का प्रचार करती थी। इसने स्त्रियों की सेना भी बनाई थी वह मोर्चों पर गोला बारूद और खाने-पीने का सामान पहुँचाती थी। वह जिस मार्ग से गुज़रती थी लोग उसकी जय-जयकार करते थे। जब यह बंदी बनाकर पेश की गई तो अँग्रेज़ सेनापति इसको देखकर दंग रह गया। उसने कहा यदि तुम याचना करो तो तुम्हें क्षमा कर दिया जायेगा। अज़ीज़न ने घृणा से उसके इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया फलस्वरूप उसके कोमल शरीर को गोलियों से छेद दिया गया।

हरे बुर्के वाली वीरांगना दिल्ली के 1857 के क्रांति आंदोलन में इस स्त्री की बहुत चर्चा है। इसका नाम किसी को नहीं मालूम है। 65-70 वर्षीया यह बुढ़िया हरा बुर्का पहन कर नगर में जगह-जगह प्रचार करती थी और युद्ध के मोर्चे पर मर्दाना पोशाक में जाती थी। अँग्रेज़ अधिकारी इसको 'जोन ऑफ आर्क ऑफ़ दिल्ली' कहते थे उनके अनुसार इसमें 4-5 सैनिकों के बराबर शक्ति थी। जब इसे बंदी बनाया गया तो इसने एक दर्जन से अधिक सैनिकों को मारा तथा जख्मी कर दिया। अंतत: इसे अंबाला जेल में फांसी पर लटका दिया गया।

बिहार के बाबू कुँवर सिंह की छत्र छाया में रहने वाली धर्मन बाई और कर्मन बाई ने बाबू साहब को क्रांति की प्रेरणा दी। जगदीशपुर और दलीपपुर की महिलाओं ने बाबू कुँवर सिंह के भाई बाबू अमरसिंह को सहायता की। बद्री की ठकुराइन, रानी दिगंबर कौर, टीकरी की रानी ने भी क्रांति में सहयोग दिया। सन् 1858 में मैसूर दुर्ग की रक्षा करते हुए अनेक महिलाओं ने बलिदान दिया। रामपुर की इला और दुर्गा, कुरलाहली गाँव की पोंगरी, निमाड़ की मंजू और शाह देवी को आजीवन कारावास, धौली बावली की सुरभी, जौनपुर के माही और मेहरी, देवरिया की देवी रानी, नासिक महाराष्ट्र की गंगा आदि ऐसी वीरांगनाएँ हैं जिन्हें कारावास में रखा गया और वहीं उनकी मृत्यु हो गई।

सन् सत्तावन् की क्रांति की जानकारी या तो नष्ट कर दी गई या कहीं अभिलेखागार के बस्तों में दबी होने के कारण अभी तक पूरी तरह से लोगों के सामने नहीं आ पाई। मुज़फ़्फ़र नगर जनपद में किसानों और मज़दूर घरानों की स्त्रियों ने झण्डा उठाया। आशा रानी गुर्जर ने स्त्रियों की एक टोली बनाई। इन्होंने कैराना और शामली तहसील पर धावा बोला। बख़्तावरी की टोली में 100 आंदोलनकारी महिलाएँ थीं। भगवती देवी त्यागी को क्रांति प्रचार के लिये तोप से उड़ाया गया था। बीबी ख़ातून गुर्जर औरतों का जत्था बनाकर गाँव-गाँव घूमीं, इन्हें फांसी दी गई। मामकौर (गड़रिया) ने अपनी जाति की महिलाओं की सशस्त्र टोली बनाई। ये पुरुषवेश में रहती थीं। घुड़सवारी करतीं थीं तथा अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करती थीं। इन्होंने मुज़फ्फ़रनगर पर हमला किया था। इन्हें भी फांसी दी गई। शोभा देवी ने भी महिलाओं की एक सशस्त्र टोली बनाई, अँग्रेज़ सैनिकों का इस टोली से मुकाबला हुआ बहुत लोग मारे गये, पकड़े जाने पर इन्हें फांसी दी गई इसी प्रकार भगवानी देवी, इन्द्रकौर जमीला, रहीमों, राजकौर, रणवीरी बाल्मीक, उमदा, ये सब 18 से तीस वर्ष की अवस्था की स्त्रियाँ थीं। मुज़फ्फ़र नगर जनपद में 225 महिलाओं को फांसी दी गई। थाना भवन की काज़ी परिवार की असग़री बेगम को क्रांति संबंधी गतिविधियों के कारण ज़िंदा जला दिया गया। यह तो केवल एक जनपद को बात है पूरे भारतवर्ष में तो कितनी ही महिलाओं ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस क्रांति यज्ञ में सहयोग दिया होगा। इस का अनुमान लगाना कठिन है। स्वतंत्र भारत इन वीरांगनाओं के प्रति नतमस्तक है जिनके बलिदानों ने देश को आज़ाद कराया।

संपर्क : बी-139, मयूर विहार,
फेज-II दिल्ली- 110091

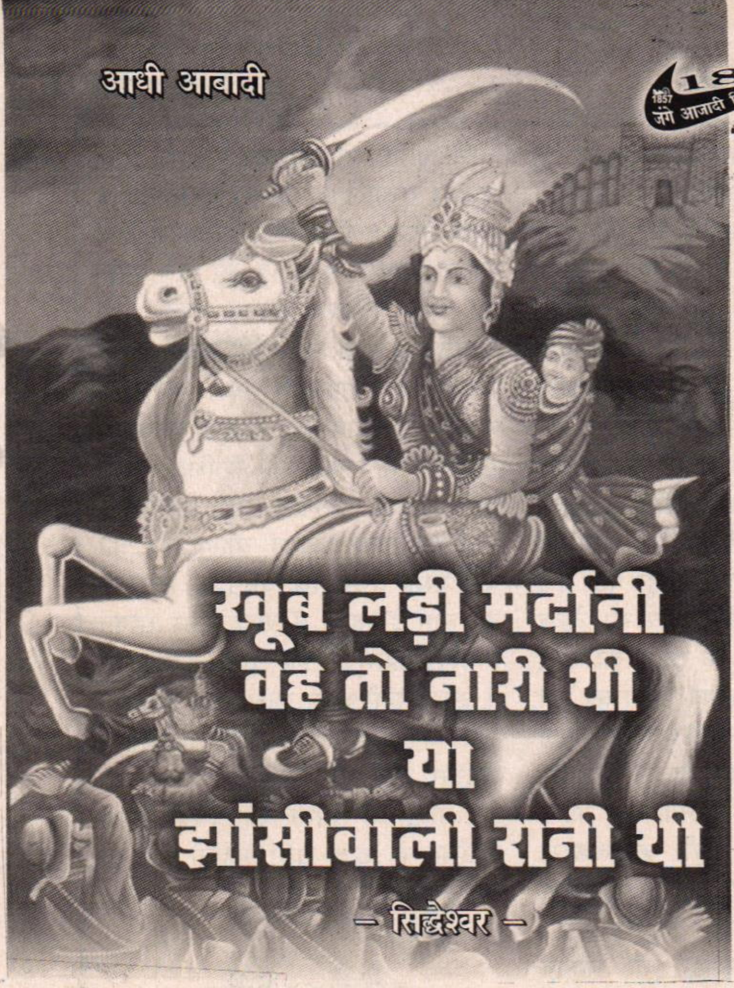

खूब लड़ी मर्दानी वह तो नारी थी या झांसीवाली रानी थी

— सिद्धेश्वर —

आजादी हासिल करने के लिए 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की लड़ाई में स्त्री और पुरुष दोनों की अपनी-अपनी सहंभागिता थी। इतिहास इसका गवाह है। आजादी की इस पहली लड़ाई के दौरान ऐसी महिलाएँ भी थीं जिनका बहादुर नेतृत्व इतिहास में किसी से कम नहीं है। स्वतंत्रता संग्राम की इस लड़ाई में मंगल पाण्डे, मातादीन मौलवी अहमद उल्ला शाह, नाना साहब जैसे अमर सेनानी तो थे ही झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और झलाकारी बाई जैसी महान आत्माओं की भी कुर्बानी थी ये इतिहास में हमेशा उज्जवल अक्षरों में लिखी रहेगी।

आधुनिक हिंदी काव्य की यशस्विनी कवमित्री सभद्रा कुमारी चौहान की कविता 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी' महारानी लक्ष्मीबाई पर केंद्रीत है। इसी से मिलती जुलती श्यामनारायण प्रसाद द्वारा राचते एक खण्डकाव्य कृति महारानी लक्ष्मी बाई शीर्षक से मिलती है। स्वतंत्रता संग्राम में जूझने वाली एक अन्य रानी अवंती बाई का नाम भी भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। वे रामगढ़ की थी। 1857 की क्रांति में अँग्रेज सेना के साथ युद्ध करते हुए उन्होंने वीर गति प्राप्त की थी। रामगढ़ मध्य प्रदेश के मण्डला जिले में स्थित हैं। रामगढ़ की इस वीर रानी पर पहली रचना बंदावन लाल वर्मा की उपन्यासिक कृति 'रामगढ़ की रानी' है और दूसरी रचना डॉ. राहुल की प्रबंध काव्य कृति 'रामगढ़ की रणलक्ष्मी' है। इस प्रबंधकाव्य में रानी अवंतीबाई की शौर्यगाथा वर्णित है। इस प्रकार हम पाते है कि बहादुर शाह जफर, अवंती बाई, तात्या टोपे कुंवर सिंह मौलवी अहमदशाह, अजीमुल्ला खाँ, झलकारी बाई, अजीजन बाई, हैदरी बाई, रानी तलमुंद कोदर आदि ने गंगा-ए-आजादी 1857 में साहनीय योगदान किया। इस स्वतंत्रता संग्राम में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और बेगम हजरत महल जैसी महिलाओं ने तो अपने प्राणों की बाजी लगाई ही, कई साधारण महिलाओं ने भी बढ़ चढ़कर लड़ाई में हिस्सा लिया।

इन विरांगनाओं ने मुक्ति योद्धाओं को अपने घरों में छिपाने, उन्हें सुरक्षित जगह पहुँचाने, जासूसी करने, घायलों की तिमारदारी करने, संदेश पहुँचाने से लेकर खुद हाथ में बंदूक या तलवार लेकर दुश्मनों पर टूट पड़ने तक की भूमिका साहसपूर्वक निभाई। इनमें झलकारी बाई, महावीरी देवी, रनवीरी देवी, सहेजा देवी, अजीजन बाई और हैदरीबाई शामिल हैं। लेखिका वंदना मिश्र के अनुसार लखनऊ के इजरिया गाँव की पासी जाति की इस देवी ने एक पेड़ की डाल पर बैठकर अपने सधे निशाने से 35 अँग्रेज सैनिकों को मार गिराया था।

मीर्जा हादी रसव के अमर उपन्यास 'उमराव जान अदा' की नायिका उमराव जान आदा की शिष्या नर्तकी अजीजन बाई 1857 की लड़ाई से कुछ ही पहले लखनऊ से कानपुर पहुँची थी। मुक्ति युद्ध में अपनी हिस्सेदारी निभाने के लिए उसने न सिर्फ अपना पेशा छोड़ा बल्कि अपने साथ कई अन्य तावायफों को भी 1857 की क्रांति के सूत्रधारों में से एक नाना साहब का साथ देने के लिए प्रशस्ति किया और उन सबको साथ लेकर नाना साहब की फौज में भर्ती है गई। अजीजन की मस्तानी टोली ने अँग्रेज सैनिकों के छक्के छुड़ा दिए थे।

इसी प्रकार बेगाम हजरत महल द्वारा गठित महिला सैनिक दल में प्रशिक्षण प्राप्त स्त्रियों की टुकड़ी का नेतृत्व भी एक महिला ने ही संभाला था। उसने फौजी वेश अपनाकर स्त्रियों को तोपगोला बंदूक चलाना सिखाया रहीमी युद्ध के दौरान गिरफ्तार हुई थीं और हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ गई थी माफी माँगने के प्रस्ताव को ठुकाराकर। बेगम हजरत महल के बाद जिस दूसरी महिला ने अवध के मुक्ति युद्ध में शुरू से आखिरी तक लड़ाई लड़ी वह थी तुलसीपुर की रानी राजेश्वरी देवी। गोंडा से 40 किलोमीटर दूर स्थित तुलसीपुर रियासत की रानी राजेश्वरी देवी की 1857 के मुक्ति संग्राम में भागीदारी अंतिम समय तक संघर्ष और अविश्वसणीय वीरता के बावजूद उपेक्षित ही रही।

इसी तरह लखनऊ की एक तवायफ हैदरी बाई भी जिनके कोठे पर वहाँ का थानेदार महसूह खान और सेठ बैजनाथ रोज आते थे। वहाँ का थानेदार कई बार क्रांतिकारियों के खिलाफ योजनाओं पर बात किया करता था। हैदरीबाई महत्त्वपूर्ण

सूचनाएँ क्रांतिकारियों को पहुँचाती थी। शक होने पर उन्होंने अपना कार्य बंद कर दिया। वह रहीमी सेना में शामिल हो गई। ईस्ट इंडिया कंपनी के दस्तावेज के अनुसार सलोन जिले में सिमरपहा के तालुकदार वसंत सिंह की पत्नी, दरियाबाद जिले में मीरजाफर की रानी तालमुंद कोदूर, सलोन जिले की शामसयुर की ठकुराइन बैजनाथ कोदूर तथा ठकुराइन सन्नाथ कोदूर आदि विद्रोह में शामिल थी। इसी प्रकार दरियाबाद जिला कमोबेश आज का बाएबंकी, जिला में मिर्जापुर रियासत की तलमुंद कोदूर विद्रोह में लगातार सक्रिय रहीं। नाना साहब पेशवा की पुत्री मैनाबाई अस्त्र-शस्त्र चलाने में कुशल थीं रानी लक्ष्मी बाई की तरह वह भी अच्छी घुड़सवार थी और छोड़े वह भी गिरफ्तार हुई। माफी न माँगने पर हाथ-पैर बाँधकर उसे जलती आग में फेंका गया। अनूप शहर के थाने पर लगे यूनियन जैक को उतार कर हरा झँडा फराने वाली भी एक महिला चौहान रानी ही थी। मुजफ्फर जिले में आशा देवी के साथ 11 युवतियों को विद्रोह के जुर्म में फाँसी दे दी गई थी। इन स्त्रियों में हिंदू भी थी और मुसलमान भी। असगारी बेगम, हबीबा, हनीबा और शोभा देवी, भगवती देवी, माम कौर आदि अलग-अलग परिवारों और धर्मों की महिलाएँ भी, लेकिन हिंदू और मुसलमान होने के साथ-साथ वे हिंदुस्तानी थीं, जिन्होंने विदोशियों को अपने वतन से बाहर करने की लड़ाई में अपने प्राण बलिदान किए। आजादी की लड़ाई के योंद्धाओं में मध्य भारत के जैतपुर की रानी का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

झाँसी में रानी लक्ष्मीबाई के साथ भी बड़ी संख्या में महिलाओं ने लड़ाई का हर मोर्चा संभाला था। हथियार चलाना हो या उनकी मरम्मत करनी हो, वे हर काम में निपूण थी। लक्ष्मीबाई ने भी महिलाओं की एक अलग टुकड़ी बनाई थी, जिसका नाम था दुर्गा दल। लंबे अरसे तक गुमनाम रही 1857 की नामिकाओं में से एक झलकारीबाई की बहादुरी की कहानियाँ बुंदलखंड के लोगों की जुबान पर आज भी है। झलकारी बाई दलित थी। अपनी बहादुरी और प्रत्युत्पन्नमति के बूते उन्होंने दुर्गा दल का नेतृत्व, प्राप्त किया था। लक्ष्मीबाई की अंगरक्षिकाएँ चौबीसों घंटे छाया की तरह उनके साथ रहने वाली सुंदर-मुंदर और काशी भी दुर्गा दल की ही सैनिक थी।

सन् 1817 की भीमाबाई होल्कर तथा 1824 की रानी चेन्नमा ने अँग्रेजों से टक्कर लेने अदभुत शौर्य का परिचय दिया। फेयर मेडे ऑफ दिल्ली के नाम से मशहूर पंडी रानी मर्दाने वेश में घुड़सवार पल्टन का नेतृत्व करती हुई अँग्रेज फोज के राक्षसों का संहार करती रही थी। नाना साहब पेशवा की पुत्री मैना देवी को अँग्रेजों द्वारा जीवित जलाए जाने का लोमहर्षक वर्णन दिल दहलाने वाला है।

इसी प्रकार बेगम आलिया नाना साहब और तात्या टोपे की क्रांतिकारी गतिविधियों में रहकर अंत तक ब्रिटिश सामाज्य के विरूद्ध लड़ती रहीं। बुलंदशहर के अनूपशहर की चौहान रानी ने राजा प्रताप सिंह की रियासत पर अधिकार कर विद्रोह के दौरान कुचहरी को लूट लिया और स्वतंत्रता की घोषण। की। प. बंगाल में सन्यासी विद्रोह की नेत्री देवी चौधुरानी ने भूमिगत गुरिल्ला युद्ध में अँग्रेजों की नाक में दम कर रखा था। सन् 1845 में लाहौर की शेरनी के नाम से पुकारी जाने वाली महारानी जिंदा एक निडर वीर क्रांतिकारी महिला भी जो एक कुशल संचालिका भी थी। तुलसीपुर के राजा दृगराज सिंह की क्रांतिकारी रानी ईश्वर कुमारी ने 1857 की जन क्रांति के वक्त हथियार उठाए अपनी सेना संगठित अँग्रेजों के दाँत खट्टे किए। बंगाल की तपस्विनी माता सुंदरी ने बंगाल में महाकाली संस्कृत पाठशाला खोलकर महिलाओं को शिक्षित किया। इसी प्रकार जालौन की तासीबाई, ग्वालियर की बैजबाई बहादुरशाह की बेटी बस्ती बेगम तथा बुदरी की ठकुरानी का नाम इतिहास में सदा अमर रहेगा। हमारे इतिहास में इस प्रकार महिलाओं ने अपने सतीत्व के साथ-साथ देश की रक्षा के लिए अपने जौहर दिखलाए। आखिर तभी तो सुप्रसिद्ध कविता की इस पंक्ति से भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी।

स्वाधीनता के साठ साल: एक विश्लेषण

-उदय कुमार 'राज़'

आज जब वर्ष 2007 में स्वाधीनता के साठ साल पूरे हो रहे हैं, तो यह स्वाभाविक हो जाता है कि हम आजादी के बाद से अब तक की उपलब्धियों का लेखा-जोखा करें। आजादी के लिए आज से ढ़ाई सौ बर्ष पूर्व यानी 1757 में जो कसमसाहट पैदा हुई उसकी परिणति उसके एक सौ साल बाद यानी 1857 में जन-क्रांति का रूप लिया जिसे स्वतंत्रता की पहली लड़ाई कहा जाता है। इस जनक्रांति के नब्बे वर्ष बाद यानी 1947 में हमें आजादी मिली। गुलामी से मुक्ति के लिए इस देश के न जाने कितने लोगों ने अपनी कुर्बानी दी और अपना सब कुछ गंवाया। आजादी-संघर्ष में अपने को न्योछावर करनेवाले सेनानियों-बलिदानियों ने क्या-क्या सपने देखे, उनके मन में इस देश के बारे में न जाने कितनी तस्वीरें रेखांकित हुईं। उनके सपने आजादी के साठ साल गुजर जाने के बाद पूरे हुए या नहीं, आजादी के बाद कौन-कौन सी उपलब्धियाँ हुईं, इसका मूल्यांकन करना आज जरूरी हो जाता है, क्योंकि आजादी की ही रक जयंती मनाते हमें आत्म विश्लेषण करने के साथ-साथ भविष्य के लिए भी नए सपने संजोने हैं। इसके साथ ही आजादी प्राप्त करने के लिए बलिदान हुए उन शहीदों को भी-याद करना है जिन्होंने अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया।

इसमें तनिक संदेह नहीं कि आजादी के इन साठ वर्षों में भारत ने प्राय: सभी दिशाओं में प्रगति की है और सफलता के नए-नए क्षितिजों को छुआ है। हमारे जीवन में, हमारे चिंतन में और हमारी जीवन शैली में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है। साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय बदलाव आए हैं। हमारे संचार माध्यमों के साथ-साथ प्रौद्योगिकी तकनीक में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। इंटरनेट और डिजीटल के इस युग में हमारा दृष्टिकोण भी बदला है नारी स्वातंत्र्य और दलित चेतना में उभार तो आया है, किंतु नारी और दलितों के विकास के क्षेत्र में हमारी मानसिकाता और हमारे विचारों में सकारात्मक बदलाव की गति इतनी धीमी है कि अभी ऐसा बहुत कुछ है जिसे करना शेष है। सच मानिए नारी और दलित के बारे में हमारी नजरिया जस-की तस है, हलांकि लोकतांत्रिक शक्तियाँ निरंतर ताकतवर हुई हैं जिसके परिणामस्वरूप उनमें काफी चेतना आई है और वे अपने अधिकारों के प्रति सजग हुए हैं।

दरअसल बुनियादी बात यह है कि दलितों के जीवन में झांक कर उनकी पीड़ा से तदात्म होने का प्रयास लोग नहीं कर पा रहे हैं। फिर भी स्वागत योग्य है कि दलित चेतना कार उन्मेष सामाजिक जड़ता के विरूद्ध एक कारगर पहल देखने को मिल रहा हैं उदाहरण के लिए गिरिराज किशोर के परिशिष्ट उपन्यास में दलित चेतना का सही परिप्रेक्ष्य देखा जा सकता हैं इसी प्रकार मोहनदास नेमिश राय की 'अपने-अपने पिंजरे' और ओम प्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' शीर्षक आत्म कथाओं में एक जीवित तार की मानिंद सच्चाईयों से रू-ब-रू हुआ जा सकता है।

पिछले साठ सालों में भारतीय समाज में समग्र संरचनात्मक परिवर्तन और जनांदोलन का जो क्रम प्रारंभ हुआ है उससे जनतांत्रिक शक्तियाँ जहाँ मजबूत और मुखर हुई हैं, वहीं समाज के हर तबके का प्रतिनिधित्व सशक्त हुआ है। जब हम आज के भारतीय समाज पर नजर डालते हैं तो इसमें एक अग्रणी उद्यमशील मध्य वर्ग का उदय दिखता है और शिक्षित युवा वर्ग में आधुनिकीकरण की तीव्र आकांक्षा भी। मगर सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर उनमें कई तरह का विरोधाभास दिखाई पड़ता है। एक तरफ तो आज के भारतीय समाज में उद्यमशीलता की ओर उन्मुख एक वर्ग विकसित हुआ है, तो दूसरी तरफ एक ऐसा भी वर्ग है जो सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत विकासशील नहीं है। यानी आर्थिक विकास के साथ-साथ सांस्कृतिक विकास का अभाव दिखता है खासकर मध्य वर्ग के भीतर धन अर्जित करने की प्रवृत्ति बढ़ी है, अवसरवाद उनपर हावी है, किंतु मानवतावादी मूल्यों के प्रति उनकी आस्था नहीं है। वे केवल पश्चिम की उपभोक्तावादी संस्कृति का अंधानुकरण कर रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप सारे पुराने मूल्य ध्वस्त हो रहे हैं।

13-15 जुलाई 2007 को अमेरिका के न्यूयॉर्क में भारतीय विद्या भवन, न्यूयॉर्क की सहभागिता से भारत के विदेश मंत्रालय द्वारा आयोजित आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में भाग लेकर लौटे 'विचार दृष्टि' के संपादक श्री सिद्धेश्वर जी से सुने यात्रा-वृतांत के उपभोक्तावादी पश्चिमी संस्कृति से संदर्भित अंश को यहाँ प्रस्तुत करना उचित होगा। विगत 19 जुलाई 2007 को राष्ट्रीय विचार मंच, दिल्ली द्वारा शकरपुर के स्कूल ब्लॉक

स्थित मेरे निवास प्रांगण में आयोजित एक कार्यक्रम में उन्होंने कहा कि अमेरिका के न्यूयॉर्क शहर की हर सड़क पर खासकर होटल पेंसिल्वानिया के ठीक सामने स्थित मेडिसन स्क्वायर के आसपास नगर की लड़कियाँ ही नहीं, प्रायः सभी उम्र की महिलाओं के शरीर के पहनावे ऊपर के साथ-साथ नीचे से भी छोटे होते देखे गए वह आखिर किस संस्कृति का द्योतक है। उन्होंने इस बात पर अपनी चिंता इसलिए जताई कि जिस तेजी से भारत के युवाओं द्वारा पश्चिमी उपभोक्तावादी अपसंस्कृति का अँधानुकरण किया ज रहा है, उन्हें इस बात का भय है कि इस देश के मूल्यों का क्या होगा, इसकी वे मर्यादाएँ कहाँ रहेंगी जिसके बल पर इकबाल ने कहा-'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी' 'आखिर हमारी भारतीय संस्कृति ही तो वह बची है जिसके कारण हमारी हस्ती और अस्मिता लोगों के चाहने पर भी नहीं मिट पा रही है।

ऐसा नहीं है कि प्राचीन समय में खान-पान, विलासिता, रहन-सहन और पहनावे आदि के प्रति लोग आकर्षित नहीं थे तथा मांसाहारी और मदिरापान नहीं करते थे, मगर यह उपभोक्तावाद उस वक्त भारतीय संस्कृति में नीचे स्तर पर था, आज ऊपर है तथा लोगों की प्राथमिक सूची में सम्मिलित है। दरअसल, पाश्चात्य जगत में उपभोग का अर्थ है- उपभोग करके फेंक देना। वहाँ एक वर्ष के बाद ही लोग अपनी गाड़ी बदल देते हैं, कपड़े फेंक देते हैं। ठीक इसी प्रकार पारिवारिक रिश्ते भी टूटने में देर नहीं लगती है। इस देश में भी आज ऐसा ही देखा जा रहा है।

जहाँ तक अपने देश की भाषा हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के उन्नयन का प्रश्न है आजादी के बाद हमने हिंदी को राजनीति के गलियारे, में ढकेलकर उन लेगों के जिम्मे कर दिया जिनके संभ्रांत मन के कोने में कहीं-न-कहीं अँग्रेजी भाषा के लिए अँग्रेजियत छुपी हुई थी। अँग्रेजियत मानसिकता के इन रहनुमाओं ने अपनी पहचान बनाए रखने और समाज में अपना बर्चस्व बरकरार रखने के लिए हिंदुस्तानी भाषा को कठिन दुर्लभ तथा अव्यावहारिक कहकर अँग्रेजी को ही प्रतिष्ठित किया। इस संदर्भ में हमें याद आती हैं 'विचार दृष्टि के संपादक श्री सिद्धेश्वर जी के 'वैश्वीकरण, मीडिया और हिंदी' शीर्षक के उस आलेख की पंक्तियाँ जिसे उन्होंने पिछले दिनों 13-15 जुलाई 2007 को न्यूयॉर्क, अमेरिका में आयोजित आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन के 13 जुलाई को अपराह्न फैशन इंस्टीच्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी के ऑडिटोरियम में हुए शैक्षिक सत्र में प्रस्तुत करते हुए कहा,-''दरअसल, आजादी हासिल करने के साठ साल बाद भी हम उपनिवेशिक मानसिकत से अभी तक उबर नहीं पाए हैं। अँग्रेजियत मानसिकता के लोग आज भी हम पर शासन कर रहे हैं। होता यह है कि किसी दूसरे देश की भाषा अस्मिता को जब हम अपनी अभिव्यक्ति और चेतना का पर्याय बना लेते हैं तो वह धीरे-धीरे हमारी रगों में संवेदना-सी स्पंदित होने लगती है और संस्कार-सी अपनी जड़ें जमाने लगती हैं। उसकी ताशिर माँ के दूध की तरह हमारी अपनी संस्कृति से भी पुष्ट करने लगती है। सच तो यह है कि किसी नस्ल को परतंत्रता से स्वतंत्र हुआ जा सकता है, लेकिन उसकी भाषा अस्मिता की परतंत्रता से स्वतंत्र होना संभव नहीं, क्योंकि उसकी भाषा अस्मिता हमारी भाषा अस्मिता का अपहरण कर हमें अपनी संस्कति, विरासत से अपदस्त कर देती है उसके स्वाभाविक खतरे से हम अब भी सचेत नहीं हो पा रहे हैं। दरअसल किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दृढ़ राजनीतिक इच्छाशक्ति और लगन की अपेक्षा होती है, जिसका हमारे राजनेताओं में सर्वथा अभाव नजर आता है।''

स्वतंत्रता प्राप्ति से आज तक के इस साठ साल के दौरान साहित्यिक परिदृश्य में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इस दौरान की समाजार्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने कई साहित्यिक आंदोलनों को जन्म दिया हैं साहित्य की प्रायः प्रत्येक विधाओं यथा कविता, कहानी, उपन्यास,संस्मरण, डायरी, यात्रा-वृतांत तथा रिपोर्टताज आदि में जनवाद, सांप्रदायिक सद्भाव, समरसता, सम्राज्यवाद विरोध और शोषण मूलक व्यवस्था का प्रतिकार की अभिव्यक्ति पाती गई हैं ये सब हमारे वे मूल्य हैं जो हमें स्वाधीनता आंदोलन से विरासत में मिले, किंतु दुखद स्थिति यह है कि धीरे-धीरे इन मूल्यों का अंतरण होता जा रहा हैं। आज आचरणगत स्खलन और वैचारिक भटकाव की सारी सामग्रियाँ हमारे आस-पास मौजूद हैं। इस संदर्भ में कुछ तथाकथित नेताओं के पीछे लपकती लोगों की भीड़ को देखकर कवि संजय चतुर्वेदी को लगता है:

''क्या हम शहीदों की विरासत के योग्य हैं
या शहीदों से ही कहीं कुछ गलत हो गया
शायद आजादी के बाद जैसी शिक्षा मिली
उससे अशिक्षा की ओर बढ़ चला हूँ।''

आज जिस तेजी से पद-पुरस्कार, पैसा-प्रतिष्ठा और आत्म विज्ञापन के मोह में हम आजादी की लड़ाई से परिप्रेक्ष्य से दूर होते जा रहे हैं, उसमें कवि संजय की उपर्युक्त पंक्तियाँ अपने समय और समाज पर एक सटीक टिप्पणी करती हैं। भूमण्डलीकरण, उदारता और विनेशीकरण के चकाचौंध में हमारा परिप्रेक्ष्य धूमिल होता जा रहा है। आखिर तभी तो फ़ैज अहमद फ़ैज के इस शेर से आजादी का रूप व्याख्यायित होता है-

''ये दाग़-दाग उजाला ये सब ग़जीदा सहर वो इंतजार था जिसका ये वो सहर तो न थी।''

ठीक इसी तरह साहिर लुधियानवी ने कहा-

''चलो कि चल के सियासी मकाबिरों से कहें
कि हमको जग-ओ-जदल के चलन से नफरत है
जिसे लहू के सिवा कोई रंग न रास आए
हमें हयात के उस पैरहन से नफरत है।''

आपातकाल के दौरान और ठीक इसके

बाद प्रतिरोध के स्वर उग्र हो उठे। बाबा नागार्जुन से लेकर युवा रचनाकारों ने दमन और उत्पीड़न के विरूद्ध शब्द की ताकत से काम लिया। भवानी प्रसाद मिश्र ने भी अपना प्रतिरोध कविता में दर्ज किया। उसी वक्त दुष्यंत कुमार ने- लोकनायक जय प्रकाश को लक्ष्य करके यह शेर कहा:

''एक बूढ़ा आदमी है मूल्क में या यों कहें इस अँधेरी कोठरी में एक रौशनदान है।''

'पराजित पीढ़ी के गीत' में धर्मवीर भारती कहते हैं-

''हम सबके दामन पर दाग़
हम सबकी आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म
हम सबके हाथों में टूटी तलवारों की मूठ।''

हिंदी में भारतेंदु हरिश्चंद्र उर्दू में अल्ताफ हुसैन हाली, असमिया में लक्ष्मीनाथ बेज बरूआ, बांग्ला में रवीन्द्रनाथ टैगोर और शरदचंद चट्टोपाध्याय, मराठी में विष्णु शास्त्री चिपसुणकर तथा तमिल में सुब्रहमण्य भारती भारतीये समाज की सामाजिक संस्कृति के ऐसे नायाब हीरे हैं जिन्होंने आजाद भारत की एक सुदृढ़ वैचारिक भावभूमि निर्मित करने में अहम भूमिका निभाई।

आज जब हम स्वाधीनता की 60वीं वर्षगांठ का जशन मना रहे हैं, वैश्वीकृत विश्व एक वैश्विक ग्राम (Global Village) का रूप ले चुका है, सूचना क्रांति ने जन-जन तक पहुँचकर अपनी मोहक छटा बिखेरी है। आजाद भारत के साठ सालों में समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं की संख्या बढ़ी है। उनकी गुणवत्ता में बदलाव आया है और प्रसार संख्या ने नई बुलंदियाँ छुई हैं। अखबारों की सफर ने एक संस्करणीय से आगे बढ़कर बहुसंस्करणीय दैनिकों तक पहुँचा है और क्षेत्रीय समाचार पत्र सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के अनुरूप स्वयं को ढालने में प्रयासरत हैं। आज हम सामुदायिक रेडियो और एम.एफ. चैनलों की क्रांति के दौर में हैं। बेब पत्रकारिता के विकास की वजह से विभिन्न देशों और विभिन्न समाजों के बीच सूचना, ज्ञान, आचार-विचार और जीवन शैली का नए कोण से आदान-प्रदान हुआ है। कुल मिलाकर देखा जाए तो संचार माध्यमों की क्रियाशीलता ने नए आयाम ग्रहण किए हैं और समाज, साहित्य या अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने के मामले में मीडिया की दक्षता बढ़ी है,किंतु दुखद स्थिति यह है कि आजादी के साठ साल बाद भी मीडिया उन लोगों पर अपना ध्यान केंद्रीत नहीं कर पाया है जो गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करते हैं, जिनके लिए दोजुन की रोटी ही सबसे बड़ा सवाल है और जिनकी झोपड़ियों में विकास की किरणें अभी तक नहीं जा पा रही हैं। इसलिए वे समाज में विकास की मुख्यधारा में हाशिए पर हैं।

इंटरनेट और डिजिटल के इस युग में इस देश के एक अंचल की घटना को दूर-दराज के दूसरे अंचलों तक पहुँचाने के प्रयासों की प्रारंभिक और खूबसूरत झलक हमें आजादी प्राप्ति के आस-पास के काल में आसानी से मिल जाती है। बाहरी दुनिया से हमारा संपर्क और एशिया के साथ-साथ यूरोपीय देशों की विचारधाराओं के साथ हमारा संबंध प्रारंभ में मीडिया के माध्यम से ही हो पाता है। इन सब उपलब्धियों के बावजूद हमें यह कहने में कतई हिचक नहीं कि जिस समतामूलक समाज के निर्माण का सपना आजादी के समय या संविधान के निर्माण के वक्त देखा गया, उसे पूरा करने में संचार माध्यमों की भूमिका संदेहों, भ्रांतियों या विश्लेषणों से परे नहीं है। पत्रकारिता अपने सिद्धांतों पर अडिग रहते हुए मानवता और विकास का उचित पथ-प्रदर्शन करने में सफल नहीं रही है। संवर्णों और दलितों, पिछड़ों के द्वंद्व, देशी और विदेशी के द्वंद्व, अमीर और गरीबी की खाई या परंपरा और आधुनिकता के विवादों का स्तर जस का तस दिख रहा है। स्टिंग आपरेशन के जरिए मीडिया किस वर्ग की जनता का कल्याण करना चहती है। विदर्भ तथा दूसरे क्षेत्रों में किसानों की आत्म हत्याओं की घटनाएँ लगातार दो-तीन साल तक मुख्यधारा के मीडिया क्यों हाशिए पर रहीं और सूचना क्रांति के इस उन्नत दौर में भी प्रकाशक हिंदी के किसी लेखक की दो-तीन सौ प्रतियाँ छापकर उसे क्यों अपमानित करते हैं? इसी प्रकार कुछ ही पुस्तकें किस प्रकार चर्चा के केंद्र में जबरन आ जाती हैं जबकि कुछ का जिक्र तक नहीं हो पाता चाहे वे बराबर के महत्त्व की हों।

जहाँ तक कृषि क्षेत्र में हुई प्रगति का सवाल है इसमें संदेह नहीं कि पिछले साठ साल के अंतराल में हरित क्रांति हुई है जिससे देश स्वावलंबी बना, क्योंकि किसानों ने उद्यमशीलता का परिचय दिया है, किंतु बिचौलिए तो मालामाल हुए, किसानों को उनकी उपज का लागत मूल्य भी नहीं मिल पाता जिसका दुष्परिणाम है कि किसान लगातार आत्महत्या करने को मजबूर हो रहे हैं और किसानों के बच्चों का अनवरत रूप से गाँवों से शहर की ओर पलायन जारी हैं, युवाओं में बेरोजगारी पराकाष्ठा पर है, क्योंकि यहाँ योजनाए अपने देश की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर नहीं बनाए जातीं। इन साठ सालों में हमारी असफलताएँ भी कम गंभीर नहीं हैं।

पहले तो शिक्षा के क्षेत्र में सामान्यीकरण यानी शिक्षा में एकरूपता और सबके लिए शिक्षा प्रदान करने की दिशा में हम लगातार पिछड़ते गए, जबकि हमारे साथ के दक्षिण कोरिया, मलेशिया, इंडोनेशिया और पूर्वी यूरोप के कई देश जो हमारे साथ थे और कई मामलों में तो पीछे भी-इस साठ सालों में हमसे काफी आगे बढ़ गए। उनके यहाँ साक्षरता सौ प्रतिशत है और प्रतिव्यक्ति आय हमसे पच्चीस गुना अधिक। गाँधीजी का सार्वभौमिक शिक्षा और साक्षरता का जो उद्देश्य था, इन साठ वर्षों में हम, उसे पूरा न कर पाए। जनसंख्या के लगातार बढ़ते जाने से भी शिक्षा में हम असफल हुए ।

कुल मिलाकर देखा जाए तो आजादी के इन साठ सालों में कुछ खट्टे-मीठे अनुभव हमारे रहे हैं और कुछ दिशाओं में हमारे समक्ष चुनौतियाँ अभी भी हैं जिसका सामना हमें करना है।

संपर्क: एस-107,
स्कूल ब्लॉक, शकरपुर,
दिल्ली-110092

हम आज भी गुलाम हैं

डॉ. हितेश कुमार शर्मा

भारतवर्ष संवैधानिक रूप से एक आजाद देश है। लेकिन इस आजाद देश में गुलामी की जड़ें इतना गहरी है कि हम आज भी गुलाम है। गुलाम है अँग्रेजीयत के, गुलाम है अँग्रेजी के, गुलाम हैं उस साहबी के जो अँग्रेज हमें दे गये हैं और हमें उसे ढोना पड़ रहा है। हम आज भी एक गुलाम की जिन्दगी जी रहे हैं और अपनी राष्ट्रभाषा हिंदी को घिसटते हुए देख रहे हैं।

आज भी लंदन में इण्डिया हाउस उस भवन का नाम है जो भारतीयों के लिए लंदन में बना हुआ है। जबकि आजादी के उपरांत इसका नाम भारत भवन होना चाहिए था। लेकिन भारत भवन आज भी "इण्डिया हाउस" नाम की जंजीरों में जकड़ा हुआ खड़ा है।

अँग्रेजियत हम पर इस कदर हावी है कि सरकार की जितनी भी विज्ञप्तियाँ होती है वह सभी पहले अँग्रेजी में होती है फिर उसका अनुवाद हिंदी में किया जाता है। मूल रूप से अँग्रेजी में लिखी गयी विज्ञपित को ही महत्त्व दिया जाता है।

आज भी न्यायालयों के निर्णय अँग्रेजी में दिये जाने की परंपरा है। और एक स्तर पर तो हिंदी निर्णयों का अनुवाद अँग्रेजी में दाखिल करना अनिवार्य होता है। अन्यथा न्यायाधीश महोदय की समझ में नहीं आता कि क्या लिखा है। हिंदी में पढ़ना अथवा लिखना भी गवारा नहीं करते। जब तक न्यायालयों के निर्णय हिंदी में दिये जाने आरंभ नहीं होंगे और याचिकाऐं हिंदी में प्रस्तुत करने को मान्यता नहीं होगी तब तक हम अँग्रेजी के गुलाम बने रहेंगे।

कितना डरते है हम अँग्रेजों से और अँग्रेजीयत से कि हर स्टेशन का नाम आपको अँग्रेजी में भी लिखा दिखाई देता है। हर नामपट अँग्रेजी में लिखा होता है, अधिकारियों के नाम की तख्ती पर भी नाम अँग्रेजी में ही होता है। हम अपने परिचय पत्र बनाते हैं वह भी अँग्रेजी में ही होते है। बड़े-बड़े सूचना पट मैंने पूरे देश के अंदर भ्रमण के समय प्रांतीय भाषा के साथ अँग्रेजी में भी देखे है। हिंदी वहाँ पर भी दिखाई नहीं दी।

हमारी गुलामी, हमारी वेशभूषा से भी प्रगट होती हैं। वेशभूषा के अनुसार हम पूर्णतया अँग्रेज हैं अगर हम अधिवक्ता है तो आज भी पैंट, कोट या टाई या बैंड सरकारी पोशाक है इसी प्रकार न्यायालयों में भी सरकारी पोशाक कोट, पैंट, टाई या बैड ही है। स्कूलों में बच्चों की पोशाक कमीज, हाफ पैंट/पैंट व टाई है। शादी विवाह में सूट का रिवाज है हम जूतों को भी बूट कहते हैं और रोजाना जिंदगी में भी पैंट, बुशर्ट या पैंट कमीज या सफारी सूट पहनना पसंद करते है। महिलाओं को छोड़कर पुरुषों और बच्चों की वेशभूषा पूर्णतया अँग्रेजी और अँग्रेजीयत की गुलाम है।

हमारा खान-पान भी पूर्णतया अँग्रेजी हैं सामुहिक भोज जूते, पैंट, कमीज पहनकर, खड़े होकर बुफे सिस्टम से खाया जाता है। पुरातन पैंगत में बैठकर हाथ पैर धोकर खाने की परंपरा समाप्त होती जा रही है। किसी-किसी जगह इस परंपरा को जीवित रखने का प्रयास किया गया है। किंतु वहाँ भी सामाजिक मखौल उड़ाया जाता है। खाना अँग्रेजी ढंग के अनुसार एक ही प्लेट में सभी चीजों को रखकर घपड़घोच करके खाया जाता है। चम्मच, छुरी, कांटा का प्रयोग बढ़ गया है। पानी भी मिनरल वाटर के नाम से बंद बोतलों में प्रस्तुत किया जाता है। घड़े का पानी या सुराही का पानी की प्रथा खत्म हो गयी हैं। कुएँ बन्द करा दिये गये हैं और हवा में पानी की टंकियाँ बनाकर पानी की आपूर्ति की जाती है।

राजनीति में अँग्रेजी इतनी हावी है कि ससद का पार्लियामैंट, सर्वोच्च न्यायालय को सुप्रीम कोर्ट, सांसद को एम.पी.और विधायक को एम.एल.ए., प्रधानमंत्री को पी.एम. तथा राष्ट्रपति को प्रेसीडेंट कहकर संबोधित किया जाता है। सारे काम-काज आज भी अँग्रेजी में होते है। हिंदी में बोलने में मंत्रियों को दिकक्त पेश आती हैं मूल रूप से जो भी आदेश/विज्ञप्तियां पारित होते है वह अँग्रेजी में होते हैं। तथा उनका अनुवाद बाद में हिंदी में किया जाता है। देखा यह गया है कि अँग्रेजी नोटिफिकेशन को ही विश्वसनीय माना जाता है।

चिकित्सा पद्धति में भी सारी दवाईयाँ अँग्रेजी में है। ईलाज भी अँग्रेजी ढंग से होता है। आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति को भुला दिया गया है। सारे अस्पताल अँग्रेजी दवाईयों और अँग्रेजी पद्धति का ही अनुसरण करते हैं। बीमारियों के नाम भी अँग्रेजी में ही लिखे जाते हैं और डॉक्टरों को उपाधि भी अँग्रेजी में ही दी जाती हैं यह सभी कुछ हिंदी में उपलब्ध होने के बावजूद हम हिंदी का प्रयोग नहीं करते। पूरी तरह से अँग्रेजी के गुलाम हो चुके है हम।

अँग्रेजी का नया वर्ष मनाने में हमें खुशी होती है। अपने नव समवतसर का हम कोई मान नहीं करते। आधी से अधिक जनता हिंदी महिनों के नाम भूल चुकी है और हिंदी दिनों के नाम भी याद नहीं है। महिनों के नाम अँग्रेजी में, दिनों के नाम अँग्रेजी में, नये साल का पहला दिन अँग्रेजी में, और त्यौहारों की शुभकामनाऐं भी अँग्रेजी में भेजने का प्रचलन हम पर हावी है। हिंदी में शुभकामनाएँ या आशीर्वाद भेजने की प्रथा लुप्त होती जा रही है।

स्कूलों में भी पढ़ाई का माध्यम अँग्रेजी है, बच्चों की पोशाक अँग्रेजी में है। अँग्रेजी स्कूलों में यदि कोई बच्चा हिंदी में बोल पड़ता है तो उसकी पिटाई कर दी जाती

है। बच्चे घर पर भी अँग्रेजी में ही बोलते हैं। भले ही माता-पिता को अँग्रेजी न आती हो। प्रशासनिक/न्यायिक अथवा अन्य सरकारी सेवाओं की परीक्षाएँ अँग्रेजी माध्यम से ही होती है। कानून की पढ़ाई भी अंग्रेजी माध्यम से होती है। अँग्रेजी पूरी तरह से शिक्षा पर हावी है। और हम कोई प्रयास नही कर रहे है कि अँग्रेजी के प्रभाव को घटाया जा सके।

पुलिस की, फौज की अथवा अर्द्धसैनिक बलों की वर्दिया वही है जो अँग्रेज पहना गये थे। इसी प्रकार से न्यायालयों और कार्यालयों में भी अँग्रेजों की पहनाई हुई वर्दिया ही चल रही हैं। नामी गिरामी होटलों में अँग्रेजी का सूट पहनने पर ही प्रवेश मिलता है। शादी-विवाह में भी सूट, बूट, टाई को प्राथमिकता प्रदान की जाती है। इसके बगैर दूल्हा-दूल्हा नहीं लगता। अचकन और चुड़ीदार पजामा पहनने का प्रचलन कहीं-कहीं दिखाई देता है। और अँग्रेजी की वर्दी हर जगह दिखाइ देती है।

डाकघर व बैंक में पूरी तरह से अँग्रेजी का बोल-बाला है। सेविंग बैंक एकाउन्ट, करंट एकाउन्ट, लोन एकाउन्ट पास बुक, फिक्सड डिपोसिट आदि अँग्रेजी के नाम आज भी प्रचलित है। इनके स्थान पर हिंदी के शब्द उपलब्ध है किंतु उनको प्रयोग नहीं किया जाता। टिकटों पर भी स्टाम्प लिखा हुआ आता है। स्पीड-पोस्ट, रजिस्ट्रर्ड पार्सल, वी.पी.पी. जैसे शब्द डाकघर में बहुतायात से मिलते हैं।

कचहरी में कोर्ट फीस, नान ज्यूडिशयल स्टाम्प, आर्डरली, एडर्जोनमेंट, एफीडेविट, रेप्लीकेशन, डब्लू एस, जैसे शब्दों के बीच में हिंदी कहीं खो गयी है। हिंदी का पता ही नहीं चल रहा है। अदालतें पूरी तरह से अँग्रेजियत के कब्जे में है और सर्वोच्च न्यायालय में तो जैसे सभी अँग्रेज बैठे है। हम अँग्रेजियत के कितने गुलाम है अँग्रेजी हम पर कितनी हावी है। इसका पता आपको उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय में जाकर ही चल सकता है जहाँ वकील की बहस, फीस, पैटीसन, रैस्पपोंडेन्ट, योर आर्नर जैसे शब्द ही सुनाई देते है। यदि कोई अधिवक्ता याचिका हिंदी में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है अथवा हिंदी में तर्क रखने का प्रयास करता है तो उसे हतोत्साहित किया जाता है। मेरी जान जानकारी के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय में निचली अदालत का हिंदी का निर्णय अँग्रेजी में टाइप कराकर देने में ही याचिका ग्राह्य होती है।

आपसी बोल-चाल में अँग्रेजी का प्रभाव माता-पिता से भी अधिक है। माँ को मम्मी, पिता को डैड भाई को ब्रादर और बहन को सिस्टर और प्रत्येक प्रकार के ताऊ, चाचा, मौसा आदि के लिए अंकिल शब्दों का प्रचलन घर में होता है। टेलीफोन, मोबाइल, टेप, ट्राजिस्टर, टेलीविजन के हिन्दी अर्थ हम भूल चुके है। ट्रेन का टाइम टेबिल हमें याद है किंतु इसका हिंदी अर्थ शायद स्टेशन मास्टर भी नहीं जानता। संभवत: हमारी मानसिकता ही अँग्रेजी हो गयी है। तभी हम आज तक रेलवे, वेटिंग रूम, प्लेटफार्म, रिर्जवेशन, सिनियर सिटिजन, टिकट नंबर जैसे शब्दों को मन में संजोये हुए हैं। हम खुद ही निकाल फेंकना नहीं चाहते, हम खुद ही ऐसी मानसिकता से बाहर नहीं आना चाहते। क्योंकि हमें शायद हिंदी बोलने में छोटेपन का एहसास होता है। और जब अँग्रेजी बोते है तो बड़े साहब जैसी खुशबू आती है। हम इस कदर गुलाम है अँग्रेजी के।

आपने किसी को भी घड़ी में समय या वक्त पूछते हुए नहीं सुना होगा। प्रत्येक व्यक्ति यही पूछता है क्या टाइम हो गया। आज भी रेलवे के सिंगनल की हिंदी 90 प्रतिशत लोगो को मालूम नहीं है। हमने बताने का प्रयास भी नहीं किया। स्टेशन पर आपको इनी गिनी तख्तियों पर हिंदी लिखी हुई मिलेगी। अन्यथा सभी कुद अँग्रेजी में हैं रेलवे के टी.टी. की पोशाक, ड्राईवर और कंडक्टर जैसे शब्द भी अँग्रेजी की ही देन है।

इन सब के ऊपर इंगलिश स्कूलों का दबदबा, पब्लिक स्कूलों का दबदबा, मिशन स्कूलों का दबदबा और सी.बी.एस.ई. स्कूलों का दबदबा पूरे समाज पर हावी है। यहाँ बच्चों को प्रार्थना भी अँग्रेजी में अँग्रेजी गोड की करनी पड़ती है। यदि किसी ने हिंदी में प्रार्थना कर ली भे ही वह व्यक्तिगत प्रार्थना हो और उसे किसी अँग्रेज की पूछ वाले टीचर ने देख लिया तो उस बच्चे की खैर नहीं होती। शिक्षक और गुरु लोप हो चुके है। अब हावी है टीचर, लैक्चर, प्रोफेसर, लाईब्रेरियन, प्रिंसीपल, वाइसचांसलर, प्रोक्टर आदि जो बच्चों को अँग्रेजी पढ़ना, अँग्रेजी बोलना, अँग्रेजी लिखना और अँग्रेजी में ही बाथरूम, लैट्रीन, यूरीनल, आदि का प्रयोग सिखाते हैं अँग्रेजों ने गुलाम बनाने के लिए पहले हमारी मानसिकता को गुलाम किया था और हम अपनी मानसिकता को आज तक नहीं बदल सके हैं हम आज भी पूरी निष्ठा के साथ उस गुलामी को बहन कर रहे हैं। जो अँग्रेजों ने हमें, हमपर हकूमत करने के लिए थोपी थी।

हम कितने गुलाम हैं अँग्रेजी के कि अपने बेटे को बेटा नहीं कह सकते सन कहते हैं, बेटी को डाटर कहते हैं, पुत्रवधू को डाटर इन-ला कहते है, ससुर को फादर इन-ला कहते हैं, और बच्चों के मामा को ब्रादर इन-ला कहते है। और मजाक देखियें बहनोई को भी ब्रादर इन-ला कहते हैं यानी पत्नी का भाई और बहन का पति दोनों ही ब्रादर इन ला हैं। भले ही धीरे से महाभारत के अस्वत्थामा हतो: नरोवा: कुंजरोवा: की भांति ब्रदर इन-ला के आखिर में लूजर या गेनर लगाते है। यानी रिश्तों-नातों में भी हम पूरी तरह अँग्रेजी के गुलाम है।

जो आदमी बोल-चाल की भाषा में गुलाम है, अपनी वेश भूषा में गुलाम है, सरकारी और न्यायिक काम काज में गुलाम है, शिक्षा में गुलाम है, भोजन में गुलाम है, शौच आदि क्रियाओं में गुलाम है, घर की बोलचाल में गुलाम है और आपसी संबंधों में गुलाम है वह स्वतंत्र किधर से है। अगर आप आजादी चाहते हैं यदि आप स्वतंत्रता का एहसास करना चाहते हैं तो आपको अँग्रेजी छोड़नी होगी। अँग्रेजी का बहिष्कार करना होगा। तभी आप स्वतंत्रता की साँस ले सकते हैं।

संपर्क: गणपति काम्प्लैक्स, सिविल लाइन्स, बिजनौर-246701 (उ.प्र.) भारत

तुष्टिकरण का परिणाम

–डॉ. हितेश कु. शर्मा

कर्म अच्छे हों या बुरे उसका परिणाम सामने आता है। यहीं इसी ज़मीन पर जो हम बोते हैं उसे काटना पड़ता है। देश के राजनेताओं ने देश को आज जिस स्थिति में पहुँचा दिया है, उसे देखकर ऐसा लगता है कि इससे तो हम गुलाम अच्छे थे। आज सरकार पूर्ण रूप से वोट की राजनीति के अंर्तगत तुष्टिकरण में लगी हुई है। यह तुष्टिकरण का ही परिणाम है कि हजारों की तादाद में एक विशेष संप्रदाय के लोग तलवारें लेकर सड़क पर निक पड़े। जैसे कि वह किसी आतंकवादी शिविर पर हमला करने जा रहे हों। सरकार ने जिस प्रकार से इस वर्ग का तुष्टिकरण किया है और 1984 में हुए दंगों के लिए लोगों को दोषी ठहराया है तथा मुआवजे वांटे है उस सब से हौसले बढ़े हैं। विपरीत पक्ष ने क्या कहा था केवल एक विशेष व्यक्ति की वेश, भूषा धारण की थी और कुछ पान कराया था। ऐसा करने से जिसकी वेश भूषा धारण की गयी थी उसका क्या अपमान हुआ जिसको लेकर तलवारें बाहर निकल आयी, जिसको लेकर हमले किये गये, निर्दोष लोगों की जाने गयीं, आगजनी की गयी। पुलिस का मुकाबला किया गया। क्यों केवल इसलिए कि हम तुष्टिकरण पालित/पोषित व्यक्ति यह बताना चाहते हैं कि हमारा तुष्टिकरण किये बगैर किसी को भी सत्ता प्राप्त नहीं होनी इसीलिए हम समय-समय पर अपनीं ताकत का प्रदर्शन करते है। कानून को अपने हाथ में लेना अपना अधिकार समझते हैं। ड्रामा कम्पनियाँ रोज नाटक करती है और किसी में भगवान कृष्ण का और किसी में भगवान राम का अभिनय किया जाता है। उनके जैसी वेशभूषा धारण की जाती है उनके जैसा आचरण किया जाता है तब किसी को कष्ट नहीं होता, क्योंकि बहुसंख्यक वर्ग तुष्टिकरण पालित/पोषित नहीं हैं इसके तुष्टिकरण की आवश्यकता भी नहीं है। हिंदू इतना विशाल ह्रदय है कि वह अपने भीतर समस्त बुराईयों को समस्त कटुताओं को समाहित करते हुए भी किसी से द्वेष की बात नहीं करता, लेकिन हिंदुओं से जितने वर्ग अलग-अलग हुए है वह सब तुष्टिकरण के बल पर सरकार के सर पर बैठे हुए हैं और परिणाम हम देख रहे है। तलवारें निकली हुई हैं। आगजनी हो रही है, पुतलें फूंके जा रहे हैं, हमले हो रहे हैं, प्रदर्शन और जलूस जारी है और हम मूक दर्शक बने हुए सबकुछ देख रहे हैं। यह तुष्टिकरण की पराकाष्ठा है।

राजनीति में जिस वर्ग का भी तुष्टिकरण किया जायेगा वही उसका गलत अर्थ निकालेगा और उसका दुरुपयोग करेगा। यह तुष्टिकरण का ही फल है कि हैदराबाद की मक्का मस्जिद में बम विस्फोट हुआ और एक संप्रदाय के लोग सड़क पर उतर आये। सरकारी वाहनों को आग लगानी शुरू कर दी, पुलिस पर हमला बोल दिया, रास्ते जाम कर दिये। आखिर क्यो? बम विस्फोट किसी ने किया उसका प्रतिफल क्या सड़क पर दंगा मचाना है, क्या आगजनी करना है, क्या सरकारी संपत्ति को क्षति पहुँचाना है या पुलिस पर हमला करना हैं देश-द्रोह जैसी यह हरकते केवल इसीलिए हो रही है क्योंकि हमने एक संप्रदाय विशेष का तुष्टिकरण करते-करते यह स्थिति उत्पन्न कर दी है कि उसके अंदर धैर्य, संयम या सहनशीलता जैसी बात रह ही नहीं गयी। क्या कसूर है जनता का, क्या कसूर है पुलिस का, क्या कसूर है सरकार का, क्या कसूर है देश का, जो मस्जिद में विस्फोट होने पर एक संप्रदाय के लोग अपना गुस्सा सरकार पर, जनता पर, सरकारी संपत्ति पर अथवा पुलिस पर उतार रहे हैं। यह तुष्टिकरण का ही परिणाम हैं कि संप्रदाय विशेष के लोग निडर होकर सरकार पर हमला कर रहे हैं।

जिनको तुष्टिकरण का रसास्वादन नहीं हुआ है, वह सहनशील भी है, डरपोक भी है, और संयमी भी है। वह जल्दी से झगड़े पर उतारू नहीं होते, क्योंकि उनको पता है कि उनकी तरफदारी में कोई खड़ा नहीं होगा। सरकार उनका पक्ष नहीं लेगी। गुजरात में जब सड़कों को चौड़ा करने का नंबर आया तो रास्ते में पड़ने वाले कई छोटे-बड़े मंदिर हटा दिये गये कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई, क्योंकि मंदिरों में पूजा करने वाले जानते थे कि इस तरह मंदिर हटाने से भगवान का अपमान नहीं होता, उनकी पूजा में बाधा नहीं पड़ती, उनकी श्रद्धा में कमी नहीं आती और सबसे बड़ी बात उनके दिमाग में यह भी थी कि यदि उन्होंने हंगामा किया तो उन्हें कुचल दिया जायेगा। उनकी तरफदारी कोई नहीं करेगा। लेकिन जब एक मजार को हटाने की बात आई तो उस मजार के श्रद्धालु सड़क पर उतर आये, दंगा आरंभ हो गया, फिर पुलिस पर हमला, फिर सरकारी संपत्ति को हानि, फिर जगह-जगह जाम और जगह-जगह आगजनी की गयी। क्यों, क्योंकि वह वर्ग जानता है कि सरकार केवल हमारा तुष्टिकरण ही कर सकती है। हमारा विरोध नहीं कर सकतती, हमें दण्डित नहीं कर सकती। यही हुआ तुष्टिकरण की नीति के चलते मजार को

छोड़ दिया गया। वर्ग विशेष के किसी व्यक्ति को दंगा, आगजनी, लूटपाट या विद्रोह के अंर्तगत दण्डनीय अपराधी घोषित नहीं किया गया।

गलती से उत्तर प्रदेश की भूतपूर्व मुख्यमंत्री ने संप्रदाय विशेष के लोगों को कट्टरपंथी कह दिया। परिणाम क्या हुआ कि सैकड़ों लोग सड़क पर उतर आये। सड़कों पर जाम लगा दिये गये, पुतले फूकें गये, आगजनी की गयी, सरकारी संपत्ति को क्षति पहुँचायी गयी और वह सब किया गया जिसको अँग्रेजी राज में देश द्रोह कहा जाता। लेकिन हमारी रकार जो तुष्टिकरण का अमृत पीये हुए है जिसे वोट चाहिए जो सत्ता की खातिर सब कुछ सहन करने को तैयार रहती है इस कड़वे घूंट को भी पी गयी। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जब तुष्टिकरण से पुष्पित-पल्लवित लोग सरकार के खिलाफ खड़े हो गये हैं और सरकार ने उन्हें दण्डित करने की बजाये हाथ जोड़कर संयम और धैर्य अपनाने की प्रार्थना की है। मेरठ में कई बार यह स्थिति उत्पन्न हुई है। डेनमार्क के एक चित्रकार ने आपत्तिजनक चित्र बनाया और उसे कत्ल करने का फतवा जारी कर दिया गया। जलूस प्रदर्शन, आगजनी सभी कुछ हुआ और सरकार चुपचाप देखती रही। जिस बच्चे का तुष्टिकरण अधिक किया जाता है वह माँ-बाप के सर पर नाचता है और यही कारण है कि जिन लोगों का हम तुष्टिकरण कर रहे हैं वह किसी कानून को मानने को तैयार नहीं हैं केवल उन्हें गुस्सा आता है और आक्रोश उत्पन्न होता है। यदि आज तुष्टिकरण समाप्त कर दिया जाये। यदि आज समान नागरिक अचार संहिता बना दी जाये। यदि आज सबको एक अपराध के लिए समान कानून से नापा जाये तो परिस्थितियाँ बदल सकती हैं।

सद्दाम हुसैन को फाँसी इराक में दी गयी। किसी भी प्रकार का प्रदर्शन अमरीका अथवा मुस्लिम देशों में नहीं हुआ। केवल हिंदुस्तान में इस फाँसी के विरोध में जलसे जलूस और प्रदर्शन किये गये। क्योंकि ऐसा करने वाले जानते थे कि सरकार मजबूर है वह उन्हें नहीं दबा सकती। बल्कि जिंदा रहने के लिए कुर्सी पर बने रहने के लिए उसे हमारी खुशामद करनी ही पड़ेगी, हमारा तुष्टिकरण करना ही पड़ेगा। और हमारी हर बात को सहना ही पड़ेगा।

काश्मीर में जो कुछ हो रहा है काश्मीर में भारत विरोधी नारे लग रहे हैं। काश्मीर में भारतवर्ष के सभी कानून लागू नहीं होते। काश्मीर में भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों के मुकाबले वस्तुएँ सस्ती उपलब्ध करायी जाती हैं काश्मीर के रास्ते आतंकवादी भारतवर्ष की संप्रभुता को चुनौती देते रहते हैं और हम काश्मीर के तुष्टिकरण में ही लगे हुए हैं। वहां राशनकार्ड के माध्यम से चीनी मिट्टी का तेल जैसी वस्तुएँ सस्ती से सस्ती दर पर उपलब्ध करायी जाती हैं। सरकार आँख भर कर कश्मीरियों के विरूद्ध नहीं देख सकती। जानती है कि आतंकवादी काश्मीर के ही निवासियों के घरों में शरण लेते हैं। लेकिन सरकार उनके घरों की तलाशी भी नहीं ले सकती। तुष्टिकरण का ही परिणाम है कि संसद पर हमला करने वाले आतंकवादी को फाँसी नहीं दी जा सकी। तुष्टिकरण का ही परिणाम है कि गोधरा में रेल के डिब्बों में जला कर मार दिये गये वर्ग विशेष के लोगों के बारे में देश के महान नेताओं ने जलाने वाले संप्रदाय को दोषी नही ठहाराया बल्कि यदि सिद्ध करने की कोशिश की कि जलने वालों ने आग स्वयं लगाई थी। तुष्टिकरण का ही परिणाम है कि आतंकवादियों के मुकदमें लम्बें समय तक चलते रहते हैं। तुष्टिकरण का ही परिणाम है कि मुंबई में रेल गाड़ियों पर हमला हुआ। भारत-पाक के बीच चलने वाली बस में और समझौता एक्सप्रेस में विस्फोट हुआ।

उपरोक्त कुछ थोड़े से उदाहरण हैं तुष्टिकरण के जो स्पष्ट है लेकिन तुष्टिकरण की जड़ें इतनी गहरी हो चुकी है और तुष्टिकरण करने वाले और तुष्टिकरण का लाभ उठाने वाले इसके बगैर अब रह नहीं सकते। इसके इतने आदि हो चुके हैं कि कोई सुभाषचन्द्र बोस, अथवा शिवाजी जैसा ही दृढ़ प्रतिज्ञ व्यक्ति इसे समाप्त कर सकता हैं वर्तमान नेताओं के बस का तुष्टिकरण समाप्त करना नहीं है काश्मीर से सेनाऐं हटाई जा रही हैं क्योंकि हम हजारों की तादाद में आतंकियों के हाथों कत्ल होने वालों के प्रति संवेदनशील अथवा श्रद्धावनत नहीं हैं बल्कि आज भी हम, उन्हीं लोगों का तुष्टिकरण करना चाहते हैं जिन्हें हम जानते है कि वह आतंकवादियों को शरण देते हैं और आतंकवादियों से मिले हुए हैं। भले ही सारा देश कत्ल हो जाये लेकिन यह तुष्टिकरण की नीति संवभत: समाप्त नहीं होगी और हम संयम, सहनशीलता और धैर्य की मूर्ति बनकर रह जायेंगें। देश तुष्टिकरण के हाथों आज जहाँ पहुँच गया है आगे उससे भी गहरी खाई है। भविष्य अच्छा नहीं है लेकिन सत्ता के मद में चूर राजनेताओं की आँखों पर पट्टी बंधी है, कानों में रूई लगी है वह टटोल-टटोल कर कुर्सी पहचानते हैं और कुछ नहीं।

संपर्क : गणपति काम्प्लैक्स,
सिविल लाइन्स,
बिजनौर-246701 (उ.प्र.)

सरदार पटेल की 132वीं जयंती पर विशेष

लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल

डॉ. मधु धवन

भारतीय इतिहास के कालजयी पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर जन्म लेते हैं। देश को स्वतंत्र करवाने के लिए लंबे समय तक स्वतंत्रता-संग्राम में तो भाग लिया ही, परंतु उससे कहीं अधिक महत्त्व का काम था स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत देश को संगठित रखना। उनका काम था राष्ट्रीयता की रक्षा करना। वे त्याग और बलिदान ही नहीं, अपितु साहस और शौर्य की साक्षात प्रतिमा थे। भारत माता को परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त कराने एवं देश को स्वतंत्रता दिलाने वाले देशभक्त वीरों में सरदार वल्लभभाई पटेल का नाम उल्लेखनीय है। 15 अगस्त, 1947 को जब देश स्वतंत्र हुआ, तब देश के दो टुकड़े कर दिये गए थे- एक हिंदुस्तान और दूसरा पाकिस्तान। हिंदुस्तान वाले हिस्से में पाँच सौ से अधिक देशी राज्य थे। अँग्रेजी सत्ता की ओर से उन्हें पूरी छूट थी कि वे जिधर चाहें मिल जायें। ऐसी नाजुक स्थिति में सूक्ष्म एवं दूरदर्शी पटेल ने सोचा कि यदि मुस्लिम छोटे-छोटे राज्य जो भारत के मध्य भागों में छाये हैं पाकिस्तान से मिलने की इच्छा रखेंगे तो भारत के अनेक भागों में मध्य पाकिस्तान बन जाएगा और फिर आगे चलकर भारत की स्थिति भयंकर एवं बदतर हो जाएगी। सरदार पटेल ने कतिपय सख्त प्रयत्नों एवं बुद्धिमत्ता से देशी राज्य को भारत से मिलने के लिए विवश कर दिया। उनकी कूटनीति के चलते सभी देशी राज्यों को भारत में मिलना पड़ा। जूनागढ़ और निजाम हैदराबाद को लेकर विकट समस्याएँ थीं। निजाम के रजाकारों ने रियासत में तनाव फैला रखा था। गुंडागर्दी बढ़ती जी जा रही थी अत: सरदार पटेल ने विवश होकर ऐसी कार्यवाही की जिससे स्वतंत्र भारत में निजामशाही का अंत हो गया। यह समस्या संपूर्ण भारत की थी। सभी देशी रियासतों को मिटाकर भारत में मिलाने का काम सरदार पटेल ने बड़ी दृढ़ता से किया। यह एक ऐसा जोखिम भरा कार्य था जिसके चलते सरदार पटेल को भारत का 'लौह पुरुष' कहा जाता है। संसार के इतिहास में इने गिने चुने महापुरुषों में सरदार पटेल का नाम है। जिन्होंने अपने देश के बिखरे टुकड़ों को संगठित कर अपना नाम सदा के लिए अमर कर दिया। सरदार पटेल ने बिना किसी खून खराबे के संपूर्ण देश को संगठित रखने का कार्य कर दिखाया। भारत भर में बिखरी 554 देशी रियासतों को उन्होंने जिस कौशल से आपस में मिलाया, वह अपने ढंग से अनूठी उपलब्धि थी।

वल्लभभाई पटेल का जन्म गुजरात के बोरसद ताल्लुक के करमसद गाँव में 31 अक्टूबर को सन् 1875 में हुआ। वल्लभभाई के पिता झवेरभाई पटेल बड़े साहसी, संयमी और पराक्रमी पुरुष थे। सन् 1875 में नाना साहब, रानी लक्ष्मीबाई, तात्याटोपे, कुंवर सिंह के साथ मिलकर अँग्रेजों को खदेड़ने का काम किया। वे लक्ष्मीबाई की सेना के वीर योद्धा थे। कहा जाता है कि छुटपन में उनकी बगल में एक बड़ा सा फोड़ा निकल आया। फोड़ा अत्यंत जहरीला था। गाँव वालों का कहना था कि लोहे की छड़ गरम कर फोड़े को यदि फोड़ दिया जाए तो विष निकल जाएगा और बालक स्वस्थ हो जाएगा। जब छड़ गरम हो गयी तो फोड़े को लगाने वाले का हाथ कांपने लगा कि बालक को इससे कितनी तकलीफ होगी। यह देख बालक वल्लभ बोला 'अरे भाई, रूक क्यों गए? छड़ ठंडी हो जाएगी। लाओ मुझे दो।' उसके हाथ से छीनकर गरम सलाख अपने हाथ में ले ली और फोड़े पर लगा दी। इसी भांति के कई उदाहरण उनके जीवन में मिलते हैं। एक बात है जब वे दसवीं में पढ़ते थे। पहले उन्होंने अन्य विष्यों के साथ संस्कृत ले रखी थी परंतु उसे याद करने में उन्हें कठिनाई होती थी इसीलिए उन्होंने संस्कृत के स्थान पर गुजराती ले ली। मजेदार बात यह थी कि गुजराती के अध्यापक संस्कृत की परम भक्त थे और संस्कृत न पढ़ने वाले छात्रों से वे नाराज रहते थे। वल्लभभाई जब पहली बार उनकी कक्षा में गए तो मास्टर साहब के व्यंग्यपूर्ण शब्द, 'पधारिए महापुरुष!' मास्टर जी को क्या पता था कि उनके यह वचन एक दिन सत्यार्थ में पूर्ण होने वाले हैं। थोड़ी देर बाद मास्टर जी ने कहा, 'संस्कृत छोड़कर गुजराती लेना तुम जैसे होनहार छात्र को शोभा नहीं देता।' 'पर मास्टर जी, यदि हम सबने संस्कृत ले ली तो आपका क्या होगा?, वल्लभ ने प्रश्न किया। 'शैतान कहीं का।'' मास्टर जी ने लड़के को बेंच पर खड़े होने का हुक्म दिया। उस दिन से मास्टर जी और वल्लभभाई में शीत युद्ध होने लगा। मास्टर जी उसे तंग करने के लिए घर से पहाड़े लिखकर लाने को कहते। कई दिन तक वल्लभ भाई पहाड़े लिखते रहे। एक दिन तंग आ गये, क्योंकि रोज-रोज वही पहाड़े लिखने से उन्हें कोई लाभ नहीं होता था। यह सब वे कई बार लिख पढ़ चुके थे। सो उस दिन पहाड़े नहीं लिखे। गुजराती में पहाड़ों को पाड़े कहा जाता है। भैंस के बच्चे को भी पाड़ा या पाड़े

कहते हैं। कक्षा में प्रवेश करते ही मास्टर जी ने पूछा, अरे तुम पाड़े लाए? वल्लभभाई ने भोली-भाली सूरत बनाकर कहा, मास्टर जी, पाड़े लाया तो था, मगर दरवाजे पर उनमें से दो भड़क उठे और उनके भड़कते ही सारे पाड़े भाग गए। मास्टर जी नाराज हो गए। उन्होंने हेडमास्टर को रिपोर्ट की। हेडमास्टर ने वल्लभभाई को बुलाया और पूरी बात पूछी। जब उन्होंने सारी बात सुनी तो उन्होंने बिना कोई सजा दिये उसे छोड़ दिया और कहा, 'ऐसा लड़का मैंने आज तक नहीं देखा'। कहा जाता है कि नदियाड़ के जिस स्कूल में वल्लभभाई पढ़ते थे, वहाँ के एक अध्यापक की पुस्तकों की दुकान थी। वे छात्रों को मजबूर किया करते थे कि किताबें उनकी दुकान से खरीदी जाएं। वल्लभभाई को यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने अपने साथी छात्रों को समझाया कि कोई भी लड़का वहाँ से पुस्तक न खरीदे। यह बात इतनी ज्यादा बढ़ गयी कि सात दिन स्कूल हड़ताल के कारण बंद करना पड़ा। इस प्रकार छुटपन में ही अपने विचारों में अटल, सिद्धांतों में अडिग, समदर्शिता के प्रबल समर्थक, आदर्श समाज सुधारक के गुण उनमें विद्यमान थे। वल्लभभाई ने जब दसवीं कक्षा पास कर ली, कॉलेज की शिक्षा को बोझ घरवाले नहीं उठा सकते थे तो उन्होंने स्वयं मेहनत कर पढ़ने की ठानी। उनकी दिली इच्छा थी बैरिस्टर बनने की, परंतु इतना पैसा न था। अंत में उन्होंने मुख्तारी की परीक्षा पास करके गोधरा में मुख्तारी करनी प्रारंभ की। इससे अच्छी आमदनी हुई और पैसा जमा होने लगे। जब थोड़ा पैसा जमा हो गया तो उन्होंने एक कंपनी से विदेश जाने की बात चलाई। यह बात उनके बड़े भाई को पता चली तो उन्होंने अपने को बैरिस्टर बनाने का प्रस्ताव

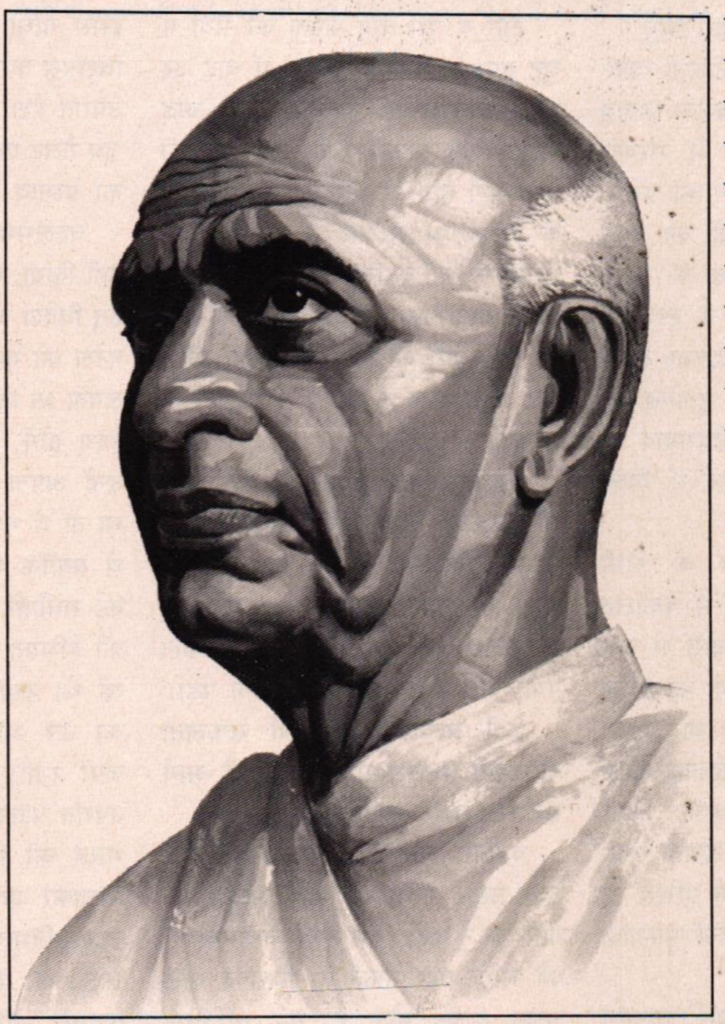

रखा। वल्लभ भाई मान गये। उहोंने अपनी जमापूँजी बड़े भाई को दे दी। बड़े भाई खुशी-खुशी विदेश बैरिस्ट्री करने चले गये। जब तीन साल बाद वे लौट आए तो उसके उपरांत वल्लभभाई गये। अंत में बड़े भाई ने परिवार का समस्त बोझ वल्लभ के कंधों पर डाल स्वयं देशसेवा के कार्यों में अपने को समर्पित कर दिया।

सदाचार के साथ शिष्टाचार का घनिष्ट संबंध होता है। जहाँ ये दोनों विद्यमान होते हैं, वहाँ आत्म गौरव भी मुख्य अंग होता है। आत्मगौरव या आत्म सम्मान, का अर्थ होता है मनुष्य के 'स्व' का सम्मान। आत्म सम्मान आत्मा की वह प्रवृत्ति है जिससे न्याय पर मर मिटने की अभिलाशा और दृढ़ होती है। यह साहस की संगिनी है। यह भाव समाज को उन्नत बनाने का सदा प्रयत्न करता है और वल्लभ में यह कूटकूट कर भरा था। यह बात सब जानते हैं कि कीचड़ में जिस भांति कमल विकसित होता है उस भांति इस सामाजिक वातारवरण में सत्य, समता और मानवता की जलती मशाल बनकर सरदार वल्लभ भाई पटेल का अविर्भाव हुआ।

सन् 1929 में लाहौर कॉंग्रेस से पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव पास हुआ और फिर सत्याग्रह और डाण्डी यात्रा। 17 मार्च को सरकारी आज्ञा का उल्लंघन करके भाषण देने से सरदार पटेल को गिरफ्तार कर लिया गया। गोलमेज कॉंफ्रेंस के बाद फिर सत्याग्रह आरंभ हुआ और अनेक लोगों के साथ सरदार वल्लभभाई पटेल को फिर जेल जाना पड़ा किंतु उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण उन्हें अवधि पूर्ण होने से पहले रिहा कर दिया गया। उसके बाद कॉंग्रेस और सरकार में समझौता होने के बाद चुनाव हुए और आठ प्रांतों में कॉंग्रेसी सरकारें बनी। इन

सभी प्रांतों की काँग्रेसी सरकारों को चलाने का सारा दायित्व सरदार पर ही था। सन् 1942 में जब अँग्रेजों को कहा 'अँग्रेजों भारत छोड़ो' तो समस्त बड़े-बड़े नेताओं के साथ सरदार पटेल को भी गिरफ्तार कर अहमदानगर जेल में डाल दिया। ब्रिटिश सरकार में तब दम नहीं था इसीलिए उसने भारत को आजाद करने का निश्चय घोषित कर दिया। परंतु

मुस्लिम लीग ने रोड़ा अटकाना चाहा, सरदार पटेल ने उन्हें भी करारा जवाब दिया। सन् 1946 में केंद्र में सरकार मंत्रिमंडल बना। सरदार पटेल को प्रचार, रियासती और गृष्टह विभागों का कार्य भार सौंपा गया। पर जूनागढ़ के नवाब और हैदराबाद के निजाम ने रूकावटें डाली परंतु सरदार की बुद्धिमता से वे भी सही राह पर आ गये। जूनागढ़ का नवाब तो चला गया और हैदराबाद पर कार्यवाही कर उसे हिंदुस्तान में मिला लिया।

बहुआयामी व्यक्तित्त्व के धनी वल्लभभाई उन दिनों गोधरा में वकालत कर रहे थे। वकालत खूब जोरों से चल रही थी। इन्हीं दिनों गाँधी जी का प्रवेश दिनोंदिन राजनीति में हो रहा था। गोधरा में राजनीतिक कार्यों के हितार्थ जिस उपसमिति का चयन किया गया, वल्लभभाई को उसका मंत्री बनाया गया। इस कारण वे सारे गुजरात में प्रसिद्ध हो गए। इसके उपरांत क्रमवार उन्हें सफलता मिलती चली गयी।

'सादा जीवन उच्च विचार' वल्लभ भाई पटेल के व्यवहार में घुला-मिला था। उन्होंने गुजरात में बेगार प्रथा बंद करवायी। यह कदम उनका राजनीति जीवन में प्रथम था तथा कामयाबी भी। उनकी एक अत्यंत बड़ी समस्या यह थी कि गाँधी जी से उनका परिचय तो बढ़ रहा था लेकिन उनके अहिंसा तथा सत्याग्रह उन्हें निर्बल के हथियार प्रतीत होते थे। इन्हीं दिनों एक एक जैसी घटना घटी जिससे वल्लभभाई का चिंतन गाँधी जी के प्रति परिवर्तित हो गया। हुआ यह था कि अहमदाबाद में मजदूरों की माँगें मान ली गयीं। इससे वल्लभभाई को गाँधी जी के सत्याग्रह और सत्य अहिंसा पर विश्वास हो गया

और वे पूरी तरह जनता की सेवा में जुट गए। इन्हीं दिनों गुजरात में बाढ़ आ गयी। वल्लभभाई ने बढ़चढ़कर बाढ़ पीड़ितों की सहायता की। इस बाढ़ का कार्य पूर्ण होते ही वारदोली के किसानों के सहायतार्थ सरकार से जूझना पड़ा। सरकार ने वहाँ के किसानों पर 30 प्रतिशत लगान बढ़ा दिया था। सरकार ने किसानों पर अत्याचारों की कोई कसर नहीं छोड़ी थी। वल्लभभाई के नेतृत्व में किसानों ने सरकार का डटकर

मुकाबला किया। लगान की एक कौड़ी भी सरकारी खजाने में जमा नहीं हुई। सरकार किसानों के घर तक नीलाम करने पर उतर आयी थी। सरकार के अत्याचारों की गूँज पूरे देश में फैल गयी। अंत में सरकार को झुकना पड़ा।

इसी सत्याग्रह की पूर्ण सफलता के चलते वल्लभभाई के नाम के आगे सरदार लिखा जाने लगा।

एकबार चरित्र के महत्त्व की चर्चा चल पड़ी। गाँधी जी वहाँ मौजूद थे। गाँधी जी ने कहा, 'हम अच्छे चाल-चलन' को चरित्र कह सकते हैं। जिसका चाल चलन अच्छा होता है, वह चरित्रवान कहलाता है। चरित्र ही मनुष्य को बड़ा बनाता है धन नहीं। धन गया तो कुछ नहीं गया, स्वास्थ्य गया तो कुछ गया मगर चरित्र गया तो सबकुछ गया।

आज जो सफलता हमें मिली है वह सरदार के दृढ़ चरित्र से मिली है। इन्हीं दिनों खेड़ा में फसल नष्ट हो गयी थी और किसानों के पास लगान देने को भी पैसा न था। सरकार लगान माफ नहीं कर रही थी, उनकी दयनीय दशा को देखकर किसानों की लगान संबंधी समस्याओं के निराकरण हेतु उन्होंने गाँवों में घूम-घूमकर किसानों को सत्याग्रह के लिए तैयार कर

दिया तो सरकार को झुकना पड़ा। इससे गाँधी जी वल्लभभाई पर अधिक विश्वास करने लगे। प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत देश को आजादी देने की अपेक्षा जब रौलट एक्ट आया। काँग्रेस ने असहयोग का प्रस्ताव पारित किया।

वल्लभभाई ने बैरिस्टरी का ही परित्याग नहीं किया, बल्कि बच्चों को उच्च शिक्षा हेतु विदेश जाने से भी रोक दिया। सरदार पटेल का गुरु-गंभीर चेहरा देखकर ऐसा लगता था कि वे बहुत कठोर और निर्मम हृदय होंगे, लेकिन ऐसा नहीं था। जब उन्हें अपना कर्त्तव्य पालन करना रहता था तो वे गंभीर एवं कठोर अवश्य होते थे क्योंकि वह देश के प्रशासन कार्यो को सर्वोपरि मानते थे। एक बार वकील की हैसियत से अदालत में मुकदमा लड़ रहे थे। उसी समय उन्हें पत्नी की मृत्यु का तार आया, तब भी उन्होंने बहस जारी रखी। हिंदुस्तान आजाद होने के उपरांत पटेल का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य भारत की रियासतों को देश के साथ मिलाकर एक करना था, जिसे उन्होंनें बखूबी निभाया। सरदार पटेल 15 दिसम्बर, 1950 को गोलोक सिधार गए, भारत ने कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए सन् 1999 में सरदार पटेल को उनके मरणोपरांत 'भारत रत्न' सम्मान से विभूषित किया।

संपर्क : अध्यक्ष
राष्ट्रीय विचार मंच, तमिलनाडु
के-3, अन्ना नगर (ईस्ट),
चेन्नई-600102

राष्टभाषा हिंदी और हमारी अमेरीकी यात्रा

–सिद्धेश्वर

राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति मेरी निष्ठा और ईमानदारी से इसकी सेवा ने सचमुच मुझे अमेरका पहुँचा दिया। वरना आज के इस आपाधापी, पहुँच-पैरवी और राजनीति में पनपी चमचागिरि के दौर में मुझ सरीखे एक साधारण सामाजिक कार्यकर्त्ता व साहित्य-सेवी न्यूयार्क में विगत 13-15 जुलाई, 2007 को आयोजित आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में भाग लेने के लिए बिहार सरकार की ओर से भारतीय प्रतिनिधिमंडल में शामिल होने की मात्र कल्पना ही कर सकता था। इस संदर्भ में एक छोटी-सी घटना को यहाँ प्रस्तुत करने के लोभ का संवरन मैं नहीं कर पा रहा हूँ। बात सन् 2002 की है जब नई दिल्ली के राजेन्द्र भवन में राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था राष्ट्रीय विचार मंच और उसके मुख-पत्र 'विचार दृष्टि' का दो-दिवसीय राष्ट्रीय अधिवेशन विगत 16 एवं 17 नवंबर 2002 को 'आजादी के बाद वैचारिक क्रांति के नए आयाम और हमारा दायित्व' को क्रेंद्र में रखकर आयोजित किया जाना था। हुआ यूँ कि दिल्ली के एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार ने दूरभाष पर मुझसे अनुरोध किया कि अमेरिका के एक प्रवासी भारतीय, जो पेशे से चिकित्सक हैं के द्वारा अधिवेशन के किसी एक शैक्षिक सत्र की अध्यक्षता इसलिए कराऊँ ताकि वह आने वाले दिनों में मुझे अपने सौजन्य से अमेरिका का भ्रमण करा सकें। मुझे यह गंवारा न हुआ, कारण कि इससे निश्चित रूप से आत्म सम्मान को आधात पहुँचता। मैंने बड़ी विनम्रता से दूरभाष पर ही उनसे कहा "मैं एक साधारण किसान का बेटा हूँ, और किसान का बेटा आत्म सम्मान से समझौता करना नहीं जानता। यदि कभी मुझे अमेरिका भ्रमण की लालसा भी हो जाए तो एक बिगहा जमीन दूँगा जिससे मुझे इतनी राशि अवश्य मिल जाएगी जितने से पूरे अमेरिका का भ्रमण इतमिनान से किया जा सकता है।" बिहार सरकार मेरी वह कल्पना इतनी जल्द साकार कर देगी, इसकी उम्मीद आखिर मैं किस दम पर करता?

खैर जो हो, बिहार सरकर से पत्र प्राप्त होने के पश्चात् काफी जद्धोजहद के बाद पासपोर्ट और अमेरिकन विजा मैंने हासिल किया और अमेरिका के न्यूयार्क के लिए चल पड़ा। अमेरिका जाएँ और वहाँ के दर्शनीय स्थलों की चर्चा न हो, ऐसा कैसे हो सकता है। मगर उसके पूर्व हवाई उड़ान की कुछ बात हो जाए। नई दिल्ली के इंदिरा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डा से जब ब्रिटिश एयरवेज के फ्लाइट से हमलोग उड़े तो सच बताऊँ यह हमारी अबतक की जिंदगी की पहली हवाई यात्रा और पहली विदेश यात्रा होने की वजह से मेरे मन में एक अजीब-सा कौतुहल था और मानस-पटल पर अनेक रोमांचित भाव उमड़-घुमड़ रहे थे। उड़ान भरने के बाद देखते-देखते जहाज बादलों को चिरता हुआ हजारों फिट की ऊँचाई पर जा पहुँचा। जहाज में प्रो० रामबुझावन बाबू के समीप ही मेरी कुर्सी लगी थी सो बातचीत करने में सुविधा तो थी ही, हमलोग अपने-अपने अनुभवों को आपस में बाँटते चले जा रहे थे और बगल में बैठी कोलकाता स्थित ए. एन.आई.टी.बी की ब्यूरो प्रमुख अतिजा मेनन से सामने लगी सीट पर चिपके टी.वी. तथा हेडफोन आदि के ऑपरेशन की जानकारी बिना हिचक के ले रहा था। श्रीमती मेनन भी दो बुजुर्गों को प्रशिक्षण देने में प्रसन्नता का अनुभव कर रही थी। उड़ान के दौरान विमान सेविका द्वारा जलपान और खान-पान की सेवा से तो हमलोग गद्गद् थे ही बीच-बीच में विमान-सेविका के केबिन के पास वाली खिड़की के समीप जाकर खिड़की का पल्ला उठाते और पृथ्वी पर स्थित शहरों और सागरों को झांक लिया करते थे, पर भला बादल क्यों शहर और सागरों को देखने दे। वह तो चाहते थे कि हम लोग उसकी और केवल उसकी ही अटखेलियाँ देखें और उसका आनंद लें, क्योंकि बादलों को यह पता था कि हम शहरी लोग शहर के प्रदूषण से पूरी तरह परिचित ही नहीं भोक्ता भी हैं कई बार मैंने प्रो. रामबुझावन बाबू को खिड़की से झांकने को उकसाया और वे भी बादलों को मंडराते देख रोमांचित हो उठते थे सामने लगे टी. वी. से यह भी जानकारी मिलती जा रही थी कि हमसब कितनी ऊँचाई पर और कहाँ-कहाँ से गुजर रहे हैं। कभी-कभी तो 36000 फिट से भी ऊपर से जहाज उड़ान भर रहा था। जी हाँ 36 हजार फिट यानी तकरीबन 10 कि०मी० की दूरी कोई कम नहीं होती। टी.वी. में कुल अट्ठारह चैनल थे जिससे समय-समय पर समाचार भी सुनने को मिलता था और विमान सेविका के द्वारा हिंदी और अँग्रेजी दोनों भाषाओं में सूचनाएँ भी दी जा रही थीं। टी.वी. पर हिंदी की 'बाबूल' और 'गुरु' फिल्में देखकर मेरा भारतीय-मन बड़ा आह्लादित हुआ और नौ घंटों की उड़ान के बाद लंदन पहुँचा।

लंदन के हिथ्रो हवाई अड्डा देखकर मैं

इसलिए अचंभित हुआ कि उसकी लंबाई-चौड़ाई का कोई ओर-छोर नहीं था, इसलिए लंदन शहर की एक झलक मुझे तब देखने को मिली जब दो घंटे की चेकिंग प्रक्रिया से गुजरने के बाद ब्रिटिश एयरवेज के ही दूसरे फ्लाइट से हमलोग न्यूयार्क के लिए रवाना हुए। पुन: तकरीबन नौ घंटे की उड़ान के बाद न्यूयार्क स्थित जॉन एफ.केनेडी हवाई अड्डा पहुँचे। रात और दिन कब हुआ इसका पता मुझे कभी न चला। हाँ, टी.वी. पर समय अवश्य पता चल जाता था। जॉन एफ. केनेडी हवाई अड्डा के प्रत्येक टर्मिनल से मेट्रो ट्रेन पर नि:शुल्क गुजरना और उसके कई तल्ले पर से मेट्रो ट्रेन की यात्रा से अमेरिका की साधन-संपन्नता का पता चल रहा था।

जहाँ तक न्यूयार्क स्थित दर्शनीय स्थलों के भ्रमण का सवाल है हमलोगों ने सम्मेलन के शैक्षिक सत्रों के बीच भोजनावकाश अथवा संध्या काल का इस्तेमाल करते थे। न्यूयार्क का स्टैच्यू ऑफ लिबर्टी, जो अमेरिका की स्वतंत्रता का प्रतीक है, को समुद्र के छोर पर जाकर देखा। फिर इम्पायर स्टेट बिल्डिंग, चर्च, विश्व का सबसे बड़ा स्टॉक एक्सचेंज बिल्डिंग तथा टाइम्स स्क्वायर की सतरंगी इमारतें भी देखीं। 11 सितम्बर को हमले से तहस-नहस हुए विश्व व्यापार केंद्र (World Trade Centre) जिसमें हजारों निर्दोषों की जानें गईं, के भग्नावशेष को भी देखा जो वीरान पड़ा अपनी ऐतिहासिक दर्दनाक घटना की कहानी कह रहा था। वैसे तो अमेरिका सरीखे विकसित, विशाल साधन-संपन्न और सुव्यवस्थित देश को एक-दो दिनों के भ्रमण से जानना-समझना इतना आसान नहीं, फिर भी वर्तमान दौर में उसका जो आकर्षण है और जो प्रतिवर्ष दुनिया के लाखों लोगों को अपने यहाँ खींच लाता है, उसकी सांस्कृतिक विविधता और बेहद खूबसूरत बहुमंजिली इमारतों की भव्यता देखने में आती थी। न्यूयार्क स्वयं एक टापू पर बसा है और उसके चारों ओर समुद्र हैं जिसके छोर पर गगनचुंबी इमारतें पर्यटकों को अपनी ओर न केवल आकर्षित करती हैं, बल्कि अपनी तारीफ में कुछ कहने के लिए प्रेरित भी करती हैं। कोई कहीं भी जाए वह जल-थल के नयनाभिराम स्थल देखने और हाट-बाजार का मुयायना करने के साथ-साथ पेट-पूजा और खरीददारी अवश्य करता है। इस संदर्भ में मैं बता दूँ कि जिस प्रकार मुझे स्वभाषा हिंदी से प्रेम है उसी प्रकार स्वदेशी चीजों और अपने देश के पहनावे भी पसंद हैं। सो न्यूयार्क की यात्रा के दौरान भी मैं अपने कुर्ते-पायजामे के साथ हमेशा बंडी में रहा और खरीददारी के नाम पर अपने पौत्र समीर के लिए मात्र चॉकलेट खरीदा।

अमेरिका के न्यूयॉर्क में विगत 13-15 जुलाई, 2007 ई० को भारतीय विद्या भवन के सहयोग से विदेश मंत्रालय द्वारा आयोजित आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में बिहार सरकार की ओर से भारतीय प्रतिनिधिमंडल में शामिल सात-सदस्यीय साहित्यकारों/पत्रकारों के दल में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् तथा बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के निदेशक, प्रो. राम बुझावन सिंह, पटना विश्वविद्यालय की पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ. वीणा रानी श्रीवास्तव, मगध महिला कॉलेज, पटना की प्राचार्य प्रो. सुखदा पाण्डेय, सुप्रसिद्ध कथा लेखिका प्रो. उषा किरण खान, वीमेंस कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय की डॉ. किरण घई, भारतीय प्रशासनिक सेवा के पूर्व वरिष्ठ अधिकारी व साहित्यकार श्री जियालाल

आर्य तथा 'विचार दृष्टि' के संपादक के रुप में, मैंने भाग लेकर राष्ट्रभाषा हिंदी को विश्व मंच पर रूपायित करने के प्रयास को गति प्रदान की।

इस संदर्भ में यह कहना कदाचित यथोचित होगा कि विगत 27 जून, 2007 ई० को विश्व हिंदी सम्मेलन में भाग लेने की सूचना जब दल के सदस्यों को मिली तो प्रो. राम बुझावन सिंह तथा सिद्धेश्वर प्रसाद को पासपोर्ट निर्गत कराने के लिए काफ़ी जद्दोजहद करनी पड़ी। यह तो कहिए कि बिहार सरकार के मंत्रिमंडल सचिव, श्री गिरीश शंकर तथा राजभाषा के निदेशक, श्री डी०एन० चौधरी के अथक परिश्रम का ही प्रतिफल रहा कि देर-सबेर पासपोर्ट हासिल करने में सफलता मिली। लगभग यही हाल हुआ अमेरिका के राजदूत कार्यालय से विजा निर्गत कराने में। स्टेट बैंक ऑफ जयपुर एंड बीकानेर, दिल्ली की नेहरू प्लेस शाखा में सहायक महाप्रबंधक पद पर पदस्थापित तथा स्व. डॉ. शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव के एकलौते सुपुत्र श्री पारिजात सौरभ ने न केवल ऑन लाइन प्रपत्र भरवाने तथा पंजीकरण व वीजा शुल्क की राशि जमा करने में, बल्कि ब्रिटिश एयरवेज के फ्लॉइट का किराया देकर टिकट कटाने में जिस सदाशयता और धैर्य का परिचय दिया बावजूद इसके कि उसकी एक बाँह लंदन की सड़क-दुर्घटना में चूर-चूर हो जाने के कारण पलास्टर से बँधा था, उसके प्रति तहेदिल से आभार प्रकट करना केवल औपचारिकता ही होगी, फिर भी औपचारिकतावश ही सही बिहार सरकार के मुख्यमंत्री सहित संबंधित सभी अधिकारियों एवं पारिजात की हार्दिकता के प्रति दल की ओर से मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

ब्रिटिश एयरवेज की फ्लाइट से लंदन हवाई अड्डा होते हुए जब हमलोग न्यूयार्क के जॉन एफ० केनेडी हवाई अड्डे पर पहुँचे तो विदेश मंत्रालय के अधिकारियों ने स्वागत कर बस तथा टैक्सी से होटल पेंसिल्वानिया पहुँचाया, जहाँ कमरे पाने के लिए अफ़रातफ़री मची थी, पर देश-विदेश से परिचित-अपरिचित प्रतिनिधियों से मिलकर इतनी खुशी हो रही थी कि ग़म फीका पड़ गया और खुशी और ग़म के दौर से गुज़रने के बाद जब सभी लोगों को कमरे आवंटित हो गए तो रात के खाने पर हम देश-विदेश के सभी प्रतिनिधि फ़ैशन इंस्टीटयूट ऑफ़ टेक्नौलॉजी के परिसर स्थित कैफ़ेटेरिया में मिले और पहले तो हवाई-यात्रा के वृतांत आपस में बाँटे फिर हिंदी को कैसे विश्व मंच पर स्थापित कर संयुक्त राष्ट्र की स्वीकृत भाषा में हिंदी को सम्मिलित कराया जाए से संबंधित विचारों का आदान-प्रदान होता रहा। खाने के सिलसिले में बताऊँ कि जितने भी दिन हमलोग न्यूयार्क में बिताए भारतीय व्यंजन पाकर कृत-कृत हुए।

इसके पूर्व कि अगले दिन यानी 13 जुलाई, 2007 ई० को संयुक्त राष्ट्र संघ के न्यूयार्क स्थित मुख्यालय के ऐतिहासिक सभागार में आयोजित उद्घाटन सत्र के साथ-साथ शैक्षिक सत्र की चर्चा करूँ नागपुर में सन् 1975 ई० से प्रारंभ प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन से लेकर मॉरीशस, नई दिल्ली, पोर्टलुई, पोर्ट ऑफ़ स्पेन, (मॉरीशस), त्रिनिदाद एवं टोबेगो, लंदन (यू०के०) तथा पारामारीबो (सूरीनाम) में कुल सात विश्व हिंदी सम्मेलन हो चुके हैं जिनमें अनेक देशों से आए हिंदी विद्वानों ने सक्रिय रूप से भाग लिया और संयुक्त राष्ट्र संघ में जहाँ अब तक अँग्रेज़ी, फ्रांसीसी, रूसी, स्पेनिश, चीनी तथा अरबी इन छः भाषाओं को मान्यता मिली हुई है, वहीं हिंदी को भी संयुक्त राष्ट्र की स्वीकृत भाषा के रूप में स्थान दिलाने का प्रयास हुआ है, किंतु 'ढाक के वही तीन पात' यानी बात वहीं की वहीं लटककर रह जाती है।

न्यूयार्क में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन का यह आठवाँ पड़ाव है जिसमें पहली बार संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय में हिंदी की गूँज सुनाई पड़ी है और संयुक्त राष्ट्र के महासचिव श्री बान की मून ने अपने भाषण का अधिकांश वाक्य हिंदी में बोल कर यह संकेत दिया है कि हिंदी को अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। ज़रूरत केवल इस बात की है कि भारत सरकार सभी समर्थ देशों से संपर्क स्थापित कर एक सघन अभियान चलाए और संयुक्त राष्ट्र की अगली बैठक में मान्यता दिलाने हेतु सभी प्रक्रिया को पूरा करे। भारतीय प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व कर रहे विदेश राज्य मंत्री श्री आनन्द शर्मा, जो उद्घाटन सत्र की अध्यक्षता कर रहे थे के ओजस्वी भाषण से भी इसी आशय के संकेत मिले।

जो हो, तीन-दिवसीय सम्मेलन के दस शैक्षिक सत्रों में हिंदी से संबंधित 'संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी', 'भारत और विदेशों में हिंदी शिक्षण : समस्याएँ और समाधान', 'वैश्वीकरण, मीडिया और हिंदी', 'विदेशों में हिंदी सृजन-प्रवासी हिंदी साहित्य', 'हिंदी के प्रचार-प्रसार में हिंदी फ़िल्मों की भूमिका', 'हिंदी, युवा पीढ़ी और ज्ञान-विज्ञान', 'हिंदी भाषा और साहित्य : विविध आयाम', 'साहित्य में अनुवाद की भूमिका', 'हिंदी और बाल साहित्य' तथा 'देवनागरी लिपि' विषयों पर परिचर्चाएँ आयोजित हुई जिनमें

देश-विदेश के जिन हिंदी के विद्वानों व साहित्यकारों ने आलेख प्रस्तुत किए अथवा चर्चा में भाग लेकर सम्मेलन की गरिमा बढ़ाने के साथ-साथ राष्ट्रभाषा हिंदी को विश्व मंच पर स्थापित करने में प्रभावी ढंग से अपनी भूमिका निभाई उनमें श्री पवन कुमार वर्मा, श्री आरिफ़ ख़ान, डॉ० गिरिजा व्यास, डॉ० एल०एम० सिंधवी, श्रीमती चित्रा मुद्गल, डॉ० परमानंद पांचाल, डॉ० मधु धवन, डॉ० निर्मला एस० मौर्य, डॉ०पी० जयरमन, श्रीमती विनोदवाला अरुण, श्री नीलम देव, श्री जसदेव सिंह, डॉ० अनंत राम त्रिपाठी, प्रो० रामशरण जोशी, डॉ०एन० शेषण, श्री जियांग जिंग कुई, सुश्री अंजना संधीर, प्रो० सूरजभाजन सिंह, डॉ० तारकेशी फुजिई, श्रीचंद जायसवाल, डॉ० निर्मला जैन, पद्मेश गुप्त, प्रो० यू०जी० किम, प्रो०दानातेला, श्री राजेन्द्र अवस्थी, प्रो० कृष्ण दत्त पालीवाल, डॉ० इंदिरा गोस्वामी, डॉ० रामवचन राय, डॉ० स्पर्ट स्नेस, श्री हरदेव सहल, डॉ० कृष्ण कुमार, श्री हरिवंश, प्रो० राम बुझावन सिंह, डॉ० सुखदा पाण्डेय, श्री रामउपदेश सिंह 'विदेह', श्री रंजन कुमार सिंह, श्रीमती वीणा श्रीवास्तव, डॉ० किरण राई, प्रो० उषा किरण ख़ान, श्री चामोला, श्री भट्टाचार्य, डॉ० बुद्धिनाथ मिश्र, तथा डॉ० विजय कुमार मल्होत्रा आदि का नाम उल्लेखनीय है।

मैं इस मायने में अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ कि सम्मेलन के प्रथम दिन यानी 13 जुलाई, 2007 ई० के अपराह्न सत्र में फ़ैशन इंस्टीट्यूट ऑफ़ टेक्नोलॉजी के ओडोटोरियम में श्रीमती मृणाल पाण्डेय की अध्यक्षता तथा जनमत चैनल के श्री राहुल देव के संचालन में 'वैश्वीकरण, मीडिया और हिंदी' विषय पर आयोजित परिचर्चा में पहले से तैयार इस विषय पर आलेख प्रस्तुत करने का मुझे भी अवसर मिला और परिचर्चा में मैंने सक्रिय रूप से भाग भी लिया। इस संदर्भ में यह कहना भी कदाचित अनुचित न होगा कि इस देश के अनेक ऐसे हिंदी के मर्मज्ञ तथा उद्‌भट् विद्वान हैं जिनकी उपस्थिति से यह सममेलन वंचित रहा। विश्वास है वैसे साहित्यकारों के विचारों का भारत सरकार हिंदी को राष्ट्र संघ की मान्यता दिलाने में उपयोग करेगी।

कह नहीं सकता कि बिहार द्वारा बिहार की ओर से आठवें विश्व सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि मंडल में मुझे शामिल किए जाने पर हिंदी को कितना बल मिला है, पर इतना अवश्य है कि राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति मेरी निष्ठा और अनवरत रूप से इसकी सेवा ने मुझे आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में भाग लेने से मेरा मनोबल बढ़ा है, हिंदी को अपने लेखने से समृद्ध करते जाने का प्रोत्साहन मिला है जिस काम को मैं भारत सरकार की सेवा से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेकर निरंतर कर रहा हूँ। एक बार पुनः बिहार के मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार को उनकी सदाशयता के लिए तहेदिल से धन्यवाद देना चाहूँगा।

सम्मेलन का समापन सत्र 15 जुलाई, 2007 ई० के अपराह्न भारत के प्रधानमंत्री, डॉ० मनमोहन सिंह के विशेष प्रतिनिधि डॉ० कर्ण सिंह की अध्यक्षता में प्रारंभ हुआ। मंचासीन थे मॉरीशस के मानव संसाधन विकास मंत्री, श्री धर्मवीर गोखुल, नेपाल के उद्योग, व्यापार और आपूर्ति मंत्री, श्री राजेन्द्र महतो, डॉ० मधुकर राव चौधरी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि न्यूयार्क में विश्व भर के हिंदी प्रेमियों ने एकत्रित होकर इस सम्मेलन को भारतवासियों के ललाट पर आत्मगौरव के प्रतीक चिन्ह् के रूप में सिद्ध किया और यह आयोजन हिंदी को समृद्ध बनाने की दिशा में बढ़ाया गया एक संकल्पवान क़दम माना जाएगा। विश्वास है परायी भाषा और अँग्रेज़ी के वर्चस्व के नीचे दबी हमारी समस्त भारतीय

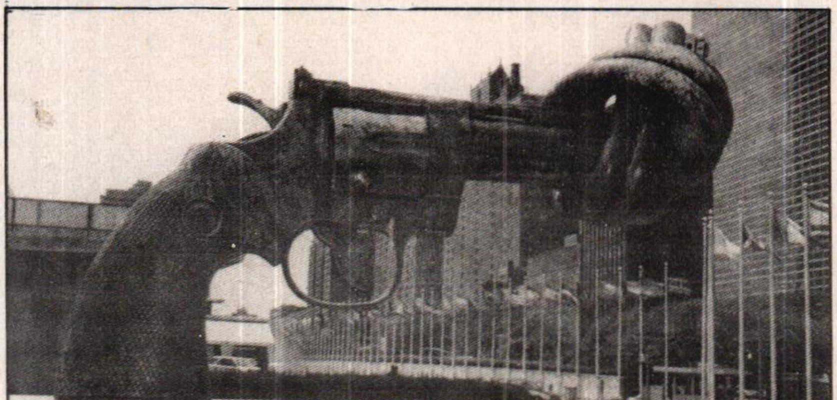

भाषाओं के लिए मुक्ति का एक प्रकाश भी होगा यह समेलन। इस सम्मेलन में सुप्रसिद्ध ग़ज़ल गायक पंकज उधास की ग़ज़लों ने जहाँ विश्व भर के हिंदी प्रेमियों को सराबोर किया, वहीं पद्मश्री नृत्यांगना गीता चंद्रन के नृत्य ने सांस्कृतिक कार्यक्रम में भारत की छटा बिखेरी। यही नहीं, फ़िल्म जगत के मशहूर शायर गुलज़ार की अध्यक्षता तथा प्रो० अशोक चक्रधर के संचालन में आयोजित कवि सम्मेलन ने श्रोताओं को काव्य-सुधा-रस पान तो कराया ही, कवि सम्मेलन की रात कविता नदी-सी बहती रही और इस सदी की कहानी कहती रही।

संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्यालय में मैंने यह भी देखा कि प्रतिनिधियों द्वारा जहाँ अलग-अलग समूह में तस्वीर खिंचवाने की होड़ लगी थी, वहीं परिसर के आगे लगे एक प्रसिद्ध मूर्तिशिल्प के समक्ष लोग फ़ोटो खिचवा रहे थे। मूर्तिशिल्प एक पिस्तौल का था जिसकी नाल में गांठ लगी थी जिससे इस बात का संकेत मिल रहा था कि हिंसा अब नहीं चाहिए। मेरा भी मानना है कि हिंसा सचमुच नहीं चाहिए, किंतु शर्त यह कि पिस्तौल की नाल की गांठ कभी न खुले। मगर आप को यह याद होगा कि वह गांठ कभी अफ़ग़ानिस्तान में खुल जाती है तो कभी इराक़ में। हाँ, एक गांठ यहाँ मुझे ज़रूर खुलती नज़र आई, जो हिंदी को लेकर अब तक बनी हुई थी।

मुझे ऐसा नहीं लगता कि इस बार के आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्यालय स्थित सभागार में इसके पहले कभी हिंदी की ऐसी गूँज सुनाई पड़ी होगी और यह कोई विराम नहीं, बल्कि प्रस्थान बिंदु है।

इन सबके बावजूद हम भारतीय लोकतंत्र के मंदिर-संसद तथा विधानमंडलों में बैठने वाले जनतिनिधियों पर जब हमारी नज़र जाती है और केंद्र सरकार के मंत्रालयों व विभागों में हिंदी की बदहाली को हम देखते हैं तो निराशा होना स्वाभाविक है। नागपुर के प्रथम सम्मेलन से न्यूयार्क के आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन तक आते-आते इसका सफ़र 32 वर्ष का हो गया है फिर भी हमारे देशवासियों और ख़ासकर यहाँ के नौकरशाहों व नेताओं की अँग्रेज़ियत मानसिकता जस की तस है। यह तो कहिए कि जिस राज्य का मैंने प्रतिनिधित्व किया वहाँ के मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार न केवल अपने बात-व्यवहार में शुद्ध हिंदी का प्रयोग करते हैं और सभा-संगोष्ठियों में भी उन्हें कभी अँग्रेज़ी का प्रयोग करते किसी ने आज तक नहीं देखा-सुना होगा, बल्कि अपनी सरकार के कार्यों का निबटारा भी हिंदी में करते हैं। यह हमारे लिए जहाँ गर्व की बात है, वहीं दूसरे राज्यों व नेताओं के लिए प्रेरणा के स्रोत। हमें लगता है कि केंद्र सरकार के मंत्रालयों व विभागों में हिंदी की बदहाली देखकर ही विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजकों के मन में यह ख़्याल आया होगा कि सात समुंदर पार विदेशों में जहाँ हिंदी बोली और समझी जाती है वहाँ इसके आयोजन से शायद स्वदेश में हिंदी की दशा सुधर जाए। नागपुर से चलकर विश्व हिंदी सम्मेलन का आठवाँ पड़ाव विश्व की राजधानी न्यूयार्क में इस आशा के साथ पहुँचा कि हिंदी यदि परदेश में सम्मानित होगी, तो देश में लोगों के दिलों में हिंदी का खोया स्वाभिमान जाग उठेगा, मगर आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में पधारे भारतीय प्रतिनिधिमंडल के सदस्यों को अँग्रेज़ी में बात-चीत करते हुए जब मैंने देखा और सुना तो सारी आशाओं पर पानी फिरता नज़र आया। कारण कि चाहे सम्मेलन का उद्घाटन सत्र हो या कोई शैक्षिक सत्र या हो होटल का परिसर प्रायः अधिकांश स्थलों पर अधिकतर प्रतिनिधियों को मैंने अँग्रेज़ी में बात-चीत करते हुए पाया। आश्चर्य तो तब हुआ जब उत्तर भारत के प्रतिनिधि भी आपस में अँग्रेज़ी में बात-चीत करते देखे गए। मुझसे रहा न गया, तो कुछ लोगों को मैंने बात-चीत के दौरान टोका भी और कहा, "क्या आप हिंदी में बात नहीं कर सकते? आप हिंदी सम्मेलन में हिंदी को बढ़ावा देने के ख़्याल से पधारे हैं।" देखा उनकी भृकुटी मुझपर तन-सी गईं मगर चाह कर भी वे अपनी शर्मिंदगी छिपा न सके। अँग्रेज़ी बोलकर अपने वर्चस्व-स्थापना की उनकी रही-सही भावना भी जाती रही। दरअसल ऐसे लोग हीन भावना से ग्रस्त हैं। यह उनकी बीमारी है, जो अँग्रेज़ियत मानसिकता के चलते छूट न पा रही है और हम चाह कर भी हिंदी को अपने माथे की बिंदी नहीं बना पा रहे हैं।

सच तो यह है कि सरकारी खर्चे पर दुनिया के कल्पना-लोक की उड़ान का आनंद प्राप्त करना ही ऐसे सम्मेलनों में प्रतिनिधियों की भागीदारी को विशेष बना देता है और जिन लोगों ने जुगाड़-तुगाड़, सिफ़ारिश और ऊँची पहुँच-पैरवी के बल पर यात्रा का टिकट पा लिया वे उद्देश्यों को भूल गए और उद्घाटन सत्र में तस्वीर आदि खिंचवाने के बाद ही भारत से जानेवाले अधिकतर प्रतिनिधि न्यूयार्क और उसके

आस-पास के दर्शनीय स्थलों में हिंदी का भविष्य तलाशने निकल गए। यह तो कहिए कि अमेरिका और अन्य करीबी देशों के प्रवासी भारतीय प्रतिनिधि और हिंदी प्रेमियों ने ही सभागार में अपनी उपस्थिति दर्ज कर भारतीय प्रतिनिधियों को ज़लालत से बचा लिया, कारण कि आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में प्रवासी भारतीय प्रतिनिधियों की संख्या क़रीब पाँच सौ से अधिक थी।

दरअसल इन दिनों कला व साहित्य के क्षेत्र में पनप रही राजनीति का ही परिणाम है कि हिंदी की यह दुर्दशा देखी जा रही है। आख़िर तभी तो भारत की आज़ादी के साठ साल बाद भी यहाँ हिंदी दिवस, हिंदी सप्ताह, हिंदी पखवाड़ा और हिंदी माह मनाने की पीड़ादायी आवश्यकता महसूस की जा रही है। आपने कभी सुना कि जापान में जापानी दिवस, इंग्लैंड में अँग्रेज़ी दिवस, फ्रांस में फ्रांसीसी दिवस अथवा रूस में रूसी दिवस मनाया जाता हो?

भारत में वर्षों की गुलामी और अँग्रेज़ियत मानसिकता का ही परिणाम है कि यहाँ पर स्वदेशी समस्या का विदेशी समाधान खोजा जाता है। विश्व हिंदी सम्मेलन में हिंदी के भविष्य और भविष्य में हिंदी पर परिचर्चा भी ऐसी ही क़वायद है जिसमें बीमारी जाने बिना चिकित्सा की कोशिशें जारी हैं। सच तो यह है कि अपने मिथ्याभिमान में हम भारत के लोग यह भूल बैठे हैं कि जब हम ही अपनी भाषा का तिरस्कार करेंगे, तो उसे ग़ैर कहाँ तक सम्मान दे पाएँगे। संयुक्त राष्ट्र के कपाल पर कल हिंदी का तिलक हो भी जाए, तो क्या उसके अपने घर में माथे की बिंदी बनने में अभी बहुत वक्त नहीं लगेगा?

इस यात्रा-वृतांत का अंत हम ब्रिटिश एयरवेज की विमान सेविका भावना के उस सौंदर्य-वर्णन से करना चाहूँगा, जो वाकई काबिले तारीफ था। 16 जुलाई 2007 को जब जॉन एफकेनेडी एयरपोर्ट न्यूयार्क से लंदन के हिथो एयरपोर्ट पहुँचा, तो वहाँ से दिल्ली के लिए मुझे ब्रिटिश एयरवेज का ही दूसरा फ्लाइट पकड़ना पड़ा जिसमें औरं विमान-सेवक, सेविकाओं के साथ मेरे हिस्से के जिम्में एक भावना नाम की विमान सेविका विमान में सुख-सुविधाएँ प्रदान करने के लिए आई जिसके चेहरे पर इतना लावण्य था कि किसी की भी नजर उस पर टिकना स्वभाविक था। सो मेरी नज़र से भी वह बच न सकी और बचती भी तो कैसे, नौ घंटों की उड़ान के दौरान खान-पान और जलपान में भावना की सेवा जो हमलोगों को मिल रही थी। सच मानिए, भारतीय विमान सेविकाओं की सुंदरता की तुलना में विदेशी विमान सेविकाओं की सुंदरता कहीं नहीं ठहरती।

दिल्ली के इंदिरा गाँधी अंतरराष्ट्रीय एयरपोर्ट पर हम प्रतिनिधियों को जब विमान से उतरने की सूचना दी गई, तो उस विमान सेविका से मैंने उसका नाम पूछा। नाम बताने में पहले उसे थोड़ी सकपकाहट तो

हुई पर यात्रा वृतांत लिखने तथा दिल्ली से प्रकाशित 'विचार दृष्टि' पत्रिका के संपादक का परिचय जानते ही उसने कहा,-'भावना'। मैंने पुन: कहा, 'भारतीय मूल की हो।' उसने इसका उत्तर 'हाँ' में दिया।

विमान सेविका भावना में सुंदरता के वाह्य रूप के साथ-साथ उसमें उदात्त लोक-व्यवहार आदि मूल्य भी सन्निहित थे। उसके बाहरी ही नहीं, आंतरिक सौंदर्य के व्यापक और समग्र स्वरूप को टटोलने का मैंने यथासंभव प्रयास किया और मैंने पाया कि उसमें मानव सौंदर्य के साथ-साथ भाव सौंदर्य, विचार सौंदर्य और अभिव्यक्ति सौंदर्य भी निहित थे। दरअसल सौंदर्य की पश्चिम दृष्टि समग्र नहीं है, बल्कि भारतीय-दृष्टि से रूप का धर्म है सौंदर्य। इसकी परख मैंने अपने भाव और विचार के स्तर पर की और सौंदर्य चेतना की अभिव्यक्ति का मैंने माध्यम बनाया भावना के वस्त्र (साड़ी), आभूषण आदि उपादानों को। सच कहा जाए तो भावना के संपूर्ण सौदर्य की यदि मैं व्याख्या करूँ, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि संस्कृति ही जीवन का आंतरिक सौंदर्य है और वह भारतीय संस्कृति की जड़ों में ही सन्निहित है। और भारतीय संस्कृति की जड़ें बड़ी गहरी हैं। भारतीय संस्कृति की जो झलक भावना के सौंदर्य और आचार-व्यवहार तथा साड़ी आदि के भारतीय पहनावे में दिख पड़ा उस संस्कृति की जड़े ही तो बड़ी गहराई में हैं। जीवन का आंतरिक सौंदर्य उसी भारतीय की जड़ों के रसातल से रस ग्रहण करते हुए अपना अस्तित्व बनाए है और यदि मैं इकबाल के शब्दों को उधार लेकर कहू, तो भारत की यही संस्कृति अभी बची हुई है जिसके फलस्वरूप इस देश की हस्ती चाहकर भी मिट नहीं पाती। 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।' 'वह कुछ बात यही हमारी संस्कृति है जिस पर आज हमला बोला ज रहा है, क्योंकि पश्चिमी संस्कृति हमपर हावी है जिसका अँधानुकरण हम कर रहे हैं। जो कुछ न्यूयार्क की सड़कों पर हमने आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन के दौरान देखा मुझे डर है कि यदि इसी तरह हम उसका अँधानुकरण करते रहे, तो हमारे मूल्य-मर्यादाओं का क्या होगा?

हमारी अस्मिता प्रकट रूप में इसी भारतीय संस्कृति और स्वभाषा हिंदी में प्रतिबिंबित होती है और उसी से बनती-बिगड़ती है। इसलिए अपनी भाषा और संस्कृति के साथ भेदभाव और छेड़छाड़ करने से संभव है हम हाशिए पर चले जाएँ। हमारी सांस्कृतिक पहचान और सांस्कृतिक अस्मिता की कोई सार्थकता है, तो विदेशों में बसे प्रवासी भारतीय समाज के द्वारा जो हिंदी भाषा बोली जा रही है और जो संस्कृति उनके जरिए बरकरार है उसकी संवाहिका 'सेतु' के रूप में हिंदी ही है जिसे विश्व मंच पर रूपायित करने के लिए हम पिछले 32 वर्षों से विश्व हिंदी सम्मेलन करते आ रहे हैं। न्यूयार्क का आठवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन उसी सफर की एक कड़ी है। भाषा और संस्कृति के बीच सीधा रिश्ता है इसलिए प्रयास हो कि भाषा की संयुक्त राष्ट्र द्वारा स्वीकृति और भारतीय संस्कृति साथ-साथ चले।

संपर्क:
सदस्य, भारतीय प्रतिनिधि मंडल
8वाँ विश्व हिंदी सम्मेलन
'दृटि', यू-207, शकरपुर, विकास मार्ग
दिल्ली-110092
फोन: 011-22530652

हिंदी में बालसाहित्य
(बीज वक्तव्य)

–डॉ. हरिकृष्ण देवसरे

आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में 'हिंदी में बालसाहित्य' विषय पर विशेष सत्र के आयोजन ने, हिंदी के आलोचकों द्वारा प्रचारित उस मिथक को तोड़ा है कि 'हिंदी बालसाहित्य है ही कहाँ?' दरअसल, हिंदी में बालसाहित्य कितना समृद्ध है इसे जानने-पढ़ने का प्रयास हुआ ही नहीं। जबकि मैं इस विश्व हिंदी मंच पर यह बताना चाहता हूँ कि हिंदी का बालसाहित्य, भारत की सभी भाषाओं की तुलना में कहीं ज्यादा समृद्ध हैं। हिंदी के बालसाहित्य में स्वतंत्रता के बाद लगभग सभी विधाओं में न केवल पर्याप्त और श्रेष्ठ बालसाहित्य लिखा गया, बल्कि बालसाहित्य लेखन की सार्थकता और अपने समय के बच्चों से उसके सबंधों को लेकर बहसें भी हुईं। राजा-रानी की सामंती प्रवृत्ति की पोषक कहानियों, परियों के झूठे हिंडोले पर झुलाने वाली परीकथाओं आदि सभी की सार्थकता पर हिंदी में जो बहस चली वह आगे जाकर मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में भी स्वीकार हुई। दरअसल, विगत शताब्दी के सातवें दशक से हिंदी बालसाहित्य लेखन की चिंतनधारा में बहुत बदलाव आया और उसे आधुनिक युग के बच्चों की आवश्यकता और उनकी सोच के अनुरूप लिखे जाने पर बल दिया गया। इस मुहिम में धर्मयुग, पराग, साप्ताहिक हिंदुस्तान आदि पत्रिकाओं ने उल्लेखनीय योगदान किया। मैं यहाँ यह भी रेखांकित करना चाहता हूँ कि बालसाहित्य आलोचना संबंधी सर्वाधिक पुस्तकें आज केवल हिंदी में उपलब्ध हैं। अब तक बालसाहित्य के विविध विषयों पर सत्तर-अस्सी शोध-प्रबंध विभिन्न विश्वविद्यालयों की पीएच.डी., एम-फिल आदि के लिए लिखे जा चुके हैं। इस समय हिंदी क्षेत्र के चालीस से अधिक विश्वविद्यालयों में बालसाहित्य पर शोधकार्य चल रहा है।

हिंदी बालसाहित्य के लिए यद्यपि यह बड़ी चिंतनीय बात है कि बच्चों के लिए कुछ गिनी-चुनी पत्रिकाएँ ही उपलब्ध हैं जबकि हिंदी के विशाल क्षेत्र में बालपाठकों का बहुत बड़ा समूह उपलब्ध हैं फिर भी इस बात का संतोष है कि पराग ने जिस आधुनिकताबोध के बालसाहित्य के प्रकाशन की परंपरा 1959 में शुरू की थी उसे भारत सरकार की पत्रिका बाल भारती और हिंदुस्तान टाइम्स प्रकाशन की पत्रिका नंदन भी अब आगे बढ़ा रही हैं। ग्रामोफोन के रिकॉर्ड में फंसी हुई से निकलकर नंदन इन दिनों आधुनिक बच्चों की रुचि के अधिक अनुकूल प्रकाशित हो रही है।

आज जब हिंदी बाल साहित्य की बात वैश्विक मंच पर की जाती है तो हमें नहीं भूलना चाहिए कि सत्तर के दशक में अमर चित्रकथाओं ने धूम मचा दी थी, क्योंकि उस समय प्रवासी भारतीय चाहते थे कि उनके बच्चे भारतीय इतिहास, संस्कृति, साहित्य आदि से जुड़े रहें। लेकिन, धीरे-धीरे स्थिति में बदलाव आया। प्रवासी भारतीय बच्चों में हिंदी की पुस्तकों के प्रति रुचि में कमी आई। यह कमी स्कूलों में हिन्दी पढ़ने वाले बच्चों में भी परिलक्षित हुई। अपने एक लेख में कमलेश्वर जी ने, विदेश मंत्रालय द्वारा आयोजित प्रथम मध्य-पूर्व क्षेत्रीय हिंदी सम्मेलन का जिक्र करते हुए उस सम्मेलन में अलध्रुवा ओमान के इंडियन स्कूल के श्यामबिहारी द्विवेदी के कथन को उद्धृत करते हुए कहा- ''कक्षा नौ और दस में शत-प्रतिशत अंक पाने की होड़ में छात्रों ने द्वितीय भाषा के रूप में हिंदी के सीन पर अब फ्रेंच या अरबी पढ़ना शुरू कर दिया है.......क्योंकि हिंदी में, मुश्किल हिंदी साहित्य पढ़ाया जाता है। कक्षा नौ की पाठ्य-पुस्तक का पहला पाठ है श्री प्रताप नारायण मिश्र जैसे विख्यात साहित्यकार की व्यंग्य रचना-'दांत' जो संस्कृत के कठिन शब्दों और उद्धरणों से भरी पड़ी है। बच्चों की इसमें रुचि नहीं है।''

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि हमारे पाठ्य-पुस्तक निर्माता आज के बच्चों की सोच से बहुत दूर हैं और वे आज भी हिंदी के पुराने से पुराने लेखकों और कवियों की घिसी-पिटी साहित्य सामग्री ही बच्चों को पढ़वाकर काम चलाना चाहते हैं। कारण स्पष्ट है कि उन्हें न ये पता है कि बच्चों के लिए नया और श्रेष्ठ क्या लिखा जा रहा है और न ये पता है कि बच्चों को भाषा का ज्ञान कराने के लिए नया क्या कुछ पढ़ाये जाने की आवश्यकता है। जबकि सच्चाई यह है कि हर आयु के लिए हिंदी में श्रेष्ठतम बाल कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, विज्ञान कथाएं-सभी कुछ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जो आज के बच्चों की रुचि एवं मनोविज्ञान के अनुरूप लिखी गई हैं। आवश्यकता है तो केवल उस पुल की जो ऐसे बाल साहित्य को बच्चों तक पहुँचाने का माध्यम बने। जाहिर है ऐसे पुल का पहला स्तंभ वे लोग हैं जो बच्चों की पाठ्य-पुस्तकों के लिए सामग्री का चयन करते हैं। यह गंभीर प्रश्न है कि जो लोग इस काम के लिए किसी भी संस्था से जुड़े हैं उनके पास श्रेष्ठ बालसाहित्य की सामग्री विशेष रूप से आज के बच्चों के लिए लिखी गई रचनाओं का मूल्यांकन करने और उन्हें एकत्र करने का आधार एवं साधन क्या हैं? इसी तरह प्रवासी

बच्चों के लिए जो लोग पाठ्य सामग्री तैयार करते हैं वे वास्तव में उनकी भाषायी समस्या और उनके जिज्ञासापूर्ण संसार से वे कितना परिचित हैं इस पर विचार किया जाना अपेक्षित है। पुल का दूसरा स्तंभ वे प्रकाशक हैं जो हिंदी बालसाहित्य को अब तक केवल थोक बिक्री का साधन मानते रहे हैं। उनका कहना यह हे कि हिंदी में बालसाहित्य का 'काउंटर सेल' ना के बराबर है और वे बालसाहित्य इसलिए छापते हैं कि किसी भी सरकारी खरीद में वह खप जाय और उन्हें मुनाफा मिल जाय। यह चिंता की बात है कि हिंदी बालसाहित्य की पुस्तकें पुस्तक विक्रेताओं या उपहार की दुकानों पर उपलब्ध नहीं होता है जबकि अँग्रेजी की पुस्तकें आसानी से मिल जाती हैं। यह भी विचारणीय है कि साठ वर्ष हो जाने के बाद आज तक हिंदी प्रदेश में जन्म दिवस या दीवाली-दशहरा जैसे त्योहारों पर कीमती खिलौनों की बजाय बालसाहित्य भेंट में देने की कोई परंपरा नहीं बन पाई तीसरा स्तंभ है, बालसाहित्य समीक्षा का न प्रकाशित होना। हिंदी के दैनिक अखबार, साप्ताहिक पत्रिकाएँ और मासिक पत्रिकाएं हिंदी की विविध विधाओं की पुस्तकों की तो लंबी-लंबी समीक्षा छापते हैं किंतु बालसाहित्य में जो श्रेष्ठ लिखा जा रहा है और बालसाहित्य आलोचना संबंधी जो पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं उनका कहीं कोई जिक्र तक नहीं होता। आज यदि माता-पिता अध्यापक और अभिभावक यह जानना चाहें कि हम अपने बच्चों को कौन-सी श्रेष्ठ पुस्तकें पढ़ने को दें तो उन्हें इस प्रश्न के उत्तर में निराशा ही हाथ लगती हैं मुझे यह कहने में भी संकोच नहीं है कि हिंदी बालसाहित्य की समीक्षा प्रकाशित करने में हुई उपेक्षा के फलस्वरूप विगत साठ वर्षों में हमने हिंदी साहित्य के पाठक खोये हैं पिछले साठ वर्षों में बच्चों की जो पीढ़ियाँ बड़ी हुई हैं उन्होंने हिंदी की पाठ्य-पुस्तकों के अलावा पाठ्येतर साहित्य बहुत कम पढ़ा है और उसके परिणामस्वरूप बड़े होने पर साहित्य के प्रति अनुराग उनमें कम हुआ हैं इन सभी कमियों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करने का उद्देश्य यह है कि हम हिंदी को कहीं उसकी जड़ में कमजोर बना रहे हैं, क्योंकि कमलेश्वर जी के शब्दों में अगर कहूँ तो 'हिन्दी के पाठक हमें श्रेष्ठ बालसाहित्य के आंवे में पक कर ही मिलते हैं'। और बालसाहित्य की उपेक्षा करके हमने बच्चों को साहित्य से दूर किया है जिसके परिणामस्वरूप उनमें संवेदनशीलता और मानवीय संबंधों की मधुरता कम हुई हैं इसलिए हिंदी बालसाहित्य को यदि आज विश्व मंच पर प्रस्तुत होने का अवसर मिला है तो हमें उसकी समस्याओं के साथ-साथ श्रेष्ठतम के चयन की प्रक्रिया की परिकल्पना भी निर्धारित करनी होगी।

बच्चों की बदलती मानसिकता, औद्योगीकरण का उन पर प्रभाव और फिर नई सामाजिक संरचना जब अस्सी के दशक में यह अनिवार्य बना दिया कि घिसी-पिटी कहानियों, कविताओं आदि से मुक्त करके बच्चों को आधुनिकताबोध की रचनाएँ दी जाएं तो लोगों को भय लगा कि हम कहीं अपने इतिहास, संस्कृति या भारतीयता से उखड़ न जाएँ। लेकिन यह सोच बड़ी नकारात्मक सोच थी क्योंकि यह भी तो उचित न था कि दुनिया आगे निकल जाय और हम कूप मंडूक बने बैठे रहें। बालसाहित्य में आधुनिकता बोध की जब चर्चा की गई तो उसका तात्पर्य जहाँ वर्तमान सामाजिक संरचना और परिवेश से रहा है वहीं उस वैज्ञानिक दृष्टि से भी रहा है जो सभी समस्याओं प्रश्नों को भविष्य के संदर्भ में देखती है- उस भविष्य के पार जो बेहद चुनौतियों भरा है, जिसमें संस्कृतियों और परंपराओं के लिए चुनौतियाँ हैं, जिसमें नयी मान्यताएँ और जीवन शैली पल्लवित होगी और जिसमें मानवता का स्वरूप क्या होगा इस बारे में विद्वानों और चिंतकों में तरह-तरह की शंकाएँ हैं। हम जो भविष्य बच्चों को देने वाले हैं, वह कैसा होगा? उसमें क्या मानवता जीवित बचेगी या दम तोड़ देगी? ये और ऐसे ही अनेक प्रश्न आज केवल भारतीय संदर्भ में ही हमारे बालसाहित्य की चिंता का विषय नहीं है, बल्कि विश्व के संदर्भ में भी बालसाहित्य लेखकों की यह चिंता उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हो रही हैं क्या हिंदी के बालसाहित्य को इन समसामयिक सरोकारों से नहीं जुड़ना चाहिए? मुझे लगता है कि इस परिप्रेक्ष्य में जब आधुनिकताबोध के बालसाहित्य की रचना की पहल की गई तो उस समय से आज तक जिन बालसाहित्याकारों ने इस 'वैचारिक प्रतिबद्धता' के साथ बालसाहित्य लिखा, उनके ही प्रयत्नों का फल हे बच्चों की मानसिकता में निरंतर बदलाव आया है और हर पीढ़ी ने बड़े होकर अपनी भावी पीढ़ी को यह सोच और वैज्ञानिक विरासत दी है जिसे आधुनिकताबोध का बालसाहित्य कहा गया।

आज के बालसाहित्य की रचना से यह अपेक्षा के जाती है कि वह आज की नई संस्कृति, वैज्ञानिक दुनिया और सूचना प्रौद्योगिकी के युग में भारतीय मूल्यों की रक्षा करते हुए उन्हें उनकी आज की भाषा में उपलब्ध हो। उनकी विषय-वस्तु और कथानक ऐसे हों जो उसे अपने में बांध लें। इसलिए बालसाहित्य लेखकों को बच्चों के उस भविष्य को पहचानना होगा जो उन्हों चुनौतियों के रूप में मिलने वाला है। आज बालसाहित्य लेखक के चिंतन का फलक इतना विस्तृत होना चाहिए कि वह राष्ट्रीयता और देश की सीमाओं के पार सुदूर अंतरिक्ष तक फैला हो। आज छोटे-छोटे बच्चे अंतरिक्ष में उड़ान की बात करते हैं, विज्ञान की कक्षाओं में भविष्य के मॉडल बनाते हैं तब हम उन्हें संस्कृतनिष्ठ शब्दों से युक्त प्रतापनारायण मिश्र का व्यंग्य निबंध 'दांत' पढ़ा कर क्या बताना चाहते हैं? हमारी परंपरा, हमारा

इतिहास हमें प्रेरणा दे सकता है, मूल्यों की रक्षा करना सिखा सकता है। किंतु यदि वह भविष्य में अग्रसर होने की भावना को कुंठित बनाने लगे तो वह घातक हो सकता हैं, क्योंकि हमें नहीं भूलना हैकि आज बच्चे इतना सक्षम हैं कि वे आपको स्वयं नकार देंगे। आपकी और आपकी व्यवस्थओं को रिजेक्ट कर देंगे, क्योंकि उन्हें पता है कि उन्हें क्या चाहिए। मैं यहाँ अँग्रेजी के एक बालसाहित्य आलोचक की उक्ति कहना चाहता हूँ कि आप बच्चों को कोई भी पुस्तक पढ़ने के लिए बाध्य नहीं कर सकते हैं और यह भी जरूरी नहीं है कि उनके लिए लिखी गई बालसाहित्य की हर पुस्तक वे स्वीकार ही कर लें। बालसाहितय तो वही है जिसे बच्चे पढ़ना पसंद करें, फिर चाहे वह बुनियादी तौर पर बड़ों के लिए ही क्यों न लिखा गया हो। आज विश्व बालसाहित्य के कलेसिक्स-गुलीवर्स टेल्स, राबिन्सन क्रूसो, डेविड कॉपरफील्ड, टॉमसायर आदि बच्चों के लिए नहीं लिखे गए थे। लेकिन बच्चों ने उन्हें अपना लिया। इसलिए हिंदी में बालसाहित्य लेखन को इस सोच से बाहर निकलना होगा कि उन्होंने जो लिखा वह ही सही बालसाहित्य है।

भारत आज विश्व के देशों के लिए एक बड़ा बाजार बन गया है और हर दिशा में उपभोक्तावादी संस्कृति का आक्रमण हो रहा है-उसके केंद्र में बच्चे पहले नंबर पर हैं और दूसरे नंबर पर महिलाएँ हैं। जो लोग आज की उपभोक्तावादी संस्कृति से परिचित हैं, वे यह जानते हैं कि इसके दूरगामी परिणाम हमारे लिए कितने घातक सिद्ध होने वाले हैं वे हमें अपने आदर्शों, मूल्यों और अपनी जमीन से काटकर अलग कर देने वाले हैं। मुझे लगता है कि आज बालसाहित्यकार का दायित्व, बच्चों के चारों ओर फैल रही उपभोक्तावाद की विषेली अमरबेल के खतरों के प्रति सावधान करना है। आज के बालसाहित्य में युगानुरूप बदलाव अनिवार्य है। उसे, उपभोक्तावादी संस्कृति के मायाजाल और चमकदमक में फंस रहे बच्चों को उससे सावधान करना हैं बच्चों को आज के जीवन, समाज और संस्कृति, राजनीति, अपराध आदि के वातावरण से अपरिचित न समझें वे दरअसल आज के इस विषैले माहौल से बचने के रास्ते तलाश कर रहे हैं। उन्हें तलाश है ऐसे शस्त्रों की जिनके बल पर वे भविष्य में, समाज की विकृतियों और विषैलेपन का विनाश कर सकें कौन देगा उन्हें ये शस्त्र? यह बालसाहित्यकार ही है जो अपनी सशक्त रचनाओं से बच्चों में नई चेतना, नई स्फूर्ति ला सकता है और सूचना प्रौद्योगिकी एवं उपभोक्तावादी संस्कृति के विषैले दुष्प्रयोग के प्रति सावधान कर सकता हैं हिंदी बाल साहित्य के समक्ष आज ये चुनौतियाँ केवल भारत के स्तर पर ही नहीं, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी हमारी चिंता का विषय होना चाहिए।

विश्व मंच पर हिंदी बालसाहित्य की लोकप्रियता की स्थिति भविष्य में ज्यादा गंभीर हो सकती है, क्योंकि धीरे-धीरे सूचना प्रौद्योगिकी का जो विकास हो रहा है वह किताब को और भी गैर-जरूरी बनाने की कोशिश कर रहा है। विदेशों में नई पीढ़ियाँ भी प्रौद्योगिकी की नवीनतम खोजों के प्रति आकृष्ट हो रही हैं और "पेन" से लिखना कम से कम जरूरी होता जा रहा है। एक ओर जहाँ हिंदी में "बलूमिंग लेखन" को विकसित किया जा रहा है, वहीं भाषाई टैक्नोलॉजी को भी बढ़ावा देने की कोशिशें हो रही हैं ताकि बहुउद्देशीय कंपनियों और भारत के बीच सहयोग में बढ़ोत्तरी हो सकें। यों भी भाषा पढ़ना, विशेष रूप से साहित्यिक भाषा पढ़ना और भी कम होता जा रहा है। तब हिंदी पढ़ने वालों और स्वयं हिंदी का विदेशों में क्या हश्र होगा?

इसलिए यदि प्रवासी भारतीय बच्चों को बचपन से ही अपनी जड़ों से जोड़े रखना है, तो यह केवल बालसाहित्य के द्वारा ही संभव है और उसकी अहमियत को समझकर हिंदी के विकास से जोड़ना होगा ताकि विश्व मंच पर उसकी जरूरत की पैरवी की जा सके। बालसाहित्य ही बच्चों को भारतीय भाषा, संस्कृति, इतिहास, भूगोल, त्यौहार, रिश्तों से जोड़े रखने के संस्कार दे सकता है। बच्चों को यह सरल और रोचक ग्राह्य भाषा में मिलेगा तो वे उसे हृदयंगम कर लेंगे और तब वे अपनी जड़ों से भी दूर नहीं होंगे। इसी पर निर्भर करेगा-हिंदी का भविष्य, हिंदी समाज, हिंदी संस्कृति और साहित्य का भविष्य।

-संपर्क
102, एच.आई.जी., ब्रजविहार
पोस्ट-चंद्रनगर,
ग़ाज़ियाबाद 201 011 (उ.प्र.)
फोन: 0120-2627905

विचार दृष्टि
के नियमित प्रकाशन के लिए
एवं सरदार पटेल की 132वीं जयंती के अवसर पर
हमारी हार्दिक शुभकामनाएँ
मे. श्रीराम आयरन
खगौल रोड, पटना-9

विदेश में हिंदी की लोकप्रियताः हिंदी फिल्मों का संदर्भ

–प्रो. (डॉ.) निर्मला एस. मौर्य

भाषा व्यक्ति ही नहीं सामाजिक साझेदारी की भी संवाहिका होती है। हिंदी भारत और हर भारतवासी की अस्मिता है और सांस्कृतिक परंपरा की विरासत की वाहिका है। राष्ट्रीय भाषा हिंदी अब मात्र भारत राष्ट्र की भाषा नहीं, अपितु आज हिन्दी वैश्विक गाँव (Global Village) के निर्माण में फिल्मों का सहारा ले रही है। फिल्मों के प्रति मानव की रुचि कोई नई नहीं है। चलचित्र या फिल्मों का संसार बड़ा ही अनोखा और निराला होता है। तभी तो कबीर के शब्दों में कहें तो-लिखा लिखी की बात नहीं, देखा-देखी बात। साहित्य की तरह फिल्में समाज का आइना होती हैं वह व्यक्ति और समाज को उसका असली चेहरा दिखाने का प्रयास करती हैं। फिल्में सदैव सार्वभौमिक भाषा फिल्मों की ओर आकर्षित न हुआ हो। फिल्मकार सत्यजित रे मानते हैं कि-एक फिल्म चित्र है, शब्द है, आंदोलन है, नाटक-संगीत और कहानी हैं यह हजारों अभिव्यक्ति पूर्ण श्रव्य एवं दृश्य आख्यान है।

फिल्म निर्माताओं के लिए ऐसा शक्तिशाली माध्यम है जिससे सामाजिक परिवर्तन तो लाया ही जा सकता है साथ ही इससे भाषा की लोकप्रियता भी बढ़ती है। हिंदी की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है। फिल्में सामाजिक बुराइयों और अपराधों को सही ढंग से पहचानने में सहायक बनती हैं। फलतः उनसे दूर रहने की प्रेरणा मिलती है। डॉ. रोजर्स ने चलचित्र को विचारों के संप्रेषण का ऐसा माध्यम माना है जो किसी क्रिया को उतप्रेरित करने के लिए एक उत्तरोत्तर अनुक्रम में प्रक्षेपित छायाचित्रों की एक लंबी शृंखला है। विदेशों में हिंदी की लोकप्रियता-हिंदी फिल्मों से जुड़ी हैं तभी तो जगदीश चन्द्र माथुर कहते हैं कि-हिंदी पत्रकारिता ने वाकचित्रों में विश्व के कोने-कोने से जीवन की सांगोपांग छवियों, संगीत, ध्वनियों और बोलियों को एक दूसरे के करीब रखा। इस तरह 'वन वर्ल्ड' (एक दुनिया) का नारा तीव्र हुआ। 7 जुलाई 1896 में ल्यूमियर ब्रदर्स ने बंबई में छः लघु फिल्मों का प्रदर्शन किया। सन् 1857 में कोकोनट फेयर नामक फिल्म को भारत में फिल्माया गया। इसी शृंखला में हरिश्चंद्र सखाराम भाटवडेकर ने सन् 1899 में दि रेस्टर्स, मैन एंड मंकी जैसी फिल्में बनाई। पूरी तरह भारतीय फीचर फिल्म बनाने वाले

ढुंढीराज गोविन्द फालके (दादा साहब फालके) ने राजा हरिश्चन्द्र फिल्म बनाई जिसका प्रदर्शन 3 मई 1913 में हुआ था। इसके पहले पुंडलीक फिल्म आ चुकी थी जो निर्माण की दृष्टि से आधी ब्रिटिश थी, इसीलिए दादा साहब फालके को ही भारतीय सिनेमा का जनक होने का गौरव प्राप्त है। फिल्मों के द्वारा किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक परंपरा का प्रकाशन होता है। फालके साहब इसी के प्रतीक थे।

सन् 1931 में मुंबई के मेजिस्टिक सिनेमा में पहली ध्वनि फिल्म प्रदर्शित हुई जिसका निर्माण इंपीरियल फिल्म कंपनी ने किया था और निर्देशक आर्देशिर ईरानी थे। जैसे ही सवाक् फिल्मों का चलन आया वैसे ही मूक फिल्में बंद हो गई और सन् 1931 में दक्षिण भारत में भक्त प्रहलाद तेलुगु में तथा तमिल में कालिदास जैसी सवाक् फिल्मों का निर्माण हुआ। फिल्में जनसंचार का सबल माध्यम हैं। चौथे दशक में फिल्में जबरदस्त प्रभाव लेकर अवतरित हुई। समाज और संस्कृति के अधःपतन को प्रस्तुत करने वाले वी. शांताराम ने दुनिया न माने, आदमी, पड़ोसी जैसी फिल्में दी और इन फिल्मों ने भारतीय जनमानस के उन्नयन का प्रयास किया। पी. सी. बरुआ की **देवदास** और **मुक्ति**, देवीकी बोस की **विद्यापति** और **सीता**, नितिन बोस की **बड़ी बहन**, फ्रैंज ओस्टिन

की **अछूत कन्या**, वी.दायले और फतेलाल की **संत तुकाराम**, **महबूब की वतन**, **एक ही रास्ता** और **औरत** जैसी फिल्मों ने जहाँ एक ओर लोगों का मनोरंजन किया वहीं दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों को मिटाने का संदेश भी दिया। ये फिल्में सामाजिक अतंर्विरोधों पर आधारित थीं। इसलिए कहा जाता है कि फिल्में समाज का आइना होती हैं पहली बार सन् 1937 में ईरानी जी ने रंगीन फिल्म किसान कन्या बनाने का प्रयास किया किंतु सन् 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ हो जाने के कारण रंगीन फिल्मों का निर्माण कई वर्ष तक बंद रहा। पाँचवे दशक में वी. शांताराम ने डॉ. कोटनीस की अमर कहानी, उदयशंकर ने कल्पना, एस.एस. वासन ने चंद्रलेखा, चेतनआनंद ने नीचा नगर, अब्बास ने धरती के लाल जैसी कुछ विशेष प्रकार की फिल्मों का निर्माण किया। यदि हम फिल्मों का ऐतिहासिक ढाँचा देखे तो सन् 1949 में सोहराब मोदी ने पुकार जैसी फिल्म बनाई। इसी समय विजय भट्ट ने भरतमिलाप, रामराज्य जैसी पौराणिक फिल्मों का निर्माण किया।

जब भारत में पहली बार सन् 1952 में अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह आयोजित हुआ तब पहली बार भारतीय सिनेमा जगत की पहचान और महत्ता विश्व में स्थापित हुई। सत्यजित रे ने सन् 1953 पाथेर पंचाली बनाई जिसे देश-विदेश में पुरस्कृत किया गया। यह फिल्म मानवीय संवेदनाएँ झकझोरने में सफल हुई पाँचवें-छठे दशक में फिल्म जगत में कई ऐसे फिल्मकार हुए जिन्हें अंगुलियों पर नहीं गिनाया जा सकता, किन्तु इन फिल्मकारों की फिल्मों ने भारत ही नहीं विदेशों में भी धूम मचा दी और पहली बार हिंदी गाने ऐसे लोग भी गुनगुनाने लगे जो हिंदी भाषा नहीं जानते थे। विमल राय की मदर इंडिया एक ऐसी फिल्म थी जिसने साहित्यकार प्रेमचंद द्वारा उनके साहित्य में चित्रित गाँव और वहाँ की समस्याओं का स्मरण करा दिया। यह पहली भारतीय हिंदी फिल्म थी जिसे विश्व स्तर पर सराहा गया और ऑस्कर पुरस्कार हेतु मनोनीत किया गया। इसी समय राजकपूर की आवारा, बूटपॉलिश, जागते रहो, श्री 420 जैसी फिल्में आई जिन्हें उनके संगीत एवं फिल्मांकन के कारण विश्वस्तर पर सराहा ही नहीं गया, बल्कि ख्याति भी मिली। इन फिल्मों से हिंदी विदेशों में खूब लोकप्रिय हुई। इसी का परिणाम था कि राजकपूर को सोवियत संघ ने सम्मानित करते हुए आमंत्रित किया। वहाँ उनके सममान में भीड़ का सैलाब उमड़ पड़ा और सबके होठों पर 'मेरा जूता है जापानी' गाने की पंक्तियाँ थीं इसी समय वी.शांताराम की दो आँखें बारह हाथ, गुरुदत्त की प्यासा जैसी फिल्मों ने जहाँ इंसानियत को बढ़ावा दिया वहीं दूसरी ओर भारत के दर्शकों पर ही नहीं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी दर्शकों पर जादू किया। सुजाता, बैजूबावरा, मुगले आजम, संगम, गाइड, आँखें, गंगा-जमुना जेसी फिल्में समसामयिक और ऐतिहासिक विषयों को लेकर बनीं।

आठवें दशक में हाथी मेरे साथी, उपकार, पूरब-पश्चिम, मेरा गाँव मेरा देश, रोटी कपड़ा और मकान, पाकीजा, अभिमान, शोले, दीवार जैसी फिल्मों के द्वारा जहाँ हिंदी फिल्म उद्योग का विकास हुआ वहीं दूसरी ओर दुनिया में अपनी महत्ता स्थापित करते हुए उसे हॉलीवुड के बाद बॉलीवुड के नाम से जाना जाने लगा। विश्व स्तर पर हिंदी की लोकप्रियता का पता इसी से चलता है कि अमिताभ बच्चन और शाहरूख खान जैसे कलाकारों से विश्व का कोना-कोना परिचित है। इसी प्रकार धीरे-धीरे अनेकानेक फिल्में बनाकर आज की स्थिति में भारत विश्व का सर्वाधिक फिल्म निर्माण करने वाला देश बन चुका है। आज फिल्में जन संचार माध्यम और हिंदी के विकास का सशक्त आधार बन गई हैं कई बड़े-बड़े साहित्यकारों की रचनाओं पर भी कुछ फिल्मों का निर्माण हुआ। बर्तमान स्थितियों में हिंदी संसार में दूसरे नंबर पर बोली जाने वाली भाषा है जबकि पहले नंबर पर चीनी भाषा है। करीब 50 करोड़ लोग हिंदी को बोलते हैं और अस्सी करोड़ के लगभग हिंदी को समझते हैं। आज हिंदी अंतरराष्ट्रीय भाषा का स्वरूप ले चुकी है। भूमंडलीकरण के दौर में बड़े-बड़े देश अपना व्यापार भारत जैसे विशाल देश में स्थापित कर रहे हैं और अपनी कंपनियों में कर्मचारियों को हिंदी सीखने का बढ़ावा दे रहे हैं। आज हिंदी यू.के. में भाषा बोले जाने वालों की संख्या के आधार पर अपना द्वितीय स्थान बना चुकी है क्योंकि, सारे एशियन जिसमें श्रीलंका भी आता है सभी हिंदी का संपर्क भाषा के रूप में उपयोग कर रहे हैं। अंतरराष्ट्रीय बाजार में बॉलीवुड की फिल्में हॉलीवुड की फिल्मों से ज्यादा मशहूर हो रही हैं और करीब-करीब दुनिया के आधे भाग में ये पहुँच चुकी हैं जैसे मिडिल ईस्ट, अफ्रीका, रूस और सुदूर पूर्वी देशों में। आज संसार में भारतीय फिल्म संगीत और फिल्में अपना जादू बिखेर रहे हैं। हिंदी की बढ़ती लोकप्रियता फिल्म और फिल्मी संगीत के विश्व व्यापार के तेजी से बढ़ते आंकड़ों से प्रमाणित होती है। आज बांगलादेश, ब्राजील, जर्मनी, बोटस्वाना, नेपाल, फिलिपीन्स, न्यूजीलैंड, सिंगापुर, साउथ अफ्रीका, युगांडा, यूनाइटेड किंगडम, यू. एस.ए, यमन आदि अनेकों देशों के लोग हिंदी बोल और समझ रहें हैं। जिसका कारण निश्चित ही हिंदी फिल्में हैं।

संपर्क: प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
उच्च शिक्षा और शोध संस्थान
द.भा.हि.प्र.सभा, मद्रास
चेन्नै- 600017

विदेशों में हिंदी की भाषिक स्थिति और प्रवासी सृजन

–कृष्ण किशोर

कहीं न कहीं सभी प्रवासी अपनी मूल संस्कृति, मूल परंपरा और मानस से स्वभावत: या प्रकृतिजन्य रूप से जुड़े रहते हैं। यह जुड़ा रहना अवसरों, कुअवसरों पर बाहर भी झांकने लगता है। परंपरायें, रीति-रिवाज़, लोक जीवन में रची-बसी गहरी आकृतियां, मौसम-बेमौसम हमारे व्यवहार, हमारी स्मृति और हमारी पहचानको उकेरती रहती हैं। अतीत की एक बची-खुची ऐतिहासिक और सांस्कृतिक निजता सहज ही सब के साथ बनी रहती हैं और अपने 'कहीं और' होने के एहसास को जीवित रखती है। ठीक अपने घर में न हो कर कहीं और होने का एहसास ही प्रवासी एहसास है। भाषा का इस एहसास से बड़ा सीमित सा रिश्ता रह जाता है। सिर्फ़ उन लोगों में भाषा इस एहसास का अहम् हिस्सा बनती है जो काफ़ी देर से, परिपक्वास्था में अपना परिवेश छोड़ कर यहाँ आ बसे। जिन का बचपन अपने भाषायी परिवेश में बीता, जिनकी शिक्षा अपने ही बातावरण में हुई, चाहे किसी भी भाषा में हुई हो, उन का जुड़ाव अपने भाषायी एहसास से भी बड़ा घना बना रहता हैं बचपन से ही जो अपने वातावरण से कट कर बाहर चले गये, उन्हें 'कहीं और' होने के एहसास के इलावा दूसरा कोई विच्छेदन कोंचता नहीं रहता। अपनी भाषा से टूटना उनके लिये औपचारिक या अनोपचारिक रूप से नगण्य बन जाता है।

'हिंदी भाषा' या कोई अन्य भारतीय भाषा बाहर जा कर अपनी कार्यकारी या शैक्षिक या व्यवसायिक उपयोगियता खो बैठती है। घर छोड़ कर इतनी दूर चले आने का उद्देश्य, सभी जानते हैं कि क्या हो सकता हैं किसी न किसी रूप में बेहतर काम-धाम, बेहतर जीने के साधन, दैनिक सुविधायें या बेहतर शिक्षा वगैरह ही बाहर चले आने के कारण बनते हैं। अपनी भाषा, अपना वातावरण, अपनी रीत, अपने मीत, कुछ भी तो हमें नहीं रोकता, पता नहीं बेहतर ज़िंदगी क्या होती है, लेकिन उसी की तलाश में लोग बाहर चले आते हैं। उन के सपनों की बेहतर ज़िंदगी में काम के बाहर अपनी भाषा का निरंतर प्रयोग, अपना खाना-पीना, अपना लिबास, सब कुछ होते हुए भी अपने घर में न होने का एहसास, घर से बाहर बने रहने की असुरक्षा का एहसास और घर से बाहर होने की अशक्तता का आभास ज़िन्दगी को लबालब भरपूर जीने मरने के विस्तार से वंचित रखता है।

अमेरिका में हिंदी भाषा के प्रयोग की एक बड़ी कृत्रिम स्थिति है। जो अपनी परिपक्वास्था में भारत छोड़ कर आये हैं, वे अपने घर में, अपनी पीढ़ी के लोगों के साथ अपनी भाषा का प्रयोग करते सुने जाते हैं। लेकिन उन के बच्चे चाहे किसी भी उम्र के हों, अपनी भाषा का प्रयोग नहीं करते। घर का वातावरण इतना प्रभावहीन होता है कि सारा दिन अपनी भाषा बोलने वाले माता-पिता अपने बच्चों को व्यवहारिक हिंदी का प्रयोग करने की स्थिति में लाने में अक्षम रहते हैं। वे अपने उसी उपयोगियता सिद्धाँत के शिकार बने रहते हैं या अपने बच्चों के पूरे अमरीकीकरण में लगे रहते हैं, ताकि उन्हें बाहर के अमरीकी समाज, स्कूलों तथा अन्य गतिविधियों में पूरा भागीदार बनने का मौका मिल सके। बच्चे इस अलगाव का भीषण रूप से शिकार हो सकते हैं, यह बात यहां आते ही समझ आने लगती है। ठीक एक जैसा व्यवहार, बोलचाल, खान-पान के अतिरिक्त एक भीतरी बुनावट होती है जो हमारी पहचान बनती है। बड़ों से भी अधिक बच्चे उस पहचान से जुड़ते हैं। थोड़ा सा भी भिन्न होने पर उन्हें दूसरे बच्चों की अवहेलना मिल सकती हैं सांस्कृतिक मानसिकता ऊपरी औपचारिक एकता से बहुत अधिक भीतरी और सत्तात्मक पहचान बनाती हैं वही कुछ यहाँ के माता-पिता अपने बच्चों में पैदा करने की कोशिश करते रहते हैं। बाहर का माहौल, स्कूल, टेलिविज़न, रेडियो और फ़िल्में वह सांस्कृतिक मानसिकता पैदा करने में सब से अधिक सहायक होते हैं। भाषा का विकास भी उन्हीं माध्यमों से होता है। इसीलिए बच्चे स्वत: ही उस वातावरण को आत्मसात करते हैं। वे अपने माता-पिता का दूसरों से अलग होना खूब समझते हैं। लेकिन एक भीतरी तर्क उन्हें अनायास और प्रयासहीन रूप से उस विकास सिद्धाँत से जोड़े रखता हैं उन के अस्तित्व और विकास के स्त्रोत जहां हैं, उन का अंर्तमन उधर स्वत: प्रेरित होता है। बाहरी प्रयत्न चाहे किसी भी प्रकार का हो, वह दूसरे दर्ज़े का ही बन कर रहेगा। प्राथमिकता का आधार सांसारिक अस्तित्व और विकास के स्त्रेत ही बने रहेंगे। इन्हीं दूसरे दर्ज़े के बाहरी प्रयासों का ज़िक्र हम

कुछ आगे चल कर करेंगे।

इस कृत्रिम स्थिति का एक और आयाम भी है। यह आयाम ज़यादा संघाती है। वे प्रवासी लोग जो दिन-रात घरों में अपनी भाषा का प्रयोग करते हैं, घर के बाहर निकलते ही, अपने ही भाषायी मूल के लोगों से, ज़रा भी अपरिचय की स्थिति में सिर्फ़ अँग्रेज़ी बोलना शुरू कर देते हैं। अपरिचय को और घना बना देती है यह स्थिति अपना स्वरूप सामने आता ही नहीं। खुलने के लिए एक पूर्ण और स्वतंत्र अभिव्यक्ति की आवश्यकता होती है। वह इन लोगों के पास सिर्फ़ अपनी भाषा में संभव हो सकती हैं इन्हें सिर्फ़ ऊपरी व्यवहारिक क्रियाकलापों को ज़ाहिर करने वाली अंग्रेज़ी ही आती हैं मानसिक, सांस्कृतिक और सभी अंतस्थलों को छूने, जोड़ने वाली अंतरंग विदेशी भाषा इन के पास नहीं होती। इन्हें मालूम है कि अपनी भाषा का एक ही वाकय उस अपरिचय की दीवार को गिरा सकता है। केवल किताबें बढ़ कर सीखी हुई अंग्रेज़ी किसी तरह के शक्तिदायक और विश्वासपूर्ण संबंध का आधार नहीं बन सकती, एकात्मकता पैदा नहहीं कर सकती।लेकिन यह उसी औपनिवेशिक मानसिकता का हिस्सा है जो भारत में रहते हुए लोगों को भी अपंग बनाए हुए है।

घरों से बाहर भारतीय समूह अधिकतर जिन स्थलों पर इक्ट्ठा होते हैं, उन का संबंध किसी न किसी प्रकार उनके धर्म से जुड़ा रहता है। हिंदू धर्म वाले अपने अलग-अलग मंदिरों में इक्टठा होते है, सिख अलग, मुसलमान अलग और थोड़े से ईसाई अपने अलग धर्मस्थलों पर। शादी-ब्याह या विशेष समारोहों की बात अलग है। होली, दीवाली जैसे सामाजिक पर्व भी धर्मस्थलों पर ही मनाये जाते हैं। सांस्कृतिक तथा अन्य सामाजिक, पारिवारिक समारोह सब धर्मस्थलों पर ही आयोजित होते हैं वहाँ धर्म जैसी नितांत निजी और सांस्कृतिक पद्धतियाँ अँग्रेज़ी में ही निभाई जाती हैं। धार्मिक ग्रंथों का पठन-पाठन भी अँग्रेज़ी में होता हैं गीता का कृष्ण अँग्रेज़ी में बोलता है। भारतीय उपनिषदिक दर्शन अँग्रेज़ी में व्याख्यायित होता हैं ऐसा नहीं है कि वहाँ के अधिकतर लोगों को सिर्फ अँग्रेज़ी बोलने और सुनने की आदत होती है। ठीक इस के विपरीत इन श्रोताओं और श्रद्धालुओं में सिर्फ़ अँग्रेज़ी बोलने-सुनने वाले हमारे युवक-युवतियाँ कम ही होते हैं। अँग्रेज़ी भाषा में उड़ेला गया गीता का व्याख्यान या अन्य धार्मिक प्रवचन कितने लोगों के कानों से आगे प्रवेश करता है, यह भी कोई जानने लायक चीज़ नहीं हैं अँग्रेज़ी में होने वाले सारे वार्तालाप एक बिल्कुल सतही, असमबद्ध, एक तरफा वाक्य विसर्जन के अतिरिक्त ऐसे अवसरों पर कोई अर्थ नहीं रखते। थोड़ी बहुत निजता का अवसर जो अपनी भाषा में वार्तालाप करने से स्थापित हो सकता हे, जो सांस्कृतिक एकता का एहसास पैदा हो सकता है, जो थोड़ा बहुत धर्म में अच्छा देने के लिए है, उस सब से ये मानवसमूह वंचित रह कर आऊटिंग के रोमांच से भरकर अपने घरों को लौट जाते हैं। अफसोस इस बात का है कि सिर्फ़ अपनी भाषा का प्रयोग करने मात्र से इस तरह के सम्मेलन उन लोगों को कुछ देर के लिए ही सही, एक ऐसे रस से भर सकते हैं, ऐसी तृप्ति दे सकते हैं जो सज-संवर कर अपने आईने के सामने खड़ा होने में मिलती हैं अँग्रेज़ी का तिड़का हुआ आईना थाम कर ये लोग न अपना रूप देख सकते हैं, न अपने सामने वाले का।

एक और स्थिति : उन बच्चों की जो बचपन में यहाँ आ गए। यहाँ के स्कूलों का वातावरण सिर्फ़ भाषा की वजह से अलग नहीं होता। सारी बुनावट ही अलग होती है, सारी गतिविधियाँ ही अलग होती हैं। टीचर-छात्र का संबंध अविश्वसनीय से अलग होता हैं सम्मान किसी संस्था का बना-बनाया परंपरागत मूल्य बन कर बच्चों के सिर पर हर वक्त नहीं लटकता। व्यक्ति के अपने आचरण से सम्मान और प्यार दोनों पैदा होते हैं। 'मिस्टर ग्रीन' कह कर पुकारने से टीचर का सम्मान न बढ़ता है न घटता है। सांस्कृतिक और खेलकूद की गतिविधियों से भरपूर स्कूली जीवन बच्चों को निस्संकोच, उत्सुक, प्रनाकुल और साहसी बना कर एक तरह से बड़ों की बराबरी की स्थिति में बनाए रखता है। खुल कर बातचीत करना, बराबर बैठ कर खाना-पीना, हंसना-बोलना, बराबर शारीरिक उद्यम करना, इकट्ठे मिल कर सामान एक जगह से उठा कर दूसरी जगह रखना-सारे संबंधों को स्वाभाविक बनाने के अतिरिक्त उस बनावटी दूरी को खत्म करते हैं जो हमारे स्कूलों में शिला की तरह अडिग बनी रहती हैं इस सारी दिनचर्या में इस संस्कृति और संस्कृतिजन्य भाषा की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं हर शब्द और वाक्य लम्बे क्रियात्मक जीवन संवेगों, आवेगों, भावों, उद्देश्यों, और तमाम दैनिक जीवन विश्वासों तथा शैलियों से उत्प्रेरित होते हैं। शब्द केवल अक्षर समूह ही नहीं होते जिन को व्याकरण के हिसाब से वाक्यों में प्रयोग करने से अर्थसिद्धि हो जाये। हमारे बच्चे जो वहां से आकर, चाहे वे नितांत अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों से ही क्यों न आये हों, जब यहाँ के स्कूलों में प्रवेश करते हैं, एक लंबी अबधि तक भंवर में हाथ-पैर मारने जैसी स्थिति में बने रहते हैं घर बैठे हुये या काम पर गये हुए मां बाप इास स्थिति में उन का बिल्कुल सहारा नही बनते। घर आकर बच्चे उस भिन्नता को पूरी तरह वर्णित भी नहीं कर सकते। अपनी असमंजस या अबूझ स्थिति को माँ

बाप के साथ साझा करने की या तो उन बच्चों में समझ पैदा नहीं होती या माँ बाप की उपेक्षा और प्रताड़ना उन्हें मिलती हैं उन्हीं के अक्षम होने का दोष उन्हें दिया जाता है। या दूसरी स्थिति ऐसे माता पिता की है जो एक झूठा दंभ अपने बच्चों पर थोपने की कोशिश करते हैं। हम पेशे से डॉक्टर हैं, ज़रा बताओ तो कितने बच्चों के मां-बाप हमारी स्थिति में हैं जो हमारी बराबरी कर सकते हैं वे अपने ऊल-जलूल विश्वासों की और मूल्यों की दलदल में धंसे हुए यह नहीं जानते कि बच्चों की दुनिया में, खासतौर पर यहाँ के बच्चों की दुनिया में, दैनिक जीवन में उन का पेशा बिलकुल प्रभावशाली नहीं हैं बच्चे एक जैसी भाषायी, शैक्षिक और सांस्कृतिक स्थिति को ही जानते हैं जो सब की बराबर की या एक जैसी है। भाषायी और सांस्कृतिक भिन्नता एक अलगाव की स्थिति, अवहेलना की स्थिति बच्चों के लिए पैदा करती है, मां-बाप का डॉक्टर होना या कुछ और होना बिल्कुल कारगर नहीं होता। दंभी मां-बाप बच्चों की स्थिति को और भी मुश्किल बना देते हैं।

बच्चे कुछ ही अंतराल में उस भाषा और संस्कृति दोनों को समझने लगते हैं। ठीक यहां के बच्चों की तरह तो नहीं, लेकिन अपनी अलग होने की स्थिति से जो अवहेलना उन्हें मिलती थी, उस से बच्च जाते हैं, यहाँ की भाषा का उच्चारण भी ठीक उन की जुबान पर चढ़ जाता है यहाँ की लोक रीत-नीत भी उन्हें पता चल जाती है। गीत संगीत में जो जीवन और लोकमानस धड़कता है, वे उसे भी आत्मसात करने लगते हैं। यहाँ की लोक कथाओं में भी रच-बस जातें हैं। फिल्मों में चलने वाले हँसी-मज़ाक, रोना-धोना, उठना-बैठना, सुख-दुख वगैरह से जुड़ने लगते हैं। इसी प्रक्रिया में वे अपनी भाषा और संस्कृति से दूर होते चले जाते हैं। अपने दैनिक जीवन को इसी समाज में रह कर समाज में रह कर सफ़लतापूर्वक जीने के लिए यहाँ की भाषा और संस्कृति को अपनाना कोई अतिरिक्त प्रयास जैसा नहीं रह जाता है। बच्चे अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाते हैं। इसी वातावरण के हो जाते हैं। उन की रोज़ की ज़िंदगी, बाहर की ज़िंदगी, स्कूल की ज़िंदगी, मित्रों की ज़िंदगी, खेलकूद की ज़िंदगी, माता-पिता की ज़िंदगी से भिन्न होती चली जाती है। मां-बाप उन के साथ अपनी भाषा में बात करते हैं-बच्चे उन्हें अँग्रेज़ी में जवाब देते हैं। माँ-बाप अपनी भाषा की फिल्मों में ही आनंद लेते हैं। बच्चों को अधिकतर अपना ही टी.वी. और फिल्में और किताबें अधिक आकर्षित करती हैं। फिर भी लगातार दो अलग दुनियाओं में जीने के कारण बच्चों की मानसिकता कुछ तो असंतुलित हो ही जाती है। और इस असंतुलन की स्थिति से जन्मा है यह हास्य कथन जो जगह-जगह हमारे युवक युवतियों को परिभाषित करने के लिए उछाल दिया जाता है या अपने लिए एक हास्य स्थिति पैदा करने के लिए स्वयं ही वे प्रयोग कर लेते हैं: ।ठब्क्

'अमेरिका बौर्न कन्फ्यूजड देसी'। कन्फ्यूजड किस चीज में।

अपनी पढ़ाई में? नहीं। अपनी सफलता की स्थिति में? ......नहीं।

यह वही असंतुलन है जो दो भाषाओं और संस्कृतियों के बीच लगातार बने रहने से पैदा होता है।

एक और विरोध : निरे बचपन में अधिकतर माता-पिता अपने बच्चों को भाषा और अन्य स्थितियों में बिल्कुल अमरीकी बने देखना चाहते हैं। वे चाहते हैं उनके अधिक मित्र गोरे हों, उनके टीचर गोरे हों। उन को यहाँ की सब कहानियाँ पता हों, अमरीकी बच्चों के लिए ही जो किताबें लिखी गई हैं, बस वही किताबें उन के बच्चे पढ़ें। गर्व से कहते सभी सुनाई दे जाते हैं कि उन के बच्चों को अपनी भाषा भूलती जा रही है। क्या करें हम तो उन के साथ हिंदी में ही बात करते हैं मगर वे जवाब अँग्रेज़ी में देते हैं हम तो चाहते हैं कि उन्हें अपनी भाषा भी आनी चाहिये। लेकिन अधिकतर माता-पिता जानते हैं कि वे झूठ बोल रहे हैं।

वे नहीं चाहते कि उनके बच्चे हिंदी में बात करें। वे नहीं चाहते कि वे बच्चे कोई भी हिंदी की किताब पढ़ें। वे नहीं चाहते कि उन के अपने भारतीय मित्रों के साथ भी हिंदी में बात करें। शुरू की स्थिति उन की सुरक्षात्मक भावना से और अस्तित्व के संघर्ष से तो जुड़ी होती ही है, इसके अलावा उस गुलाम मानसिकता से भी जुड़ी होती है जो भारत से वे अपने सामान के साथ बांध लाते हैं। जो कुछ अँग्रेज़ी, अमरीकी है वह श्रेष्ठ है। बच्चे उसे ही अपनाएँ-गोरों जैसे दिखें, उन्हीं जैसा आचरण करें। भाषा तो बिल्कुल उन्हीं जैसी होनी ही चाहिये। अपनी भाषा सीखने के लिए सारी उमग्र पड़ी है। बड़ा होकर सीख ही लेंगे।

संघर्ष का अंतर्विरोध: सम्पन्नता की स्थिति में स्मृति-विस्मृति की धूप-छांव का खेल चलता रहाता है। अपनी भाषा अपने रीति-रिवाज अपना पहनावा, अपने तीज त्यौहार, होली-दीवाली एक अनिवार्य ऊर्जा की तरह अपने देश से जुड़े होने की लौ को जगाये रखते हैं। इन पर्वों में हमारे बच्चे भी खूब शौक से शामिल होते हैं; लेकिन यहाँ भी लोग उसी छद्म से बाहर निकल कर नहीं आते। घरों में हिंदी बोलने वाले भी यहां समूह का हिस्सा बनते ही अंग्रेज़ी में करते हैं। अपनी पहचान का ढोल पीटना कानों को अच्छा लगता है। रिक्तता की गूंज थोड़ी देर के लिए उस शोर के नीचे दब जाती है। हर मंदिर में (जो लगभग हर

शहर में हैं) पूजा भवन के साथ जुड़े कुछ कमरे जरूर होते हैं जो बच्चों को हिंदी भाषा या अपनी-अपनी भाषा सिखाने के लिए प्रयोग होते हैं। जब माता-पिता अँग्रेज़ी में पूजा-पाठ कर रहे होते हैं तो बच्चे उन कमरों में हिंदी का ज्ञान प्राप्त कर रहे होते हैं। गर्व का विषय होती है यह चर्चा कि हम अपने बच्चे को हिंदी सीखने भेजते हैं। यह बातें भी हिंदुस्तानी अँग्रेज़ी में ही कही जाती हैं। इसी तरह भारतीय सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन, नृत्य-संगीत का आयोजन लगभग सभी जगह किया जाता है। भरतनाट्यम और राग जयजयवन्ती हिंदुस्तानी अँग्रेज़ी में सिखाया जाता हैं नृत्य के बाद बजने वाली तालियों की कोई भाषा नहीं होती। बस वहीं लगता है कि मेकअप उतर गया है। ऐसे माहौल में बच्चे हिंदी सीख कर भी जितनी हिंदी याद रखेंगे या कभी भी प्रयोग करेंगे, इस बात का अंदाज़ा लगाया जा सकता है।

भाषा शिक्षा: वैसे तो लगभग हर बड़े शहर में जहाँ भारतीयों की संख्या इतनी है कि वे अपने धर्म-स्थान या कोई अन्य संगठन बनाने की स्थिति में हों, कोई न कोई प्रयास बच्चों को हिंदी सिखाने का चलता रहता हें कुछ उत्साही कार्यकर्ता स्वयंसेवी के रूप में इस काम में लगते हैं। कुछ बच्चे भी जुटा लेते हैं, वे जो भाषा सीखने सप्ताह में एक बार आ सकें। कुछ समय तक यह प्रयास जारी रहते हैं, फिर बंद हो जाती हैं। भाषा की उपयोगिता या घरों में भाषा के प्रति सम्मान-उत्साह की कमी इस स्थिति का कारण बनती है। भारतीयों की संख्या विशेष रूप से सन 2000 के बाद एकदम बढ़ गई वे अधिक मात्रा में हर जगह दिखाई देने लगे। उन लोगों में ऐसे लोगों की संख्या भी बहुत है जो भारत की भाषा और संस्कृति को घरों में जीवित रखना चाहते हैं। उन के सहयोग से काफी केंद्र ऐसे भी खुले जो नियमित रूप से हिंदी स्कूल चलाने की स्थिति में आये। पांच-सात लोग हिंदी अध्यापक की तरह उन केंद्रों में हिंदी पढ़ाने का काम भी करते हैं लेकिन यह प्रयास सागर में बूंद के बराबर भी नहीं होते। इनमें वह अनायासता भी नहीं रहती। कहीं न कहीं बस गाड़ी खींचते रहने की स्थिति बनी रहती हैं न्यू जरसी जैसे प्राप्त में जहां भारतीय ही मुख्य अल्पसंख्यक हें, स्कूलों में भी हिन्दी भाषा पढ़ाये जाने के आयोजन हुए हैं। अमरीका के स्कूलों में दूसरी भाषाएँ मुख्य रूप से स्पेनी, फ्रांसीसी और जर्मन हैं इन के बाद एशियाई भाषाओं में चीनी और जापानी हैं। यानी उपयोगिता का सिद्धांत ही काम करता हैं जब तक बच्चे स्कूली स्तर पर दूसरी भाषा के रूप में या एक ऐच्छिक विषय के रूप में अपनी भाषा नहीं पढ़ते तो आगे जाकर कॉलेज स्तर पर बिल्कुल प्रारंभिक स्तर पर भाषा सीखने वाले कम ही मिलते हैं। जिन बच्चों को कुछ हिंदी पहले से ही आती है वे कालेजों, विश्वविद्यालयों में यह ऐच्छिक विषय के रूप में (जहाँ उपलब्ध है) इसलिए चुन लेते हैं कि आसानी से बिना मेहनत किये वहां अच्छा ग्रेड लिया जा सकता है। कम से कम गैर भारतीयों के मुकाबले अपनी भाषा का इतना लाभ तो होता ही है। दूसरे विषयों की तरह हिन्दी का पाठ्यक्रम विश्वविद्यालयी स्तर का नहीं होता। बहुत ही प्राथमिक पाठ्यक्रम होता है। उसे किसी भी तरह विश्वविद्यालयी स्नातक स्तर समझने का भ्रम नहीं करना चाहिये। कक्षाओं में संख्या भी एक विश्वविद्यालय में दस बारह से ज्यादा नहीं होती। South Asian Studies विभागों में भाषा के अतिरिक्त जिस विषय की अधिक लोकप्रियता है वह है Cultural History of South Asia या The Legacy of India । अलग-अलग नामों से इसी विषय पर कोर्स अधिक लोकप्रिय हैं। इन कोसों में भारतीयों के अलावा दूसरे लोगों की संख्या भी काफी होती है।

विश्वविद्यालयों में हिंदी : अमेरिका में जिन विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जाती है, उन की संख्या बहुत ही कम है। आधुनिक भाषाओं की एक समिति द्वारा इकट्ठे किये गये आंकड़ों के अनुसार 2002-2003 में हिन्दी सीखने वालों की संख्या इस देश में कुल 1430 थी, उसी साल जिन विद्यार्थियों ने कोई विदेशी भाषा पढ़ी, उनकी संख्या 14 लाख थी। 74 प्रतिशत छात्रों ने स्पेनिश, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषायें चुनीं। उन का कहना है कि जब तक स्कूलों में एक विदेशी भाषा के रूप में हिंदी का विषय शुरू नहीं होता, आगे चल कर हिंदी सीखने वालों की संख्या नगण्य ही रहेगी। सिर्फ Wisconsin-Madison में ही यह सुविधा है कि आप हिंदी, बंगाली, गुजराती, नेपाली, संस्कृत, तमिल, तेलगु और उर्दू भाषायें विदेशी भाषा के रूप में पढ़ सकते हैं।

American Council on the Teaching of Foreign Languages के एक अध्ययन अनुसार स्कूलों में लगभग 96 प्रतिशत छात्रों ने सातवीं से बारहवीं कक्षा की अवधि में जो चार भाषायें सीखी वे थीं स्पेनिश, फ्रेंच, जम्रन और इटालियन। सिर्फ चार प्रतिशत ने बाकी सारी भाषाओं में से एक भाषा चुनी। कालिजों के 15 लाख छात्रों में 13 लाख छात्रों ने कोई न कोई विदेशी भाषा पढ़ी। इस संख्या का 90 प्रतिशत चार यूरोपियन भाषाओं को चला जाता है। केवल दस प्रतिशत बाकी सैंकड़ों भाषाओं के हिस्से आते हैं।

Langnet नाम से इंटरनैट पर राष्ट्रीय विदेशी भाषा केंद्र द्वारा शुरू की गयी व्यवस्था है जो सभी तरह के लोग प्रयोग

कर सकते हैं। प्रारंभिक ज्ञान से ले कर काफी उच्च स्तरीय पाठ्यक्रम इस संस्था द्वारा तैयार किया जाता है। छोटी-छोटी संस्थाओं और बच्चों को हिंदी सिखाने के लिए स्कूलों की तालिका विस्तृत है। लगभग सभी अमरीकी नगरों में ऐसे प्रयास हो रहे हैं। ये संस्थायें और स्कूल चलते और बन्द होते रहते हैं। इन का भाषायी और सांस्कृतिक मूल्य प्रतीकात्मक से ज्यादा आगे नहीं जाता। जिन विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जाती है वे भी प्रचारात्मक प्रयोग के लिए पयोगी हो सकते हैं। हिंदी भाषा के प्रसार और प्रयोग में केवल इतनी उपयोगिता है कि एक और विभाग विश्वविद्यालय की सूची में जुड़ गया या कुछ लोगों को व्यवसाय मिल गया। इस स्थिति को बहुत महत्त्वपूर्ण करके नहीं आंका जा सकता।

असली प्रयास होना चाहिये स्कूली स्तर पर। हर शहर के भारतीयों को अपने नगर में पब्लिक स्कूलों में हिंदी भाषा को एक विदेशी भाषा के रूप में, दूसरी भाषा के रूप में या ऐच्छिक विषय के रूप में पढ़ाये जाने की व्यवस्था करनी चाहिये। एक Assistantship Program शुरू होना चाहिये जिस के तहत भारत से अमरीका के अनेकानेक विश्वविद्यालयों में पढ़ने आने वाले विद्यार्थियों को कुछ घंटे हिंदी पढ़ाने का काम स्कूलों में दिया जाये। उसके लिए उन्हें प्रति घंटा कुछ पारिश्रमिक दिया जा सकता है भारतीय समाज से भी कुछ स्वयंसेवी इस बात के मिल सकते हैं। थोड़े से विद्यार्थियों के लिए एक अलग से शिक्षक नियुक्त नहीं किया जा सकता। उस का पूरा वेतन कोई भी स्कूली संस्था नहीं देगी। विश्वविद्यालयों की समस्या भी यही है। पूरा वेतन देकर प्रोफेसर या एसिसटैंट रखना उन के लिए संभव नहीं है। लेकिन समस्या का समाधान स्कूलों से ही शुरू होना चाहिये।

अमेरिका जैसे देश में भाषा और किसी सीमा तक लोकसंस्कृति को जीवित रखने का श्रेय काफ़ी हद तक फिल्मों को जाता है। हिंदी भाषा वहीं से बच्चों के मनो-दिमाग में प्रवेश करती हैं बोलना भले ही न आये, हिन्दी उनके मन-मस्तिष्क में धड़कती हुई जीवित रहती है। नृत्य-संगीत, फिल्मी गाने खूब प्रयोग होते हैं हर अवसर पर। कोई भी समाज का उत्सव फिल्मों के नृतय-संगीत के बिना पूरा नहीं होता। बच्चे फिल्मी धुनों पर थिरकते रहते हैं। गानों के बोल पर होंठ हिला कर नृत्य करते हैं। लोकल थियेटर में लगने वाली हिंदी फिल्मों की संख्या खूब है। भीड़ की भीड़ नयी फिल्म देखने उमड़ती है। शास्त्रीय नृत्य और संगीत सिखाने में स्कूल भी लोगों ने खोले हुए हैं। लेकिन वह एक व्यवसाय है जो कभी कभी मंच पर भी आता रहता है। कुछ काफी सफल प्रयास भी इस दिशा में रागमाला जैसी संस्थाओं ने किये हैं, जिनका महत्व केवाला व्यवसाय से आगे तक जाता है।

लेकिन अन्तिम बात शायद वही है कि स्कूली स्तर पर किसी न किसी प्रकार हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाना चाहिये। इस बहुभाषी, बहुसांस्कृतिक समाज में भरपूर जीवन जीने के एहसास के लिये अपने काम की जगहों के इलावा हर अवसर पर अपनी भाषा का प्रयोग करना एक गर्व की बात हो सकती है। इस स्थिति में अधिक पढ़े-लिखे या कम पढ़े-लिखे होने का अंतर भी आड़े नहीं आता। कुछ भाषायी इकाईयां भारतीयों में ही यहाँ मौजूद हैं जो अपने काम के इलावा हर स्तर और स्थिति में अपनी मातृभाषा का ही प्रयोग करते हैं। उन के बच्चों को भी किसी जबरदस्ती के दूसरी किस्म के प्रयासों की आवश्यकता नहीं है अपनी भाषा सीखने के लिये। मुख्य रूप से अंतर्सत्य यही नजर आता है कि इस मानसिकता को किसी फार्मूलाबद्ध तरीके से नहीं बदला जा सकता। एक व्यापक स्तर पर सहज प्रयास की आवश्यकता है। भारत की आर्थिक और राजनीतिक शक्ति बढ़ने के साथ अंतरराष्ट्रीय छवि भी बदलेगी और देश से जुड़ी भाषा और संस्कृति गर्व का क्षेत्र बन जायेगी। तब तक हमें अपनी आत्माक्ति और आत्मविश्वास का सहारा लेना पड़ेगा।

हिंदी पढ़ाने वाले विश्वविद्यालयों की सूचीः येल, पैन, लोयोला, शिकागो, वाशिंगटन, ड्यूक, आयोवा, ओरेगॉन, कोरनेल, मिशिगन, कोलम्बिया, इलिनाय, वर्जीनिया, मिनिसोटा, फ्लोरिडा, वैदिक कॉलेज, सिराक्यूज़ बकर्ली, आस्टिन-टैक्सस, एमरी, न्यूयार्क, इंडियाना, यूसीएलए, मैडिसन-विस्कांसिन।

अमेरिका से प्रकाशित होने वाली हिंदी पत्रिकायें : अन्यथा, विश्वा, सौरभ, विश्व विवेक।

इसके अतिरिक्त बेशुमार हिंदी वेबसाईट्स, और स्थानीय नन्हीं-मुन्नी पाठशालाएँ अपना योगदान हिन्दी के शिक्षण/प्रसारण में दे रही हैं।

संपर्क-लंदन, इंग्लैंड

8वाँ विश्व हिंदी सम्मेलन, न्यूयार्क, अमेरिका

शैक्षिक सत्र (समानांतर सत्र) दिनांक 13 जुलाई, 2007 समय : 10.00 बजे से 12.30 बजे

वैश्वीकरण, मीडिया और हिंदी

आलेख का प्रस्तुतीकरण–सिद्धेश्वर प्रसाद

आज हिंदी विश्व की बोली और समझी जाने वाली भाषाओं में सबसे बड़ी भाषा है। भारत देश का समग्र चिंतन इसी हिंदी भाषा में मुखरित होता है। विज्ञान की मौलिक प्रगति भी हिंदी से जुड़ी हुई है। आज विश्व हिंदी के महत्त्व को जान चुका है। यही कारण है कि विश्व पटल पर जन-संचार माध्यमों में हिंदी को काफी महत्त्व दिया जा रहा है एवं उसका उपयोग और डिस्कवरी (Geography, Discovery) जैसे महत्त्वपूर्ण चैनल भी कर रहे हैं। पूरा विश्व आज एक ग्राम (Global Village) में सिमटकर रह गया है। यह सब जन संचार माध्यमों के त्वरित विकास एवं उनके उपयोग से संभव हो सका है। आज विश्व भारत की संस्कृति एवं उसके मूल्यों का महत्त्व समझ रहा है। हिंदी इस पैगाम को पूरे विश्व में फैला रह है, मगर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि वैश्वीकरण, उदारीकरण तथा सूचना एवं प्रौद्योगिकी तकनीकी के बढ़ते युग में आज सबसे बड़ा खतरा साहित्य, संस्कृति और भाषा के लिए उत्पन्न हुआ है। हालांकि यह भी सच है कि जब-जब अपसंस्कृति का दौर चला है और समाज पथभ्रमित हुआ है तो साहित्य ने ही उसे दिशा प्रदान की है। साहित्य ने ही सदैव समाज और राष्ट्र की धड़कन को लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया है और विध्वंस से सृजन की ओर ले जाने का कार्य साहित्य ने ही किया है। साहित्य ने बड़े साहस के साथ संशय, अविश्वास, अमानवीयता, अमर्यादा, छल और कपट के बीहड़ों के बीच यात्रा की है। अनेक अवरोधों की कहानियों में भी साहित्य अपनी अनेक विधाओं के माध्यम से छाँटने में सफल रहा है और अपनी सार्थकता सिद्ध की है। इतिहास साक्षी है कि अँग्रेजी हुकूमत के खिलाफ हमारी लड़ाई का आधार सांस्कृतिक हस्तक्षेप ही था। विदेशी कपड़ों को जलाए जाने का आंदोलन हो या सुधारवादी आंदोलन, सभी भारतीय समाज और संस्कृति से जनमें थे और वहीं स्थापित थे।

वैश्वीकरण के दौर में उपभोक्तावादी संस्कृति इंसान को बाजार के नियमों से संचालित करती जा रही है, बाजार की कीमत में नैतिकता का कोई भाव नहीं होता। संस्कृति कभी सुवासित संस्कारों की प्रेरिका थी पर आज की संस्कृति की सभी मुख्य भाषाएँ सौदे की उपभोक्तावाद की है। सौंदर्य इस संस्कृति का परिणाम है कि विषमताएँ बढ़ रही हैं, क्योंकि समझोते से एक पक्ष को फायदा और दूसरे पक्ष को कम फायदा होता ही है। आने वाली पीढ़ी को अपरिहार्य परिणाम भुगतने होंगे क्योंकि जीवन की प्रतिस्पर्धा में बने रहना यह अनिवार्य है। संस्कृति उनकी मजबूरी होगी।

उपनिवेशवाद की कृपा से लादी गई अँग्रेजी भाषा के प्रभुत्व की चपेट में हमारी संस्कृति की जड़ें औपनिवेशिक दमन से कुचल दी गई हैं। कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली में नेहरू स्मृति ब्याख्यान देते हुए नोबल पुरस्कार विजेता अफ्रीकी लेखक बोल श्योगों ने अकारण ही नहीं कथा कि लेखन कोई अनुष्ठान कर्म नहीं है। अतः हमे अपनी सहज अभिव्यक्ति की भाषा में ही लिखना चाहिए। ठीक इसी प्रकार अँग्रेजी के ही एक अन्य अफ्रीकी लेखक न्यूगी वा श्योगों की तरह वह भी अनुभव करते हैं कि मातृभाषा में साहित्य की रचना ही श्रेष्ठकर है। श्योगों ने तो अपना नया उपन्यास शिकूयू भाषा में लिखकर पश्चिम के सांस्कृतिक अधिनायकवाद का विरोध किया। वह मानते हैं कि अधिनायकवाद ही जघन्यतम करतूत परमाणु बन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक बम है, जो जनता की भाषा, परिवेश, संघर्ष की विरासत, उसकी शक्ति यहाँ तक कि उसकी अस्मिता अपने होने पर, अपने नाम पर विश्वास को ही नष्ट कर देता है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वैश्वीकरण के दौर में खुला बाजारवाद आज व्यक्ति व समाज पर बुरी तरह हावी है। भौतिकवाद के अतिरेक से जीवन दृष्टि में आमूलचूल परिवर्तन आ गया है। पहले सौंदर्य के साथ सांस्कृति, संस्कारशील, आचार-विचार भी किसी आदर्श सभ्योदक व्यक्तित्व के आभूषण माने जाते थे, संयोजक तत्व थे। परिवार, परिवेश, चारित्रिक गुणें को सबमे विशेष प्रोत्साहन मिलता था। घर में माता पिता बच्चों को संस्कारवान, शीलवान, स्वस्थ, सद्गुणी बनाने पर विशेष जोर देते थे। उनका अभीष्ट था कि सद्शिक्षा, सुसंस्कृत वाणी, सद्व्यवहार आदि विशेषताओं के संबल से वे समाज में विशिष्ट स्थान बनाएं, विपुल उपलब्धियाँ अर्जित कर अपनी कीर्ति फैलाएं और उनका नाम भी उज्ज्वल करें पर जैसे

वैश्वीकरण का दौर बढ़ता गया, वैसे-वैसे व्यक्तित्व के विकास और जीवन में सफलता के लिए निष्ठा, संयम, शालीनता आदि सचच्चरित्र के मूल्यों में विश्वास करने वाला युग चुक गया। शील सदाचार मर्यादावादी हमारे उद्दात जीवनादर्शों को बहुत अंशो में पाश्चात्य सभ्यता ने प्रभावित किया। पैसे की लालसा ने सब संस्कारों, परंपराओं को चूर-चूर कर दिया। वैसे भी वांछित-अवांछित, वैध-अवैध तरीके से पैसा कमाना सब मंजिलें-मकसूद बन गया। पैसे के लिए व्यक्ति आज के उपभोक्तावादी युग में कुछ भी करने को उद्वत हैं, उसे किसी तरह की द्वंद दुविधा नहीं।

वैश्वीकरण के दौर में आज देश में पिछलग्गू पूंजीवाद बढ़ रहा है। देश की अर्थव्यवस्था के लिए ठीक नहीं है। सच तो यह है कि एक सीमित अभिजात वर्ग ने देश की नीतियों को अपहरण कर लिया है। भारत की शासन व्यवस्था ऐसी है कि ग्राम विकास के लिए 650 करोड़ रूपये की राशि को फिजुल खर्च और राष्ट्रमंडलीय खेलों के आयोजन के लिए 7 हजार करोड़ रूपये की राशि को अत्यावश्यक समझा जाता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वार विदेशी पूँजी नियोजन भी लगातार बढ़ रहा है। भारतीय पूंजीपति विदेशी कंपनियाँ खरीद रही हैं (आर्सेलर और कोरस इसका की खरीद इसका उदाहरण है।) मित्तल जैसे भारतीय मूल के पूंजिपतियों की गणना विश्व के चोटी के पूंजीपतियों में की जा रही है। देश का सच प्रौद्योगिक क्षेत्र वैश्विक बन चुका है। आंतरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में भारत के मंसूबे चाँद तक पहुँचने के बन चुके हैं। गरीबी दर 35 प्रतिशत से घटकर 22 तक पहुँच चुकी है। देश में करोड़पतियों व अरबपतियों के प्रतिशत में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। भारत को अमेरीका का पर्याय बनाने के लिए राजनीतिक प्रशासंनिक और औद्योगिक नेतृत्व संकल्पबद्ध हैं।

वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण और विनिवेशीकरण की प्रक्रिया में पूंजिपतियों को जिस नई फसल को जन्म दिया है वह स्वदेशी, स्वतंत्र और आत्मनिर्भर न होकर एक ऐसी फसल है जिसकी जड़ें, खाद व मिट्टी और हवा भारत में न होकर कहीं ओर है। इसकी निष्ठा स्वदेशी होकर,

सीमापारीय है। इसकी प्राथमिकताओं में भारत के स्थान ऐसे पूंजीवादी मॉडल व मुल्य रचे-बसे हैं जिनका सरोकार नवऔपनिवेशिक पूँजीवादी राष्ट्रों से है। पिछले 15 वर्षो के अंतराल में आर्थिक सुधारों का लाभ सीमित वर्गो तक पहुँचा है अमीर और अमीर हुए हैं गरीबों की संख्या और बढ़ी है।

जहाँ तक मीडिया का प्रश्न है इसमें कोई शक नहीं कि मीडिया समाज का आइना है। मीडिया लोगों को जागरूक बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, लेकिन कुछ निजी चैनल पत्रकारिता के धर्म को भूल चुके हैं और टीआरपी बढ़ाने के लिए वे किसी भी खबर को घंटों तक दिखाते रहते हैं। यही नहीं, बेतुके सवाल दर्शकों के सामने रखकर जनता की राय मांगते हैं। हाल ही में एक चैनल ने यह सवाल किया कि ऐश और जया में कौन किस पर भारी पड़ेगी। यह सवाल सास-बहू के बनने वाले रिश्तों में दरार डाल सकता है। इसी प्रकार शिल्पा शेट्टी को खुले आम गैरी द्वारा लिए गए चुंबन को कई चैनलों ने लगातार दिखाकर लोगों की नींद हराम कर दी। दरअसल मीडिया द्वारा ऐसे कई कारनामे किए जा रहे हैं, जिनसे आम लोगों को कोई मतलब नहीं रहता। अच्छा हो, अगर अपराधी छोड़कर चैनल वाले आम लोगों से जुड़ी खबरों को ज्यादा तरजीह दें। इससे वे पत्रकारिता धर्म का पालन भी कर सकेंगे और आमजन का भी भला होगा। समाज से जुड़कर बात करने में ही मीडिया का अस्तित्व है।

अच्छी पत्रकारिता का एक मानदंड यह है कि मीडिया जो कर रही है उसके पीछे भावना क्या है। यह मानने का कोई कारण नहीं कि नेशनल मीडिया ने दंगे भड़काने के लिए गुजरात के दंगो की विभीषिका को उजागर किया था। दर्पण तो चेहरे के दाग दिखाएगा ही। यदि हम दंगों के लिए दर्पण को ही दोषी ठहराने लगें, तो इसे नासमझी ही कहा जाना चाहिए। हाँ इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि समाज को मीडिया से विवेक की अपेक्षा है। मीडिया का उच्छृंखल व्यवहार किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता, सभ्य नहीं होता, लेकिन अपने दायित्वों को पहचानते हुए यदि मीडिया समाज के गलत आचरण को उजागर करते हैं तो इसे सही अर्थो में स्वीकार किया जाना चाहिए। सच का

उजागर होना कभी गलत नहीं होता। खासकर पाश्विक रास्ते को उजागर करना तो किसी भी हालत में गलत नहीं होता। यदि गंतव्य गलत हो तो इस कार्यवाही का औचित्य संशय के घेरे में आ सकता है। आपको याद होगा 14वीं लोकसभा चुनाव के दौरान उत्तर प्रदेश में गुजरात के दंगों से संबंधित एक ऐसा ही चित्र दिखाया गया था, जो मुसलमानों की भावनाओं को भड़का सकता था। यह वह चित्र था, जिसमें एक दंगा पीड़ित हाथ जोड़कर प्राणों की भीख माँग रहा था। उसकी आँखों की दहशत दंगाग्रस्त गुजरात की पूरी कहानी कह रही थी। इस चित्र के प्रसारण के औचित्य पर सवाल उठा था, क्योंकि इन चित्रों-दृश्यों ने गुजरात में सांप्रदायिकता की भावना को भड़काया ही था। सवाल उठाने वालों का मानना था कि मीडिया में प्रसारित दंगो के दृश्य यदि सामने न आते तो गुजरात में सांप्रदायिकता की आग उतनी न फैलती। यह सोच आधारहीन नहीं है। किंतु यह जिज्ञासा भी तो स्वाभाविक है कि यदि इन दृश्यों ने आग फैलायी, तो वह गुजरात की सीमाओं पर ही कैसे रूक गयी?

निःसंदेह संचार और उसका प्रतिनिधित्व करने वाली बहुआयामी मीडिया आज शक्तिशाली परिघटना का रूप ले चुकी है। राष्ट्र निर्माण से जुड़ी विभिन्न विकास-प्रक्रियाओं पर इनका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। लेकिन प्रभावों का चरित्र कितना जनोन्मुखी, समाजोन्मुख और कितना स्वदेशी हैं, यह विचारणीय विषय है। अंगेजी व हिंदी के सुप्रसिद्ध चिंतक तथा संचार विज्ञानी डॉ. पी.सी. जोशी अपनी अँग्रेजी पुस्तक 'कम्युनिकेशन एंड नेशनल डेवलपमेंट' में पूरी शिद्दत के साथ पुस्तक की प्रस्तुती में कहते हैं कि संचार के व्यापक अर्थों में आज संचार सत्ता संरचना आर्थिक और सामाजिक असमानता संप्रभावित हैं। कई ऐसी शक्तियाँ भी इसे प्रभावित कर रही हैं जो कि संचार जगत से बाहर की हैं। इन्हें समझने के लिए व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है।

इस परिप्रेक्ष्य में हम पाते हैं कि हमारे पूर्वजों ने संचार का उपयोग जीवन-शैली को समृद्ध, सुरुचिपूर्ण और सुंदर व अर्थपूर्ण बनाने के लिए किया था। जिसका आधुनिक संचार माध्यमों ने सही इस्तेमाल नहीं किया। इसी वजह से व्यक्ति का जीवन भी कुरूप बनता जा रहा है। अतएव जरूरत इसकी है कि संचार तकनीक व माध्यमों का आयात व प्रयोग अत्याधिक सावधानी के साथ किया जाए, क्योंकि प्रश्चिमी अमेरिकी संस्कृति सूचनाक्रांति और मनोरंजन चैनलों के माध्यम से बहुलतावाद की संभालकर विश्व को एकलतावादी बनाने की कोशिश में जुटा है। हमारे अंतः सत को जाग्रत करने के लिए, राष्ट्रीयता को फलित करने के लिए तथा राष्ट्रभाषा हिंदी को बढ़ावा देने के लिए संचार माध्यमों का इस्तेमाल किया जा सकता है बशर्ते उसमें उन लोगों की पैठ हो जो भारत का स्वरूप समझ और मान इसकी सेवा करने की भावना रखते हों। राष्ट्र सर्वोप्रिय है। राष्ट्र है तो हम हैं इन भावनाओं में जाग्रत हो और इसके लिए किसी भी उत्सर्ग के लिए सदैव तत्पर हों।

जहाँ तक राष्ट्रभाषा हिंदी का सवाल है किसी भी राष्ट्र के जीवन में उस राष्ट्र की राष्ट्रभाषा का बल ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। राष्ट्र अगर शरीर है तो राष्ट्रभाषा उसकी आत्मा, राष्ट्र यदि पुष्प है तो राष्ट्रभाषा उसकी सुगंध और राष्ट्र अगर हृदय है तो राष्ट्रभाषा उसका मस्तिष्क। इस प्रकार राष्ट्र के जीवन में राष्ट्रभाषा को महत्त्व सर्वथा अनपेक्षनीय है। राष्ट्रभाषा में राष्ट्र की शक्ति और उर्जा प्रच्छन्न होती है। प्रतिष्ठा और अस्मिता छिपी होती है। भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी के साथ भी यही बात है। अतः इसकी रक्षा राष्ट्रीयता की रक्षा है। अगर हम राष्ट्रभाषा को खो देंगे तो अपना सब कुछ खो देंगे। सबकुछ खोकर भी यदि हम इसे बचाए रखेंगे तो फिर सबकुछ प्राप्त कर लेंगे।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वतंत्रता संग्राम के दौर में नेताओं ने अपनी आवाज हिंदी के माध्यम से फाँसी के तख्ते को चूमा था। यह हिंदी में ही

गीत गायन संपूर्ण भारतवर्ष की जनता में राष्ट्रीय एकता आ गई और सबने एक साथ मिलकर देश को स्वतंत्र करने का पांचजन्य निषाद किया और शांति का बिगुल बजाया। इसलिए जब तक देश के रग-रग में हिंदी रक्त संचार नहीं होगा तब-तक हिंदी के प्रति हमारा वास्तिवक प्रेम नहीं हो सकता। अतएव हमें राष्ट्रभाषा हिंदी के उत्थान और इसकी रक्षा के लिए सतत् सचेष्ट और जाग्रत रहने की आवश्यकता है।

कुल मिलाकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि वैश्वीकरण और उदारीकरण के इस भाग में सुधार हुआ है। यदि यह प्रक्रिया इसी प्रकार चलती रहती है तो इससे कितनी विषमता बढ़ेगी हम सोच सकते हैं। वैसे भी तमाम मध्य रपटें बताती हैं कि वैश्वीकरण से विषमताएँ राष्ट्रों और लोगों के बीच बढ़ी हैं कम नहीं हुई हैं। मेरा तो ख्याल है कि यदि पूँजीवादी को भारत में ऐसे ही पनपने दिया गया तो देश का अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो सकता है। जबसे बहुआयामी वैश्वीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई है तबसे परंपरागत राष्ट्रों की भूमिका सीमित होती जा रही है। इसका स्थान राष्ट्रेता मानसिकता का पूँजीपति ले रहा है। सबसे बड़ी चिंता की बात यह है कि अब खुदरा व्यापकता क्षेत्रों पर भी एकाधिकारवादी और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की नजरें गड़ी हुई हैं। आखिर तो हर नगर और महानगर में रिलायंस और सुभिक्षा की खुदरा दुकाने खुल गई हैं। यहाँ तक कि उनमें साग-सब्जियाँ भी बेची जा रही हैं। कोई हैरत नहीं कि किसी दिन इस मानसिकतावाद पूँजीपति वर्ग भारत का भी ग्राहक देश में पूरी तरह तब्दील करने में जुट जाए।

आज एक ओर जहाँ सुपर उपभोक्तावाद का विकास हुआ है, तो वहीं दूसरी ओर लोगों के हाशियाकरण की रफ्तार भी तेज हुई है। किसानों की बढ़ती ऋणग्रस्तता व आत्महत्या की घटनायें इस बात के सबूत हैं कि शासक वर्ग की प्राथमिकताओं का एजेंड़ा ही बुनियादी रूप से दोषपूर्ण है या पक्षपाती फलतः पिछलग्गू पूँजीवाद की वजह से आर्थिक विकास के क्षेत्र में जरूर 'गुणात्मक फर्क' झलक नहीं रहा है। अतएव बहुराष्ट्रीय पूँजीवाद की गिरफ्त से देश को बचाया जाना चाहिए।

ठीक इसी प्रकार पत्रकारिता जिसका लक्ष्यक्रम घटना को शुद्ध रूप से जनता तक पहुँचाना था, ने अपने आपको मीडिया में सम्मिलित कर लिया है अर्थात वह जनता के दुःख में भागीदार न बनकर तमाशबीन हो गई है जबकि एक अच्छा पत्रकार ही राष्ट्र निर्माण की नींव का पत्थर हो सकता है।

आज जब असंस्कारी साक्षरों की भीड़ बढ़ी है मानसिकता, आलस्य, कामचोरी और काहिली की प्रवृत्ति पनप रही है, नेता से लेकर नौकरशाह और कर्मचारी तक व्यक्तिगत तथा सामूहिक उत्तरदायित्व का क्षरण हो रहा है, संचार माध्यमों से इनके प्रतिकार की अपेक्षा है।

ठीक उसी प्रकार वोट और विभेदक राजनीति का शिकार हिंदी, जिसके जागरण संदेश को आजादी मिली और जिसका जादू हृदय की गहराई तक पहुँचता है, के प्रति अपनी सोच बदलनी है और इसे नया स्वरूप देना है। हमें अपनी कमजोरी तथा हीनता के भाव को दूर करना होगा। संविधान में जिस मूल रूप में हिंदी को मान्यता मिली है उसको उस रूप में अंगीकार करना होगा। हिंदी की उपेक्षा देश की उपेक्षा है और प्रगति की भी अवहेलना है। अतएव हिंदी को आज प्रतिष्ठित और उजागर करने की ईमानदार कोशिश की जानी चाहिए, जिसके लिए श्रद्धा और विश्वास की जरूरत है।

संपर्क :
'दृष्टि' यू-207, शकरपुर,
विकास मार्ग, दिल्ली-110092 (भारत)
फोन : 011-22530652
मो. : 9873434086

मेवाड़ की शौर्य भूमि पर अहिंसा समवाय की संकल्प यात्रा

सिद्धेश्वर

महाराणा प्रताप के नेतृत्व में मेवाड़ की शौर्य भूमि खमनोर गाँव की हल्दीघाटी में सन् 1576 ई में मुगल सम्राट बादशाह अकबर की सेना का मुकाबला राजपूतों की सेना ने डटकर किया, मगर उन्हें पराजय का सामना इसलिए करना पड़ा कि महाराणा के प्रयासों के बावजूद राजस्थान के विभिन्न शासक एक झंडे के नीचे नहीं आए, बल्कि सच तो यह है कि राजा मानसिंह के नेतृत्व में अन्य सेनाओं के अलावा लगभग पाँच हजार कुशवाहा राजपूत तथा बीकानेर, अंबेर, मारवाड एवं बूंदी आदि के राजपूत सरदार भी मुगलों के साथ हो लिए। यदि महाराणा प्रताप के साथ सभी राजपूत हुए होते, तो भारत का इतिहास आज कुछ दूसरी कहानी कहता।

कहा जाता है कि महाराणा प्रताप जैसा व्यक्तित्ववाला व्यक्ति विरले ही होते हैं, जो संकट को चुनौती मानकर और भी दृढ़ संकल्पित हो जाते हैं। उन्होंने घास की रोटी खाकर भी अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया और सालों ताकतवर मुगल सम्राट अकबर की चालों से जूझते रहे और कभी भी हार नहीं मानी। अगर महाराणा प्रताप चाहते तो तत्कालीन सम्राट अकबर से समझौता कर आराम की जिंदगी जी सकते थे, लेकिन वैसा उन्होंने नहीं किया। जानबूझकर अपने और अपने परिवार, परिजनों व संबंधियों के लिए कष्ट, बलिदान एवं देशहित का रास्ता चुना। सुनने में तो यह भी आता है कि मेवाड़ का कोई घर नहीं था जहाँ इस युद्ध में सुहाग न उजड़ा हो, कारण कि इस युद्ध में खून का रिश्ता तार-तार हुआ था। हल्दीघाटी के इस युद्ध में 18 जून 1576 के बाद भी ग्यारह वर्षों तक अरावली की पर्वत श्रृंखलाओं में घाटियों और जंगलों में युद्ध चलता रहा और साढ़े चौहत्तर मन 'जुन्नार' का बोझ सीनें पर लिए किले-दर-किले फतह करते हुए महाराणा प्रताप ने इस दौरान दुश्मनों के संहार का कोई अवसर नहीं गंवाया। कहा जाता है कि सम्राट अकबर की सेना को जब शवों की गिनती करना संभव नहीं हुआ तो मुगलों ने शवों के गले से उतारे गए 'जुन्नरो' को तौल कर हिसाब रखना शुरू किया। इस तरह क्षत्रिय रक्त से अभिसिंचित 'जुन्नरों' का कुल वजन साढ़े चौहत्तर मन ठहरा।

राजपूत महिलाओं के करुण क्रंदन के बीच मुगल सेनाओं के घेरे में जाता हुआ डोला आज भी निगाहों के सामने घुमता है। सुकून मिलता है तो महाराणा की चुनौतियों में और युद्ध मैदान में लहराती उनकी तलवार में। हल्दीघाटी की पहाड़ी पर निर्द्वंद, बेपरवाह, शूरवीर महाराणा प्रताप के नेतृत्व में युद्ध में उनके साथ थे बापाराल, राणा कुंभा, राणा सांगा जिनका इतिहास व जयमल और पट्टा की शहादत थी। राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा के इस युद्ध में 18 जून, 1576 को अपराहन् तक चौदह हजार राजपूत भील और मीणा मारे गए थे। इसमें झाला सरदार के बलिदान की अमर कहानी के साथ-साथ महाराणा की ओर से अग्रिम पंक्तियों में हाकिम खानसूर भी अपने लाव-लश्कर के साथ से। इस युद्ध भूमि में असंख्य बहादुरों ने जो खून बहाया उसमें सवा सेर का पत्थर भी बह गया।

राजस्थान की इसी शौर्य भूमि से कुछ दूरी पर स्थित जिला मुख्यालय राजसमंद के गाँधी सेवा सदन के प्रांगण में विगत 12 जून से 15 जून 2007 तक अहिंसा समवाय की राष्ट्रीय कार्यशाला का आयोजन हुआ। अखिल भारतीय अणुव्रत महासमिति के अध्यक्ष डॉ० महेन्द्र कर्णावट का यह कर्मक्षेत्र है जहाँ 26 नवम्बर 1952 ई. में स्थापित गाँधी सेवा सदन का विगत 55 वर्षों में वर्तमान स्वरूप श्रद्धा, शुद्ध संकल्प एवं पुरुषार्थ का प्रसाद है और इसके मूल में हैं डॉ० महेन्द्र कर्णावट के पिताश्री संस्थापक श्री देवेन्द्र कुमार कर्णावट की श्रम साध्यता एवं दूरदर्शिता इस सदन के द्वारा राजसमंद क्षेत्र में बालवाड़ी, नवजीवन

केंद्र, बाल निकेतन, उद्योग प्रशिक्षण केंद्र, प्रौढ़ शिक्षा, ग्रामीण स्वरोजगार योजना, प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च विद्यालय तथा नारी जागरण जैसी अनेक प्रवृत्तियाँ संचालित की जा रही हैं।

अणुव्रत महासमिति के होने के नाते डॉ० कर्णावट ने राजसमंद जाने-आने का आरक्षण टिकट मेरे तथा मेरे सहयोगी उदय कुमार 'राज़' के लिए अणुव्रत भवन भेज रखा था। सो विगत 11 जून 2007 को संध्या 7 बजे मेवाड़ एक्सप्रेस से दिल्ली के हजरत निजामुद्धीन स्टेशन के लिए मैं प्रस्थान किया। साथ में थे मेरे सहयोगी तथा अहिंसा समवाय से जुड़े उदय कुमार 'राज़' जी। स्टेशन पर डॉ० वी०एन० पाण्डेय सहित बाबू लाल गोल्छा, भारद्वाज, सत्यपाल धामा तथा कौशिक जी के साथ भारत गो सेवक समाज के उपाध्यक्ष सुखवीर सिंह सैनी तथा उनके पाँच-छह सहयोगी भी राजसमंद की कार्यशाला में भाग लेने जा रहे थे। इस तरह इन सभी अहिंसा समवाय से जुड़े साथियों-शुभेच्छुओं के साथ पता ही नहीं चला कि हम सब कब मावली जंक्सन अहले सुबह पहुँच गए, जहाँ राजसमंद से गाँधी सेवा सदन की गाड़ी राजसमंद ले जाने के लिए इंतजार कर रही थी। गोल्छा जी के सौजन्य से स्टेशन के बाहर हम सब एक-एक प्याली चाय की चुस्की लेने के बाद राजसमंद के लिए रवाना हुए और वहाँ पहुँचते ही अस्सी लाख रुपए की लागत से नवनिर्मित आचार्य श्री महाप्रज्ञ भवन में हमलोगों के लिए आवास की व्यवस्था कर दी गई। स्नानादि से निवृत्त होते ही जलपान के बाद अहिंसा समवाय की राष्ट्रीय कार्यशाला का उद्घाटन सत्र प्रारंभ हुआ।

बाल पीढ़ी द्वारा अणुव्रत गीत से प्रारंभ इस उद्घाटन सत्र में अहिंसात्मक अभियान में संस्थागत उत्तरदायित्व विषय पर अणुविभा के राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. सोहन लाल गाँधी, शरद कुमार साधक, डॉ. मदन डांगी ने अपने विचार प्रस्तुत किए। डॉ. महेन्द्र कर्णावट के संयोजकत्व में इस सत्र की अध्यक्षता बाल विजय जी ने की, फिर डॉ. हीरालाल श्रीमाली के संयोजकत्व में संपन्न द्वितीय सत्र में अहिंसा प्रशिक्षण पर चर्चा होने के पश्चात् कार्यशाला में भाग लेने वालों ने राजसमंद झील का आनंद उठाया जिसे नौचोकी भ्रमण का नाम दिया गया। फिर दूसरे दिन यानी 13 जून को अहले सुबह उसी हल्दी घाटी का भ्रमण हुआ जो महाराणा प्रताप एवं बादशाह अकबर की सेनाओं के मध्य सन 1576 में हुए युद्ध के लिए भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। यह स्थल उदयपुर से 45 कि. मी उत्तर तथा नाथ द्वारा से 16 कि.मी. पश्चिम दक्षिण स्थित हैं। स्वतंत्रता के इस युद्ध में जाति-प्रांति का भेद भुलाकर सभी धर्म, जाति के व्यक्तियों ने राष्ट्रहित में बलिदान दिया। आखिर तभी तो हल्दी साह रंग की मिट्टी की यह हल्दीघाटी की मिट्टी से 'तिलक करो ये धरती है बलिदान की' कहावत चरितार्थ होती है। यह वही स्थान है जो हमें याद दिलाता है अपने कर्म की ओर झुकने वाला वीर झाला मन्ना का देशाभिमान और याद आती है हमारे पूर्वजों की देशभक्ति की जिन्होंने योग्य समझ महाराणा प्रताप को मेवाड़ का शासक बनाया और मरते दम तक उन सामंतों ने हमारे ताज के रक्षार्थ प्रताप की रक्षा की। यह वही स्थान है जहाँ चेतक एक पैर के टूट जाने के बाद भी अपने तीन टांगों से युद्ध स्थान से स्वामी महाराणा प्रताप की रक्षा के लिए जब शाही बाग एवं हल्दीघाटी होता हुआ जा रहा था, तो रास्ते में 80 फिट चौड़े नाले को जिसने एक छलांग से पारकर प्रताप को सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया। किंतु वह आगे चल न सका और तभी नाले के उस पार से पीछा करते हुए मुगल सैनिक आ धमके। इतने में ही पीछे से शक्ति अपने घोड़े नाटक पर आ गया और दोनों मुगलों को मौत की घाट उतार अपने भाई प्रताप को नाटक घोड़ा देकर शक्ति पुन:शाही खेमे में पहुँचा। चेतक इतना घायल हो चुका था कि वह बच न सका।

अपनी वफादारी और स्वामीभक्ति के रूप में आदर्श उपस्थित करने वाले इस चेतक के स्मारक को हमलोगों ने देखा जिसके पास ही शिवजी का मंदिर है। इस स्मारक को देखने पर अकस्मात् हमारे मानस-पटल पर उस चेतक की महानता रेखांकित हो आई जिसने हल्दीघाटी के

युद्ध में तीन टांग से न केवल युद्ध किया, बल्कि राणा प्रताप और शिशोदिया वंश के सूर्य के जीवन की रक्षा कर जग में चमकाया, वह अवूव जिसने युद्ध स्थल से हटकर राणा प्रताप की जान बचाई और बिछुड़े हुए दो भाइयों के हृदय को बदलकर उन्हें मिलाया। इसी के साथ महाराणा प्रताप संग्राहालय, जो यात्रियों के लिए आकर्षण का केंद्र है को देखने का अवसर मिला। इस दर्शनीय स्थल के योजनाकार, कल्पनाकार एवं क्रियान्वित करने वाले संस्थापक है बलीचा गाँव के निवासी मोहन लाल श्रीमाली जिन्होंने अपने स्तर पर श्रम एवं श्रद्धा भाव से संग्रहालय बनाया। अणुव्रत धर्म शिक्षक संसद के राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ० हीरालाल श्रीमाली इस भ्रमण में हमलोगों का मार्गदर्शन कर रहे थे।

हल्दीघाटी से वापस राजसमंद आने के बाद प्रथम सत्र में अहिंसा समवाय पर विस्तार से चर्चा हुई। कमल टावरी की अध्यक्षता में संपन्न इस कार्यशाला में अहिंसा समवाय के संयोजक की हैसियत से मैंने अहिंसा समवाय की आवश्यकता पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए हिंसक प्रवृत्तियों पर काबू पाने के लिए साझा प्रयास की जरूरत का अहसास प्रतिनिधियों को कराया फिर डॉ. ओमानंद सरस्वती की अध्यक्षता में आयोजित द्वितीय सत्र में समाज, शासन और हिंसा पर विस्तार से चर्चा हुई जिसमें प्राचार्य डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम' ने विषय पर गहराई में जाकर लोगों को रोशन प्रदान की। तीसरे दिन यानी 14 जून के प्रथम सत्र में पूर्णचंद बडाला तथा जी.एल.नाहर ने अपने विद्वतापूर्ण भाषण में अणुव्रत आंदोलन के संगठन पक्ष को सामने रखा और इस सत्र की अध्यक्षता सुखवीर सिंह सैनी ने की। फिर द्वितीय सत्र में 'अणुव्रत आंदोलन की नई दिशाएँ' पर एक आलेख नियाज बेग मिर्जा ने प्रस्तुत किया। इसका समापन नारायण बैरबाके राजस्थान लोकगीतों की पंक्तियों हुआ फिर संध्या समय पहाड़ पर स्थित अणुविभा द्वारा बालकों में अहिंसा चेतना जाग्रत करने के लिए किए जा रहे प्रयासों की एक झलक देखने के बाद उनके सौजन्य से हम सभी प्रतिनिधियों ने भोजन किया। इसके पूर्व अणुविभा के सभागार में 'हम बच्चों को कैसा भविष्य दें' विषय पर एक विचार संगोष्ठी हुई।

15 जून, 2007 को सुबह सात बजे बस द्वारा हम सभी प्रतिनिधियों ने झीलों का शहर उदयपुर पहुँचकर आचार्य श्री महाप्रज्ञ से मुलाकात की और उनका मार्गदर्शन प्राप्त किया। उन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर दिल्ली में अहिंसा समवाय मंच के बैनर तले सभी समान धर्मी संस्थाओं द्वारा साझा कार्य संस्कृति विकसित करने का आह्वान किया। फिर भोजनोपरांत उदयपुर स्थित सहेलियों की बाड़ी सहित उदयपुर के झीलों को देखा और उस सुंदर झील को भी देखा जिसके बीच राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री मोहन लाल सुखाड़िया ने एक अतिसुंदर और मनमोहन नेहरू पार्क बनाया हैं। मोटरवोट का आनंद उठानेवालों में बाबूलाल गोल्छा, डॉ.वी.एन.पाण्डेय, उदय कुमार 'राज' धामा साहब, भारद्वाज जी तथा कौशिक जी थे। उसी दिन यानी 15 जून 2007 की संध्या 6.35 बजे मेवाड़ एक्सप्रेस से हम दिल्ली के प्रतिनिधिगण 16 जून 2007 को सात बजे सुबह पहुँच गए और पूर्व की भाँति अपने-अपने कार्यों के साथ ही अहिंसा समवाय के संकल्प को साकार रूप देने हेतु प्रयत्नशील हो गए और हम लिखने बैठ गए उन शहीदों के मार्ग पर फूल चढ़ाने के लिए, जिन्होंने हल्दीघाटी को महत्त्वपूर्ण बना दिया।

संपर्क : अणुव्रत भवन
सदस्य, रा०कार्य., अणुव्रत महासमिति
210, दीन दयाल उपाध्याय मार्ग,
नई दिल्ली- 110002

हिंदी सम्मेलन

भारत में प्रशासनिक भाषा हिंदी कब होगी?

भारत में जन्म, लेने वाले भारतवासी, भारत का जल, अन्न आदि से पले हैं। जन्म से माता से मधुर शब्द सीख लेते हैं। आगे बढ़ते-बढ़ते जन संपर्क के वातावरण में दूसरी भाषा कोई भी हो, सीख लेते हैं। पूज्य महात्मा गाँधी के पूर्व कई-नेता लोग सरल, सुंदर, मधुर भाषा हिंदी को अपनाया था। वहीं भाषा को गाँधी ने पूरे देश में घूम कर हिंदी ही एक ऐसी भाषा है, आसानी से सीखकर व्यवहार में ला सकते, स्वतंत्र-भारत में एक भाषा की जरूरत महसूस होने पर हिंदी को ही राष्ट्रभाषा-राजभाषा का दर्जा दी गई। तब देश में एक आँदोलन चला हिंदी सीखना चाहिए। गली-गली में हिंदी सीखने की खुशी पनपने लगी। दूर तक पैदल जाकर हिंदी सीखने लगे। संविधान में हिंदी को स्थान दिया गया, नागरी लिपि में लिखी हिंदी को स्वीकार किया गया। परंतु प्रशासन में लागू करने के लिए पंद्रह साल समय जो दिया गया वह गलत ठहरा। आज तक कोई प्रधान सचिव या प्रधान नेता, इस ओर ध्यान नहीं दिया। अगर संविधान में एक शर्त रखते कि देश की जनता हिंदी सीखें तो नौकरी मिलेगी लेकिन किसी ने उस पर ध्यान नहीं दिया। आजतक देश के लिए एक भाषा का प्रश्न वैसे हीं रह गई। कौन भारत का लाल इस ओर ध्यान देकर प्रशासनिक भाषा हिंदी बनाएँगे। कब तक इंतजार करें!!

संपर्क : शांताबाई भास्कर सिरसाट
178, चौथा मुख्यरास्ता,
चामराजपेट, बेंगलूर।

साधारण से असाधारण तक का सफर

संयुक्त राष्ट्र संघ में आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन 13-15 जुलाई 2007 को आयोजित किया गया जिसमें भारत सहित विश्व के लगभग एक हजार से अधिक हिंदी जगत से जुड़े साहित्यकारों, पत्रकारों लेखकों इत्यादि ने प्रतिनिधित्व किया। भारत के विभिन्न प्रांतों के ही 800 प्रतिनिधि थे। इन्हीं लेखकों में एक साधारण लेखक को असाधारण बनने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ। जब बिहार सरकार ने बिना किसी पैरवी के दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' के यशस्वी संपादक एवं 'राष्ट्रीय विचार मंच' के राष्ट्रीय महासचिव श्री सिद्धेश्वर को एक प्रतिनिधि के रूप में सम्मेलन में भेज़ने का निर्णय लिया। इसकी सूचना उन्हें उनके दिल्ली निवास पर मिली कि वो पासपोर्ट इत्यादी की औपचारिकताएं पूरी कर 12 जुलाई को न्यूयॉर्क के लिए अन्य प्रतिनिधियों के साथ प्रस्थान करें। उन्हें लगा कि कहीं यह मज़ाक़ तो नहीं कारण उन जैसे साधारण लेखक को रातों-रात भला कैसे असाधारण बना दिया गया। परन्तु यह दिवा स्वप्न नहीं बल्कि हक़ीक़त था क्योंकि अन्य लोगों (प्रतिनिधियों) ने इसकी पुष्टि की। श्री सिद्धेश्वर के मानसपटल पर गीता की वह पंक्ति उभर गई जिसमें कृष्ण ने कहा था 'कर्म किए जा फल की इच्छा मत कर'। उन्होंने जो हिंदी साहित्य की अनवरत सेवा की और लेखन को ही अपनी जिंदगी का मूल उद्देश्य बना लिया जिसके लिए उन्हें बहुत ही कंटीली और पथरीली डगर से होकर गुजरना पड़ा परन्तु वो हताश नहीं हुए और लेखनी को कभी विराम नहीं दिया। आज उसी का प्रतिफल था कि उन्हें विश्व हिंदी सम्मेलन में बिहार राज्य से एक प्रतिनिधि के रूप में विश्व हिंदी सम्मेलन में भाग लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ। यूं तो बिहार सरकार की ओर से सात प्रतिनिधियों ने भाग लिया परन्तु बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री सिद्धेश्वर को ही केवल शैक्षिक सत्र में 'वैश्वीकरण, मीडिया और हिंदी' विषय पर अपने सारगर्भित एवं विचारोत्तेजक आलेख प्रस्तुत करने का अवसर प्राप्त हुआ। यही नहीं बल्कि हिंदी के प्रचार-प्रसार को लेकर हुई परिचर्चा में भी भाग लेकर अपनी उपस्थिति दर्ज करायी। यह था साधारण से असाधारण बनने का सफर।

अपनी असाधारण प्रतिभा को विश्व हिंदी सम्मेलन में मुखरित एवं प्रतिपादित कर श्री सिद्धेश्वर 17 जुलाई 2007 के दिल्ली सकुशल वापस लौटने पर एस-107, स्कूल ब्लाक, शकरपुर, दिल्ली-92 स्थित 'विचार दृष्टि' के कार्यालय में 'पटेल फाउण्डेशन एवं निषाद समाज' के सम्मिलित तत्वावधान में उनका स्वागत समारोह आयोजित किया गया, जिसकी अध्यक्षता राजधानी कॉलेज के पूर्व प्रवक्ता लेखक एवं ग़ज़लकार डॉ. धर्मेन्द्र नाथ 'अमन' ने की। उपयुर्क्त संस्था के पदाधिकारियों, सदस्यों, पत्रकारों इत्यादि ने श्री सिद्धेश्वर को बधाई दी एवं अपने विचार रखे। प्रो. प्रेम झा 'प्रेम' ने कहा कि यह हमारे लिए गर्व की बात है कि श्री सिद्धेश्वर को प्रतिनिधि के रूप में भेजकर बिहार सरकार ने एक उत्कृष्ट कार्य किया है। विश्व हिंदी सम्मेलन में अपनी योग्यता एवं विलक्षण प्रतिभा के बल पर श्री सिद्धेश्वर ने यह सिद्ध कर दिया कि एक साधारण व्यक्ति भी असाधारण बन सकता है, यदि निष्ठा एवं लगन से अपना कार्य करता रहे। पटेल फाउंडेशन के उपाध्यक्ष श्री मिथिलेश कुमार ने कहा—श्री सिद्धेश्वर का प्रतिनिधि के रूप में अमेरिका जाने से हमारे समाज की प्रतिष्ठा बढ़ी है और आने वाली पीढ़ी इनसे प्रेरणा लेगी कि परिश्रम का फल सदा मिलता है यदि व्यक्ति समर्पित भाव से अपना कर्तव्य निभाता रहे।

स्वागत समारोह में 'विचार मंच' एवं पटेल फाउन्डेशन के वक्ताओं में प्रमुख वक्ता प्रो. मनीष कुमार, रविशंकर क्षेत्रिय, आशीष पांडेय, रंजन पांडेय, अनिल कुमार प्रमुख थे। श्री सतेन्द्र सिंह ने शाल ओढ़ाकर श्री सिद्धेश्वर को सम्मानित किया तथा श्री अरविंद कुमार ने फूलों के बुके भेंट कर उनका स्वागत किया। स्वागतोपरांत सभी लोगों ने श्री सिद्धेश्वर से अनुरोध किया कि वो विश्व हिंदी सम्मेलन की यात्रा-वृतांत, क्रिया-कलापों एवं अपने अनुभवों का रस-पान उपस्थित सदस्यों कराएं। श्री सिद्धेश्वर ने वहाँ की गतिविधियों एवं रोचक प्रसंगो को सुनाकर लोगों को मंत्रमुग्ध कर दिया। ऐसे में लगभग एक घंटे का समय कैसे बीता पता ही नहीं चला। अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ. धर्मेन्द्र नाथ 'अमन' ने कहा कि सिद्धेश्वर जी कलम के सिपाही हैं और उनके साहित्य साधना एवं लेखन ने ही संभवतः बिहार सरकार को यह सोचने पर मजबूर कर दिया होगा कि यदि ऐसे समर्पित साहित्य सेवक को प्रतिनिधि के रुप में नहीं भेजा गया तो उनके साथ अन्याय होगा। कारण इन्होंने अपने लिए कभी कोई याचना नहीं की और स्वाभिमान के साथ अपने कर्तव्य का पालन किया है। मैं इनका हार्दिक अभिनंदन करता हूँ और भविष्य में भी भारतवर्ष का नाम रौशन करते रहें यही मेरी शुभकामना है।

स्वागत समारोह का सफल संचालन 'राष्ट्रीय विचार मंच' दिल्ली के महासचिव एवं 'विचार दृष्टि' के सहायक संपादक उदय कुमार 'राज़' ने किया एवं अपने शेर-ओ-शायरी से समारोह को यादगार एवं जीवंत बनाया।

श्री मिथिलेश कुमार के धन्यवाद ज्ञापन के उपरांत समारोह संपन्न हुआ।

प्रस्तुति : प्रो. पी.के. झा 'प्रेम', दिल्ली

हिंदी की संयुक्त राष्ट्र की भाषा बनने की संभावना

विदेश मंत्रालय द्वारा भारतीय विद्या भवन, न्यूयॉर्क के सहयोग से विदेश 13-15 जुलाई 2007 तक न्यूयॉर्क (अमेरिका) में आयोजित आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन का केंद्रीय विषय था कि हिंदी को संयुक्त राष्ट्रों की भाषा सूची में कैसे सम्मिलित किया जाए। इसके लिए भारतीय प्रतिनिधि मंडल का नेतृत्व कर रहे विदेश राज्य मंत्री श्री आनंद शर्मा ने उद्घाटन संत्र में संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय के सभागार में घोषणा की भारत सरकार सभी समर्थक देशों से संपर्क स्थापित कर एक सघन अभियान चलाएगी। इस सम्मेलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह मानी जाएगी कि संयुक्त राष्ट्र के महासचिव श्री बान की मून ने हिंदी में संबोधित कर भारत के साथ अपने पारिवारिक संबंधों की चर्चा की। ये उदगार हैं बिहार सरकार की ओर से आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में भोग लेकर पटना लौटे विचार दृष्टि 'के संपादक श्री सिद्धेश्वर के जिसे राष्ट्रीय विचार मंच की बिहार शाखा की ओर से सोन भवन के सभागार में विगत 5 अगस्त को आयोजित 'आँखों देखा हाल' कार्यक्रम में उन्होंने व्यक्त किए।

कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे श्री राम उपदेश सिंह 'विदेह' जो स्वयं भी भारतीय प्रतिनिधि मंडल में शामिल थे ने कहा कि विश्व में आज सबसे अधिक लोगों के द्वारा बोली और समझी जाने वाली राष्ट्रभाषा हिंदी अब संयुक्त राष्ट्र की अन्य छह स्वीकृत भाषाओं के साथ मान्यता प्राप्त करने में समर्थ है, किंतु सभी भाषाओं में अनुवाद आदि कार्यों को संपन्न कराने हेतु भारत सरकार को तकरीबन एक सौ करोड़ रुपए की विशाल धनराशि संयुक्त राष्ट्र को उपलब्ध करानी होगी तथा 192 देशों की महासभा के बहुमत देशों से समर्थन पाना होगा।

कार्यक्रम के मुख्य वक्ता श्री सिद्धेश्वर ने कहा कि संयुक्त राष्ट्र के सभागार में प्रतिनिधियों द्वारा जहाँ अलग-अलग समूह में तस्वीर खिंचवाने की होड़ लगी थी, वहीं संयुक्त राष्ट्र परिसर के आगे लगे एक प्रसिद्ध मूर्तिशिल्प के समक्ष लोग फोटो खिचवा रहे थे। मूर्तिशिल्प एक पिस्तौल की थी जिसकी नाल में गांठ लगी थी जिससे इस बात का संकेत मिल रहा था कि हिंसा अब नहीं चाहिए। सिद्धेश्वर ने इस बात का खुलासा किया कि भारत के संसद तथा केंद्र सरकार के मंत्रालयों एवं विभागों में हिंदी की बदहाली देखकर ही आयोजकों के मन में, यह ख्याल आया होगा कि सात समुंदर पार विदेशों में हिंदी सम्मेलन आयोजित करने से शायद स्वदेश में हिंदी की दशा सुधर जाए सम्मेलन का आठवाँ पड़ाव न्यूयॉर्क में इस बार इसी आशा के साथ पहुँचा कि हिंदी यदि, परदेश में सम्मानित होगी, तो देश में भी लोगों के दिलों में हिंदी का खोया स्वाभिमान जाग उठेगा। मगर भारतीय प्रतिनिधियों को जब मैंने आपस में भी अँग्रेजी में बातचीत करते देखा-सुना, तो इन सारी आशाओं पर पानी फिरता नजर आया दरअसल सरकारी खर्चे पर दुनिया के कल्पना-लोक की उड़ान प्राप्त करना ही ऐसे सम्मेलनों में प्रतिनिधियों की भागीदारी को विशेष बना देता है और जिन लोगों ने जुगाड़-तुगाड़, सिफारिश और ऊँची पैरवी पहुँच के दम पर यात्र का टिकट पा लिया वे उद्देश्यों को भूल गए और उद्घटन सत्र के बद ही भारतीय प्रतिनिधि न्यूयॉर्क और उसके अस-पास के दर्शनीय स्थलों में हिंदी का भविष्य तलाशने निकल गए। सच तो यह है कि कला और साहित्य में पनप रही राजनीति का ही यह परिणाम है। आखिर तभी तो आजादी के साठ साल बाद भी भरत में हिंदी दिवस, हिंदी सप्ताह मनाने की पीड़ादायी आवश्यकता महसूस की जा रही है। अपने मिथ्याभिमान और अँग्रेजियत मानसिकता के कारण हम भारत के लोग यह भूल गए कि जब हम ही अपनी भाषा का तिरस्कार करेंगे तो गैर उसे कहाँ तक सम्मान दे पाएँगे। प्रारंभ में श्री रघुवंश कुमार सिन्हा ने अतिथियों का स्वागत किया तथा संयोजक श्री लालदास पासवान ने आभार व्यक्त किया। कार्यक्रम का संचालन डॉ. शाहिद जमील ने किया।

–डॉ. शाहिद जमील

'एक स्वप्नद्रष्टा की अंतर्कथा' का लोकार्पण

ऐसे समय में जब हम भारतवासी 1857 के स्वतंत्रता संग्राम की 150वीं और अपनी आजादी की 60 वीं वर्षगांठ पर जश्न मना रहे हैं स्वतंत्रता सेनानी डॉ० मोहन सिंह के जीवन के पूरे आयाम पर 'विचार दृष्टि' के संपादक श्री सिद्धेश्वर की लिखी पुस्तक 'एक स्वप्नद्रष्टा की अंतर्कथा' की प्रासंगिकता बढ़ गई है। 1857 की राष्ट्रीय लहर में भारतीय जनता ने वीरतापूर्वक जिस संघर्ष को अंजाम दिया। उन्हें हम आधुनिक भारत तथा गाँधी जी के आह्वान पर राष्ट्रीय आंदोलन के उद्भव और विकास से जोड़कर देखते हैं। डॉ० मोहन सिंह ने इसी आंदोलन में अपनी सक्रिय भूमिका निभाकर बिहार की गरिमा बढ़ाई जिसकी विस्तार से चर्चा श्री सिद्धेश्वर जी ने लोकार्पित पुस्तक में की हैं आज हमारे देश की स्थिति यह है कि यह अन्य देशों के मुकाबले पीछे है। कोई देश हित के लिए आगे आना नहीं चाहता बस समाज में फैली अवस्थाओं पर लोग अपनी प्रतिक्रिया जाहिर कर पल्ला झाड़ने में लगे रहते हैं। ये उद्गार हैं त्रिपुरा के पूर्व राज्यपाल प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद के जिसे उन्होंने आज स्थानीय आई.एम.ए. हॉल में राष्ट्रीय विचार मंच, बिहार द्वारा आयोजित 'एक स्वप्न द्रष्टा की अंतर्कथा' के लोकार्पण समारोह में व्यक्त किए।

इस अवसर पर अपने विचार व्यक्त करते हुए मुख्य अतिथि डॉ० राम पाल सिंह, कुलपति, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय ने कहा कि सिद्धेश्वर ने डॉ० मोहन सिंह सरीखे आजादी के दीवाने पर पुस्तक की रचना कर बड़ा ही श्रेयष्कर काम किया है। पटना उच्च न्यायालय के वरिष्ठ अधिवक्ता डॉ० उमाशंकर प्रसाद ने मुख्य वक्ता के पद से अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि और स्वतंत्रता सेनानियों की तरह डॉ० मोहन सिंह ने भी एक सुनहला सपना देखा था कि आजादी के बाद भारत का सब कुछ अपना होगा और हमारे लिए होगा, मगर उन सपनों में से कुछ ही पूरे हुए और ज्यादातर अधूरे और टूटे-फूटे हैं, क्योंकि आजादी के 60 साल बाद भी आम आदमी को पीने के पानी तक उपलब्ध नहीं हैं।

भारतीय सेना के पूर्व वरिष्ठ अधिकारी कर्नल एस०एस० राय ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि महात्मा गाँधी ने हर आँख से आँसू पोछने का वचन दिया था और नेहरू ने निर्धनता, अज्ञानता, रोग और अवसर की असमानता के उन्मूलन का संकल्प लिया था, मगर आजादी के 60 साल बाद भी आज स्थिति यह है कि आम आदमी के लिए बनी योजनाओं का लाभ चंद चालाक, धूर्त और भ्रष्ट लोग उठा ले जाते हैं जिनसे निश्चित रूप से डॉ० मोहन सिंह जैसे स्वतंत्रता सेनानियों के सपने आहत होते हैं।

अपने लेखकीय वक्तव्य में विचार दृष्टि के संपादक श्री सिद्धेश्वर ने कहा कि डॉ. मोहन सिंह हमारे प्रेरणा के स्रोत थे और सामाजिक सोच एक जैसी थी। वे सामाजिक चेतना और स्वाधीनता पूर्व दर्द के द्रष्टा ही नहीं, भोक्ता भी थे। श्री सिद्धेश्वर ने आज हर आदमी के आत्म केंद्रीत होते जाने तथा साधन-संपन्न एवं सक्षम तबके के लोगों में देश के विपन्न और असहाय लोगों के प्रति संवेदनाएं खत्म होते जाने पर चिंता व्यक्त की।

इस अवसर पर पटना विश्व विद्यालय के पूर्व कुलपति डॉ.एस.एन.पी. सिन्हा, पूर्व विधान पार्षद उपेन्द्र सिंह, ललित नारायण मिश्र मिथिला विश्व विद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो० राजमणी प्र० सिन्हा कविवर सत्यनारायण, डॉ. वसंत कुमार सिन्हा आचार्य संजय सरस्वती, डॉ. सी. पी. साह, त्रिपुरारी प्र. सिंह, डॉ. एस.एन. पी. सिंह। तथा सुप्रसिद्ध चिकित्सक डॉ. एस.एन.आर्य ने भी डॉ. मोहन सिंह के प्रति सम्मान निवेदित करते हुए आजादी के लिए किए गए उनके उल्लेखनीय योगदान की चर्चा की। इस अवसर पर 95 वर्षीय स्वतंत्रता सेनानी श्री झोपड़ी पासवान तथा लोकार्पित पुस्तक के लेखक को शॉल आदि से सम्मानित किया गया। मंच के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष प्रो० साधुशरण ने पुस्तक परिचय प्रस्तुत करने के क्रम में कहा कि सिद्धेश्वर जी ने इस पुस्तक में अपने अनुभव को स्मृति और स्मृति को संवेदना में बदलने की कोशिश की हैं। प्रारंभ में मंच के उपाध्यक्ष डॉ. एस.एफ. रब ने मान्य अतिथियों का स्वागत किया और प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद ने दीप प्रज्ज्वलित कर समारोह का उद्घाटन किया। मंच का संचालन जहाँ महासचिव डॉ. शाहिद जमील ने किया, वहीं डॉ. सत्येन्द्र नारायण सिंह ने आगत अतिथियों के प्रति आभार व्यक्त किया।

–शिव कुमार
पटना स

पटना में शिक्षक दिवस समारोह

विगत 5 सितम्बर 2007 को पटना के मीठापुर स्थित विवेकानंद मध्य उच्च विद्यालय में डॉ. एस. राधाकृष्णन के जन्म दिवस के अवसर पर शिक्षक दिवस समारोह में मुख्य अतिथि तथा बिहार के पूर्व मुख्य

सचिव के.के. श्रीवास्तव ने कहा कि इतिहास शिक्षकों के त्याग, समर्पण और सेवा से बना है। समारोह के अध्यक्ष तथा विचारदृष्टि के संपादक सिद्धेश्वर ने शिक्षकों के प्रति घटते सम्मान की भावना पर चिंता व्यक्त करते हुए स्व. रीता की स्मृति को नमन किया। इस अवसर पर प्रो. साधुशरण सिंह सुमन, सुमन कुमारी ने भी अपने विचार व्यक्त किए। प्रारंभ में विद्यालय के सचिव रामनारायण प्रसाद सिंह ने स्वागत तथा लालदास पासवान ने धन्यवाद ज्ञापन किया

इसी प्रकार मीठापुर स्थित दयानंद विद्यालय के प्रागण में एस.आर. विद्यापीठ की ओर से आयोजित शिक्षक दिवस समारोह में एक रंगारंग सांस्कृतिक कार्यक्रम हुआ। जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की समारोह के विशिष्ठ अतिथि तथा विश्व बुद्ध परिषद के महासचिव राम अवतार वातस्यायन तथा 'विचार दृष्टि' के संपादक सिद्धेश्वर ने। प्रारंभ में श्री मित्र ने स्वागत किया।

अमिती इंटरनेशनल स्कूल में दादा दिवस समारोह

विगत 20-21 सितंबर, 2007 को नोएडा के सैक्टर-44 स्थित अमिती इंटरनेशनल स्कूल में आयोजित दादा दिवस समारोह (Grand Parents Day) में स्कूल के तकरीबन 60-70 नर्सरी के छात्र-छात्राओं ने 'Father, I thank you for making me, me' गीत एवं 'A Bit of the old, A bit of the new' सरीखे सुरुचिपूर्ण नृत्य प्रस्तुत कर वातावरण को गुँजायमान बनाया। समापन समारोह को दादाओं की ओर से के.जी. 14 के समीर रंजन के दादा तथा दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' के संपादक ने संबोधित करते हुए कहा कि मौजूदा वक्त की भौतिकवादी आपाधापी और दौड़-धूप की जिंदगी तथा तेजी से टूटते नाते-रिश्ते के दौर में इस ख्याति प्राप्त स्कूल ने दादा दिवस समारोह का आयोजन कर न केवल एक अच्छी परंपरा की शुरुआत की है, बल्कि संयुक्त परिवार के आदर्शों को पुनर्जीवित कर एक बड़ा ही सराहनीय कार्य किया है जिसके लिए स्कूल की प्राचार्य श्रीमती मोहिनी दर सहित सभी शिक्षक-शिक्षिकाओं एवं बच्चों को उन्होंने तहेदिल से धन्यवाद दिया। प्रारंभ में समारोह में उपस्थित सभी अभिभावकों, अतिथियों एवं सुधीजनों का अभिनन्दन करते हुए प्राचार्य श्रीमती दर ने दादाओं को जीवन रूपी उस वृक्ष की जड़ बताया जिससे बच्चे रूपी फल फलते हैं।

उन्होंने सिद्धेश्वर जी को उपहार के रूप में पौधे सहित एक खूबसूरत गमला भेंट कर समर्पित भाव से समाज व राष्ट्र हित में उनके द्वारा की जा रही महत्त्वपूर्ण सेवाओं के लिए उन्हें सम्मानित किया। अंत में धन्यवाद ज्ञापन तथा चाय-नाश्ते के पश्चात सभी कक्षाओं के बच्चों ने अपने द्वारा निर्मित आकर्षक उपहार अपने-अपने दादाओं को भेंट किए। इस प्रकार 21 सितंबर का वह दिवस दादाओं के लिए एक स्मरणीय एवं जीवंत दिवस बन गया।

प्रस्तुति : उषा वर्मा
अमिती इंटरनेशनल स्कूल
सै.-44, नोएडा, उ.प्र.

'विचार दृष्टि' से आजीवन जुड़े स्व. मथुरा प्रसाद की प्रेरणा से
पत्रिका नियमित रुप से दिल्ली से प्रकाशित एवं
लौह पुरुष सरदार पटेल के 132वें जयंती-समारोह पर प्रकाशित
1857 जंगे आजादी विशेषांक-33 के लिए हमारी

हार्दिक शुभकामनाएँ

प्रो. मनोज कुमार

मे. पोपुलर फार्मा

न्यू मार्केट, पटना-1

देवेन्द्र जी कर्णावट : जिनकी लोकप्रियता को कोई दूसरा छू तक नहीं पाया

स्वतंत्रता सेनानी, अणुव्रत पाक्षिक के प्रथम संपादक तथा अणुव्रत महासमिति के संस्थापक 84 वर्षीय देवेन्द्र

कुमार कर्णावट जी का पाँच दिन के संथारे के पश्चात् विगत 7 सितम्बर, 2007 को देहावसान हो गया। उनकी अंतिम यात्रा राजकीय सम्मान के साथ राजस्थान के राजसमंद स्थित 'गांधी सेवा सदन' के प्रांगण से प्रारंभ हुई जिसमें, कहा जाता है कि तकरीबन तीन हजार से अधिक लोगों सहित राजस्थान के जाने-माने राजनेता तथा प्रबुद्धजन शामिल थे।

मेरा यह सौभाग्य रहा कि अणुव्रत महासमिति की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के एक सदस्य होने के नाते मुझे भी अणुव्रत के कई अधिवेशनों में अणुव्रती देवेन्द्र कुमार कर्णावट जी को देखने-सुनने का अनेक बार अवसर मिला। 'विचार दृष्टि' परिवार के सदस्यों को उनके निधन का समाचार सुनकर बड़ा दुःख हुआ। मैं 'विचार दृष्टि' परिवार तथा अपनी ओर से स्व. देवेन्द्र जी कर्णावट को श्रद्धा निवेदित करता हूँ तथा अणुव्रत महासमिति के वर्तमान अध्यक्ष और अणुव्रत पाक्षिक के संपादक डॉ. महेन्द्र कर्णावट जो स्व. देवेन्द्र जी के सुपुत्र हैं, को अपनी संवेदना व्यक्त करता हूँ।

–सिद्धेश्वर

आध्यात्म के आस्था पुरुष कंसल जी का महाप्रयाण

सुप्रसिद्ध गीतकार मधुर शास्त्री जी के गुजर जाने के बाद अभी हम ग़म भी नहीं भुला पाए थे कि जगन्नियंता के क्रूर

हाथों ने मेरे अनन्य मित्र सुरेन्द्र मोहन कंसल को विगत 18 जुलाई, 2007 की रात साढ़े ग्यारह बजे हमसे छीन लिया और वह वहाँ चले गए जहाँ से कोई लौट कर आता नहीं और इस प्रकार अध्यात्म के एक आस्था पुरुष कंसल जी हमसे सदा के लिए विदा हो गए। सत्य साईं बाबा के प्रति आस्था और निष्ठा रखने वाले कंसल जी अपने पीछे अपनी धर्मपत्नी श्रीमती निर्मला और दो पुत्र पंकज एवं पियूष तथा एक सुपुत्री सहित हमारे जैसे अनेक शुभेक्छुओं को छोड़ गये। उनके देहावसान की खबर मुझे 20 जुलाई, 2007 को अहले सुबह तब मिली जब मैं न्यूर्याक से वापस आने के बाद स्कूल ब्लॉक के यमुना किनारे स्थित डी.डी.ए. पार्क में टहल रहा था और उसी दिन उनकी शवयात्रा निकलने को थी। मैं पार्क से ही 'विचार-दृष्टि' के सहायक संपादक उदय कुमार 'राज़' को साथ लेकर चल पड़ा, स्कूल ब्लॉक, शकरपुर, दिल्ली-92 स्थित उनके निवास पर अपनी तथा विचार-दृष्टि' परिवार की ओर से उन्हें श्रद्धा के दो सुमन अर्पित करने तथा शोकसंतप्त परिवार को अपनी संवदेना प्रदान करने। विचार दृष्टि से गहरे रुप में जुड़े होने की वजह से पत्रिका-परिवार के सभी सदस्य कंसल जी के निधन का समाचार सुनकर मर्माहत हुए। कंसल जी को श्रद्धांजलि।

–संपादक

कुर्रतुल ऐन हैदर की दुनिया से विदाई

चाहने वालों के बीच अपने असली नाम की बजाय ऐनी आपा के नाम से ही जानी जाने वाली 'आग का दरिया' की लेखिका कुर्रतुल ऐन हैदर का पिछले

दिनों नोयडा में निधन हो गया। अपनी कालजयी रचना 'आग का दरिया' से पहचान बनाने वाली ऐन आपा अलीगढ़ के नाम मुगल खानदानों में जन्मी और अपनी इस रचना से न केवल उर्दू साहित्य में भूचाल ला दिया था, बल्कि जिसकी नींव पर पांव रखकर दक्षिण एशिया की लेखिकाओं ने जनद्रोही कट्टर पंथ से लोहा ली और धर्मनिरपेक्षता की वह इमारत भी खड़ी हुई, जिस पर सांप्रदायिक शक्तियों के हमले आज भी बार-बार नाकाम हो रहे हैं। चौथी सदी ईसा पूर्व से लेकर 1947 के रक्त रंजित दौर तक को अपनी जद में समेटता यह उपन्यास भारतीय उपमाहाद्वीप की विघटित आत्मा का खाका खींचता है। इसे पढ़कर ही आप जान सकते हैं कि विभाजन से आप क्या खा चुके हैं।

ऐन आपा के इस उपन्यास की तुलना सन् 1943 की इस्मत चुगताई की बहुचर्चित कहानी 'लिहाहु' तथा उनके उपन्यास 'टेढ़ी लकीर' से की जा सकती है जिसके साथ ही उर्दू साहित्यक बने पारंपरिक पुरुष प्रमुख की नींव देख गई थी। या फिर ऐन आपा की रचना 'आग का दरिया' का जोड़ अगर किसी विश्व साहित्य की किसी आधुनिक धरोहर से मिलना हो, तो किसी को गैबिएल गार्सिया मार्खेज के 'वन हंड्रेड ईयर्स ऑफ सॉलीत्यड' के अलावा शायद और कोई नाम नहीं सझेगा। इन योद्धाओं के साथ सुर मिलाते हुए ऐन आपा को 'विचार दृष्टि परिवार की श्रद्धांजलि।'

साभार स्वीकार पुस्तकें एवं पत्रिकाएँ

पुस्तकें :-

1. सागर संध्या-काव्य संग्रह, कवि-मनु सिंह, पटना, प्रकाशक-सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन, दिल्ली-92
2. लोहिया-चरित-मानस (महाकाव्य), कवि-राजभवन सिंह, पटना, प्रकाशक-प्रभा प्रकाशन, त्रिवेणीगंज, सुपौल
3. और कुछ (कहानी संग्रह), कथाकार-डॉ. डी. आर. ब्रह्मचारी, समस्तीपुर, प्रकाशक-मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली
4. और इस तरह ;ललित निबंध, निबंधकार-डॉ. डी. आर. ब्रह्मचारी
5. चेतना का आत्म संघर्ष, हिंदी उत्सव ग्रंथ-2007, संपादक—डॉ. कन्हैयालाल नंदन, प्रकाशक—भा. सां. संबंध परिषद, नई दिल्ली-2
6. विश्व भाषा हिंदी भारत में ही उपेक्षित, लेखक : नृपेन्द्र नाथ गुप्त, पटना
7. विश्व मंच पर हिंदी : नए आयाम, प्रकाशक : विदेश मंत्रालय भारत सरकार, भारतीय विद्या भवन, यू.एस.ए., 305, सेवेन्थ एवेन्यू, 27वीं स्ट्रीट, 17वीं मंजिल, न्यूयार्क, एनवाय-10001
8. एक नजर इधर भी—कथा संग्रह
   और कुछ—कहानी संग्रह
   और इस तरह—निबंध संग्रह
   समय के सामने—काव्य संग्रह,
   सभी के रचयिता : डॉ. डी.आर. ब्रह्मचारी अध यापक—बी.आर.बी. कॉलेज, समस्तीपुर-229008,
   दूरभाष : 06274-225004
   प्रकाशक : मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली-92
9. अंतराल के स्वर—काव्य संग्रह, कवि : डॉ. मणिशंकर प्रसाद, धनेशर घाट, बिहार शरीफ, नालंदा

पत्रिकाएँ-

1. अणुव्रत, जुलाई-सितंबर, संपादक-डॉ. महेन्द्र कर्णावट, अणुव्रत भवन, दिल्ली
2. अलका-मागधी, जुलाई-सितंबर -07, संपादक-डॉ. अभिमन्यु मौर्य, पटना
3. बच्चों का देश, मई-जून-जुलाई 07, संपादक-कल्पना जैन, जयपुर
4. कू.क्ष.जागरण, जून-जुलाई-07, प्र. संपादक-पटेल जे.पी. कनौजिया, कानपुर
5. पाटलिपुत्र एक्सप्रेस, जुलाई-सितंबर, 07, संपादक-जगदीश प्र. सिन्हा 'दयानिधि', पटना
6. रश्मिरथी, संपादक-अरुण कुमार आर्य, सुलतानपुर
7. संकल्य, अप्रैल-जून-07, मुख्य संपादक-प्रो. टी. मोहन सिंह, हैदराबाद
8. चक्रवाक्, जुलाई-सितबर-07, संपादक-निशांतकेतु, दिल्ली
9. विश्वा, जुलाई-07, अमेरिका, संपादक-सुरेन्द्र नाथ तिवारी, प्रिंसटन
10. विश्व हिंदी निर्देशिका-2007, संपादक अजय कुमार गुप्ता, प्रकाशक : श्री पवन कुमार वर्मा, महानिदेशक, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नई दिल्ली-2
11. हिंदी संसार—स्मारिका-2007, संपादक : सुरेश ऋतुपर्ण, प्रकाशक : प्रवासी भारतीय समाज, ए-148, विवेक विहार, दिल्ली-110095
12. प्रवासी संसार — जुलाई-सितम्बर-07, संपादक : राकेश पाण्डेय, 5/23, गीता कालोनी, दिल्ली-110031
13. रामायण संदर्शन—अगस्त-07, संपादक : डॉ. ऋषभदेव शर्मा, सह संपादक : चन्द्र मौलेश्वर प्रसाद, 1-8-28, यशवंत भवन, अलवाल, सिकन्दराबाद-500010 आंध्र प्रदेश
14. मैसूर हिंदी प्रचार परिषद् पत्रिका—अगस्त-07, प्र. संपादक : डॉ. बि. राम संजीवय्या, 58, वेस्ट ऑफ फार्ड रोड, राजाजी नगर, बैंगलूर-10
15. स्मारिका-2006, संपादक : श्री अभिमन्यु प्रसाद सिंह, पटेल फाउण्डेशन, 147, अंसल चेम्बर-2, नई दिल्ली-66
16. भाषा भारती संवाद, प्रधान संपादक : नृपेन्द्र नाथ गुप्त, पटना

1857 की जंगे आजादी : साहित्य संदर्भ ग्रंथ

1. 1857 का ग्रंथ स्वतंत्रता समर - विनायक दामोदर सावरकर प्रकाशकः प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।
2. 1857 के निंदक-डॉ. नी.र.वरहाड पांडे प्रकाशकः बाबा साहब आपटे स्मारक समिति नागपुर
3. मार्क्सवाद और भारतीय इतिहास लेखक-शंकर शरण प्रकाशकः राधा पब्लिकेशन, दिल्ली
4. आँखों देखा गदर-विष्णु भट्ट, गोडसे अनुवादकः अमृत ला नागर, प्रकाशकः राजपाल एंड संस, नई दिल्ली
5. गदर के फूल-अमृत लाल नागर, प्रकाशकः राजपाल एंड संस, नई दिल्ली
6. 1857 का स्वतंत्रता संग्राम-डॉ. कन्हैया सिंह प्रकाशकः चित्रसेन प्रकाशन संस्थान, आजमगढ़
7. स्वाधीनता सेनानी लेखक-पत्रकार- सुश्री आशा रानी वोहरा, प्रकाशनः प्रतिभा प्रतिष्ठान, दिल्ली
8. 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के प्रतिसाद-श्रीधर पराडकर, प्रकाशकः लोकहित प्रकाशन, लखनऊ
9. 1857 में दक्षिण भारत का योगदान- डॉ.वा.द. दिवेकर, प्रकाशकः अ.भा. इतिहास संकलन योजना, नई दिल्ली
10. 1857 की क्रांति और उसके प्रमुख -डॉ. भरत मिश्र, प्रकाशकः राधा प्रकाशन, नई दिल्ली।
11. 1857 का स्वातंत्र्य समरः-सतीशचंद्र मित्तल, प्रकाशकः अ.भा. इतिहास संकलन एक पुनरावलोकन योजना, कुरूक्षेत्र
12. रानी लक्ष्मीबाई - बंदा नन्दलाल वर्मा, प्रकाशकः प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, वाराणसी
13. भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास - ना. वि. कामतवर, प्रकाशकः लोकहित प्रकाशन, लखनऊ
14. नाना साहब देशवा-श्री निवास बालाजी हार्डीकर, प्रकाशकः नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली
15. भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास-मन्मथनाथ गुप्त, प्रकाशकः आत्माराम एंड संस, नई दिल्ली
16. मंगल पाण्डेय-हरिकृष्ण देवसरे, प्रकाशकः ज्ञान गंगा, नई दिल्ली
17. तात्या टोपे-सत्य शवन, प्रकाशकः सूर्य भारती प्रकाशन, नई दिल्ली
18. राजा कुंवर सिंह-मोहन भागवत, प्रकाशक- भारत भारती, नागपुर
19. क्रांतिकारी महिलाएँ-डॉ. मुरारी लाल गोयल, प्रकाशकः भारत भारती, नागपुर
19. क्रांतिकारी महिलाएँ-डॉ. मुरारी लाल गोयल, प्रकाशक-सूर्य भारती प्रकाशन, नई दिल्ली
20. क्रांतिकारियों की गौरवगाथा-राणा प्रताप सिंह, प्रकाशकःलोकहित प्रकाशन, लखनऊ
21. मध्य प्रदेश में आजादी की लड़ाई-सुधीर सक्सेना, और आदिवासी
22. जंग-ए-आजादी में इंदौर-ग्वालियर- -डॉ. शिव वर्मा
23. स्वाधीनता आंदोलन में मध्य प्रांत की-शालिनी सक्सेना महिलाएँ
24. म.प्र. के रणबांकुरे-डॉ. सुरेश मिश्र एवं भगवान दास श्रीवास्तव
25. जंगे-ए-आजादी में जबलपुर- डॉ. प्रतापमान राय

त्रिमूर्ति ज्वेलर्स

बाईपास रोड, चास, बोकारो

झारखंड

दूरभाष : 65765

फैक्स : 65123

परीक्षा

प्रार्थनीय

सुरेश एवं राजीव

त्रिमूर्ति अलंकार

त्रिमूर्ति पैलेस

(रुपक सिनेमा के पूरब)

बाकरगंज,

पटना-800004

दूरभाष : 2662837

आधुनिक आभूषणों के निर्माता, नए डिजाइन, शुद्ध सोने-चाँदी तथा हीरे के गहनों का प्रमुख प्रतिष्ठान

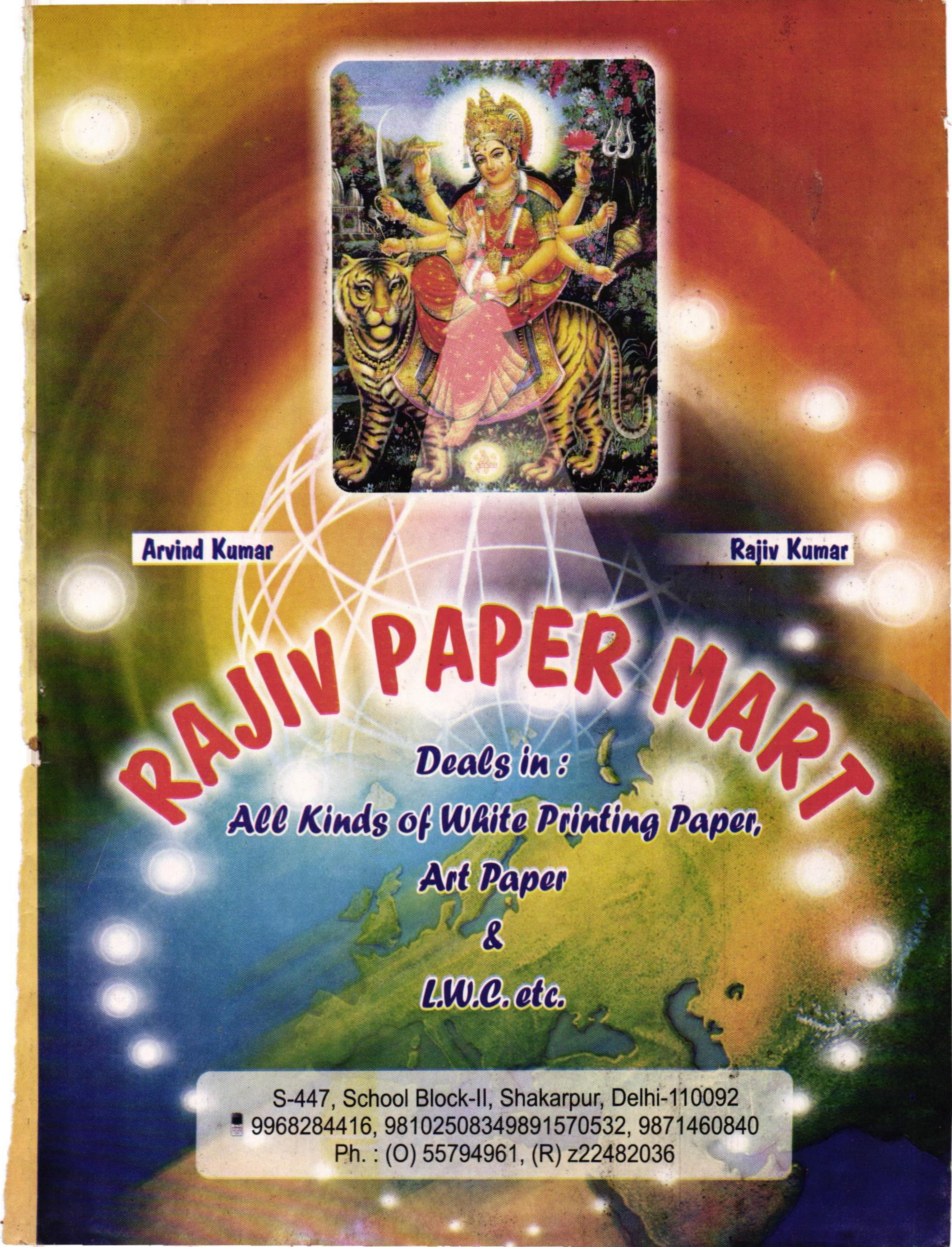
Arvind Kumar
Rajiv Kumar
RAJIV PAPER MART
Deals in :
All Kinds of White Printing Paper,
Art Paper
&
L.W.C. etc.
S-447, School Block-II, Shakarpur, Delhi-110092
9968284416, 98102508349891570532, 9871460840
Ph. : (O) 55794961, (R) z22482036

वर्ष : 9 अंक : 33 अक्टूबर-दिसंबर 2007 RNI REG. NO. : DEL HIN/1999/791

Satender Singh

ICICI Bank
Car Loans

BIHAR MOTOR'S

Buy/Sell New & Used Car On Commission
Basis Spot Delivery Agents Finance

S-513, Vikas Marg, Shakarpur, Delhi-110 092
Mob.: 9811005155 • Ph.: 22482439, 22482686

प्रकाशक, मुद्रक व स्वामी सिद्धेश्वर द्वारा 'दृष्टि', यू-207, विकास मार्ग, शकरपुर, दिल्ली-92 से प्रकाशित एवं प्रोलिफिक इनकारपोरेटिड, एक्स-47, ओखला फेस-2, नई दिल्ली-110020 से मुद्रित। संपादक-सिद्धेश्वर